डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

राजकमल प्रकाशन

मेरे

क्षुब्ध आलोच्यों

को

प्रीतिपूर्वक

समीक्षित साहित्य

प्रस्तुत संग्रह मेरी आलोचनाओं का है। समय-समय पर सावधि उपन्यास, काव्यादि पर 'हंस', 'कल्पना' आदि में जो मेरी समीक्षाएँ प्रकाशित होती रही हैं वे ही यहाँ एकत्र संचयित हैं। इनमें से अनेक ऐसी हैं जिन्होंने हिन्दी के प्रतिष्ठित व्यक्तित्वों को क्षुब्ध किया है, लेखकों-पाठकों के अन्तर को आन्दोलित किया है। मुझे उससे सन्तोष हुआ है।

आलोचना के क्षेत्र में मैं मित्र-शत्रु नहीं मानता। अनेक बार मित्रों और गुरुजनों की कृतियाँ क्षतविक्षत हो गयी हैं, अपरिचितों की प्रशंसित। आलोचक सहृदय होकर भी साहित्यिक भावसत्ता का दण्डधर होता है; यदि महानों की महत्ता ने उसे आतंकित कर दिया, उनकी लघुता उसके दृष्टि-पथ से ओझल हो गयी, अथवा उदीयमानों के प्रति प्रतिष्ठित समीक्षकों की उदासीनता उसकी उपेक्षा का कारण बनी तो समीक्षा का अर्थ असिद्ध हो गया, दण्डधर कर्त्तव्यच्युत हो गया। मेरे सामने व्यक्ति नहीं, सदा उसकी कृति रही है और मेरा आदर्श इस दिशा में मल्लिनाथ की प्रतिज्ञा रही है :

नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते।

इस दृष्टि के परिणाम में अनेक साहित्यकार मेरे शत्रु भी हो गये हैं। पर मेरे मन में कभी उनके प्रति कटुता नहीं आयी। मैंने उनकी शोभन कृतियों का अभिनन्दन किया है, अशोभन का प्रतिवाद किया है। मैं समझता हूँ, साहित्य के मूल्यांकन में चाहे आलोचक सहृदय बना रहे, उसे ख्याति अथवा आयोजित 'प्रोपेगैंडा' का शिकार होने से बचना चाहिए।

मैं जानता हूँ, इस संग्रह से पाठकों के मन में द्विधा प्रतिक्रिया होगी। पर मेरा विश्वास है कि उससे हिन्दी का हित होगा। महनीय की मीमांसा में यदि यह कसौटी स्वल्प मात्रा में भी प्रमाण मानी गयी तो उसपर खिची स्वर्णरेखा को तिमिर में किरण की कौंध मान इष्ट मार्ग पा लूँगा।

—भगवतशरण उपाध्याय

अनुक्रम

१

दिनकर की 'उर्वशी'

उर्वशी को हाथ में लेकर प्रसन्न हुआ। सुंदर, मोटा कागज़, नयनसुख छपाई ने मोहा। टाइटिल पेज की तरफ लौटा कि देखूं इस सज्जा का मूल्य क्या है। देखा, १२ रु०। सोचने लगा कि क्या यूरोप में, अमेरिका तक में यदि टी० एस० इलियट का-सा मेधावी और यशस्वी कवि भी अपना काव्य १२ रु० कीमत में बेचना चाहे तो क्या बेच सकेगा? पर फिर ख़याल आया कि न तो इलियट के पास अपने अतीत के प्रश्नात्मक वैभव की पृष्ठभूमि का घटाटोप है, न उसका अपना प्रकाशन है, न नए स्वतन्त्र हुए राष्ट्र के पार्लियामेंट का वह सदस्य है, न राजधानी में बैठकर वह सूत्र-संचालन ही कर सकता है, और न वह ऐसी भाषा का ही कवि है जिसे राज्य-भाषा का 'स्टेटस' मिला है और जिसके अपरिमित क्षेत्र में कविता रूपी गौ को दुहने के सारे साधन अनेक परिस्थिति-गत विषमताओं के बीच प्रस्तुत हैं। १२ रु० मूल्य हिन्दी के विश्वकोश खण्ड के हैं जिनके प्रत्येक पृष्ठ पर 'उर्वशी' के पृष्ठ का दस गुना मैटर है, जिसका आकर डबल-डिमाई है, पृष्ठों की संख्या पाँच सौ है, जिसमें दो सौ से ऊपर चित्र हैं, जिसके प्रस्तुत करने में देश-विदेश के दो सौ से ऊपर विशेषज्ञों की मेधा एकत्र हुई है, जिसकी कपड़े की मात्र जिल्द पर दो रुपये व्यय हुआ है जिससे वह एकत्रित ज्ञान सुरक्षित रखा जा सके। 'उर्वशी' की जिल्द भी कागज़ की है, जिससे पुस्तक के 'प्रोडक्शन' और उसके विक्रय से उपलब्ध धन के बीच अनुपात भरपूर रखा जा सके।

साधारणतः जैसे हिन्दी की रचनाएँ 'स्वांतःसुखाय' की जाती हैं, शायद यह काव्य-ग्रन्थ भी स्वांतःसुखाय ही लिखा गया है। इस सम्बन्ध में पुस्तक के आरंभ में एक संकेत भी है 'सभी स्वत्व लेखक के अधीन'। ज़ाहिर है कि लेखक प्रकाशक से अभिन्न नहीं, शायद उसका आत्मज ही है। अरविन्द आश्रम की संचारिणी शक्ति 'मां' के पति दर्शन के पंडित और साहित्य के पारखी दिवंगत पाल रिशार ने एक बार बहस के प्रसंग में कहा था कि "आर्ट फ़ार आर्ट्स सेक इज़ इन्डीड

आलोचना की प्रक्रिया में विचार करना होगा। वैसे न केवल काव्य का कलेवर अनेक समर्थ साधनों से सजाया गया है, जो अर्थहीन पर शक्तिमान कवियों को अनुपलब्ध हुआ करता है, वल्कि रचना के साथ ही लोगों के मूल्यांकन के संकेत भी पत्रिकाओं तथा आलोचकों को भेज दिए गए हैं जिससे आलोचना में प्रकाशक के अनुकूल तथ्य प्रस्तुत हो सके। आधुनिक युग के जितने विज्ञाप्य साधन हैं उनका सांगोपांग उपयोग हुआ है। इसका प्रभाव भी पड़ा है, जो कवि के कवि-भिन्न पद का वस्तुतः परिणाम है, कि किसी ने 'उर्वशी' को छायावादोत्तर काल का प्रवलतम काव्य कहा है, किसी ने रामचरितमानस के वाद के 'वायड' को इसे ही भरने वाला माना है। इन दूसरे सज्जन ने इलाहाबाद में हुए लेखकों के एक सम्मेलन में कहा था कि मैं आलोचना अलग से लिखता हूँ पर जब कोई अपनी रचना लेकर आता है तव उसकी प्रशंसा करता हूँ क्योंकि जब कोई मिठाई लेकर मेरे पास आए तो कैसे कह दूँ कि वह मिर्च है? सच है, इस मिठाई के विविध रूप हैं, उसकी वड़ी बिसात है, जिसने एक बार उसी आलोचक को कारणवश 'इन्दुमती' जैसे भौंडे उपन्यास पर होमर के काव्य का साधुवाद करने को वाध्य किया था।

मैं इस पृष्ठभूमि के साथ 'उर्वशी' काव्य की आलोचना करने को उद्यत हुआ हूँ जबकि जानता हूँ कि कवि के सारे शक्तिम साधन मेरे विपक्ष में हैं, और कि महाभारत के अनैतिक कर्णधारों के समक्ष मेरी बिसात शायद मात्र विकर्ण की-सी है। पर विकर्ण की ही आस्था से हिन्दी का सेवक होने के नाते मैं इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अपनी वात कह रहा हूँ जिसे कहने के लिए ही मुझे इतनी लम्बी पर अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य भूमिका देनी पड़ी है।

अन्य काव्यों की ही भाँति 'उर्वशी' के भी तीन पक्ष हैं जिनकी यहाँ चर्चा करना चाहूँगा—रूप, शब्द, तथ्य।

रूप—उर्वशी का रूप सजीला है, हिन्दी के प्रकाशनों में जैसे उर्वशी की ही तरह, जिसका चित्र ऊपर-नीचे दोनों ओर खड़ी-अँगड़ाती अप्सरा की आकृति में मुद्रित है। इनके बीच काव्य में चौदह चित्र और हैं जिनमें से पहला, एतदर्थ प्रमुख स्वयं कवि का है, शेष में से चार श्री उपेन्द्रनाथ महारथी के लिखे मौलिक चित्र हैं, शेष श्री ज्योतीष भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत प्राचीन प्रस्तर मूर्तियों की प्रतिकृतियाँ हैं और उन्हीं का लिखा एक मौलिक चित्र भी है। प्रस्तर मूर्तियों की प्रतिकृतियाँ विषयों के अनुकूल ही खजुराहो की अप्सराओं तथा सुर-सुन्दरियों की परम्परा में हैं। कथा-काल और इन प्रतिमूर्तियों के निर्माण-काल के बीच तीन हज़ार वर्षों से अधिक का अन्तर होने के वावजूद दोनों में एक ऐसी समरसता है कि उसका एकस्थ सन्दर्भ अनुचित नहीं। खजुराहो उड़ीसा के मन्दिरों का वह

प्रसार है जिसका आरम्भ मध्यकाल में एलोरा के शृंगार-प्रधान चित्रों से हुआ था और जिनका बीज भारतीय देवालयों की देवदासियों और मध्यपूर्व की मिलित्ता आदि के देवस्थानों की पृष्ठभूमि में अंकुरित हुआ था। मनस् का पराक्रम कुछ ऐसा होता है जो सदियों के व्यवधान को लाँघ जाया करता है और समान को समान वर लिया करता है। कवि ने भी तान्त्रिक यौन साधकों के समानार्थक प्रतीकों को अपनी चित्रित व्यवस्था में उनकी मूर्तियों की प्रतिकृतितः स्थापना को आदर्श माना है, इससे भी हमें कोई विरोध नहीं, यद्यपि छठी सदी ईसवी के उड़ीसा के वज्र-महेंद्र पर्वत के, भवभूति के 'मालतीमाधव' में संकेतित, वज्रयानियों को निश्चय विरोध हो सकता है कि उनकी अग्रभूमि पर उनके पृष्ठवर्ती द्वैत-अद्वैत दर्शन का कृत्रिम, भौंडा कालविरुद्ध असत्य विमान क्यों खड़ा किया गया ?

इन चित्रों में चार, जो कवि के 'आर्डर' के अनुकूल चित्रकार ने प्रस्तुत किए हैं, उल्लेखनीय हैं। पहले से उत्तान नारी के हारव्यंजित नग्न स्तनों पर पेट के बल पड़ा पुरुष उन्मुख है और नारी का निरावृत निम्नांग रेखाओं के छंद्स में खो गया है। इसे कवि ने काल के आदि मूल को छूकर बहने वाली चेतना माना है (पृ० ५६ के सामने)। दूसरे चित्र में निमीलित चक्षुओं वाला पुरुष, निमीलित चक्षुओं वाली नारी के वक्ष-विवर में सिर डाल मूढ़ हो गया है जिस स्थिति को कवि ने मृत्यु के पथिक का विश्रान्तिस्थल माना है (पृ० ८६ के सामने), गोया जो पथिक स्तनों के बीच के इस कारवाँ-सराय में नहीं ठहरते वे मरते नहीं। तीसरा मौलिक चित्र रेखाजनित धूमायित मेघों में प्रच्छन्न तैरते शिशु का है जो सम्भवतः उस नारी के निम्नांग से अभी बहिर्गत हुआ है जो अपने शरीर-यष्टि को ऊपर फेंक पुल बन गई है, जिसके नग्न स्तन चित्र के 'रिफ्लेक्स' बन गए हैं और जिसकी नग्नक्रिया की ओर ऊपर से मेघ-निर्मित मुष्टि की तर्जनी संकेत कर रही है। चित्र की नारी का यह 'टोर्सो' मात्र है जिसमें न सिर है, न भुजाएँ हैं, न नितम्ब से नीचे के अंग हैं, मात्र वह नग्नता है जिस सम्बन्ध में 'रेनेसांस' के अप्रतिम चित्रकार लियोनार्दो दा विंची ने कहा था कि यदि कामायित मिथुन का काम प्रबल न हो, और उससे भी बढ़कर, उनके रूप स्पृहणीय न हों, तो शेष अंग और काम-प्रक्रिया तो इतनी घिनौनी है कि परस्पर-आकर्षण के अभाव में, कुछ अजब नहीं जो मानव-सृष्टि का ही अन्त हो जाय। चित्र कवि के प्रकृत-दर्शन की सूक्ष्मता के अनुरूप ही, मात्र उन अंगों को, एल ग्रेको, तिशियन आदि के 'न्यूडों' से भी कहीं अधिक, साहसिक रूप में व्यवस्थित करता है जिससे कि वे अंग प्रकृत न हो आकाश में प्रक्षिप्त पुल का मेहराब बन गए हैं। निःसन्देह कवि को अभिप्रेत यहाँ नारी के उन अंगों से नहीं जिन्हें उसने मेघायित रेखाओं से ढक दिया है। काव्य का अन्तिम चित्र मिथुन का है जिसमें निरावृत्त नारी

अपने सारे अंगों को सर्वतः खोल, शिथिल कर, कुच-कन्दुकों को विशेष उभार पैरों को प्रत्यालीढ मुद्रा में डाले समुद्र के जल में लम्बी पड़ी उसके तरंगों पर कनिष्ठिका द्वारा उस नौका को धारण किए हुए है जिसके डगमग वक्ष पर डाँड धारे पुरुष उसे सम्भालता नंगा खड़ा है। चित्र के नारी और पुरुष दोनों निस्पंद हैं, निर्जीव, चेष्टाहीन, नितान्त 'फ्लैट'। उसकी विशेषता ऊपर से यह है कि जहां गिरधारी ने गोवर्द्धन को केन्द्र से उँगली पर धारण किया था, चित्र की नारी पुरुषवाहिनी नौका को, उसके एकान्त छोर को, उँगली पर धारण करती है जिसका दूसरा छोर उसके दाहिने अंग में प्रदर्शित है। कवि लिखता है (देखिए पृ० १६३ के सामने चित्र के नीचे) "छिगुनी पर धारे समुद्र को ऊँचा किए हुए है।" चित्र साथ ही यह द्वन्द्व भी उपस्थित करता है कि नारी अपनी 'छिगुनी' पर समुद्र को धारे हुए है या नौका को, यह बात अलग है कि अकेली उँगली में यदि चुम्बक का भी आकर्षण हो तो उसके एक छोर को उठाने से नौका का दूसरा छोर उठा नहीं रहेगा, वैसे यह भी दूसरी बात है कि, 'छिगुनी' का अर्थ छोटी छड़ी है या कानी उँगली, या 'छांगुर' के सन्दर्भ में छः उँगलियों में से एक। जहाँ तक मुझे पता है कि छिगुनी खड़ी बोली का नहीं भोजपुरी का शब्द है जो छांगुर से न बनकर (क्योंकि उसका अर्थ उँगली के प्रति संकेत के बावजूद इस स्थल से सन्दर्भ में गलत हो जायगा) 'छीकुन' से सम्भवतः बना है जिसका मतलब शायद बाँस की कैन या छोटी छड़ी है।

काव्य पाँच अंगों में रचा गया है। उसके पात्र कथोपकथन करते हैं, और उसका प्रारंभ सूत्रधार तथा नटी के नाटकवत 'डायलाग' से शुरू होता है, फिर जहाँ-तहाँ (जैसे पृ० ६, ८, १६, २०, २६, २६, ३६, ४३, १०५, ११६, १२०, १२४, १२६, १३० १३३, १३६, १३६, १४०, १४३, १५०, १५३, १६६ पर) उसमें रंगमंचीय निर्देश भी हैं और स्थान-स्थान पर गीतों का समावेश किया गया है। प्रगट है कि प्रयत्न गीति-नाटक, 'ऑपेरा' लिखने का हुआ है और सुमित्रानंदन पंत के 'रजतरश्मि' आदि के पिछले आयोजन को स्तंभित करने का प्रयास भी परोक्ष नहीं है, और इसका भी कुछ राज़ है कि काव्य समर्पित भी अप्सरा-लोक के कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत को हुआ है। उक्ति है—'अप्सरा-लोक के कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत के योग्य।' यह अटकल लगाना आसान नहीं कि अपनी इस कृति को कवि इस स्तर का समझता है जो पंत के योग्य हो सकती है, या कि पंत को उस कृति के योग्य मानता है, या उनके अभिमत को उनके द्वारा संप्राप्त न हो सकना समझकर इस काव्य द्वारा स्वयं प्रस्तुत कर देने की क्षमता की ओर संकेत करना, पंत को चुनौती देता है या कि पुरानी चिट्ठियों की तरह 'लिखी सुमित्रानन्दन पंत के जोग' का पुनरावर्तन करता है। जो भी हो, काव्य सर्गों की जगह अंकों में विभाजित है और प्रत्येक अंक के पहले विविध

संस्कृत ग्रंथों के मूल उद्धरण दिए गये हैं। ग्रंथ के आरम्भ में भी संस्कृत के कुछ उद्धरण दिए हुए हैं। निःसन्देह इनका बोझ मूढ़ पाठक पर पड़ेगा और कवि के ऋग्वेद से कथासरित्सागर तक की आधिकारिक दृष्टि का वह कायल होगा और शायद उनमें विरला ही कोई हो जो एंगेल्स की तरह कह सके 'आइ हैव नाट रेड डूलिंग बट आइ नो दि मैन!' 'विक्रमोर्वशी' के उदाहरण संभवतः स्थानोचित भी हैं (स्थाने खलु) क्योंकि समूची कहानी कालिदास के उसी नाटक से उठाई हुई है, पोर-पोर, प्रायः अन्त को छोड़। कहानी कालिदास ने भी उठाई है, ऋग्वेद के दसवें मंडल से, पर पोर-पोर नहीं, बीज मात्र, और कहानी अपने ढंग से कही है अत्यन्त नए तथ्यों को गढ़कर। (इसी प्रकार कभी सन् चालिस में एक कहानी-संग्रह 'सवेरा' भी छपा था जिसमें 'विक्रमोर्वशी' कहानी से एक कहानी मिलती थी, जिसको प्रमाणतः कवि जानता है।) उर्वशी के कवि ने प्रायः अंक-अंक कालिदास की कथा ले ली है, उसके पात्र निपुणिका, औशीनरी, कंचुकी तक ले लिए हैं, (सूत्रधार और नटी के नाम लेने की तो आवश्यकता ही नहीं) जिन्हें कालिदास ने स्वयं गढ़ा है। 'उर्वशी' का कवि 'विक्रमोर्वशी' के पात्रों—सहजन्मा, रंभा, मेनका, चित्रलेखा—को भी प्रत्यक्ष उठा लेता है जिनका उल्लेख ऋग्वेद के पुरुरवा प्रसंग में नहीं है पर जिन्हें कालिदास ने पुराणादि से लिया है। 'उर्वशी' का कवि उन छोटे स्थलों को भी कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' से उठाने में नहीं चूकता। (जैसे, रानी का व्रतविन्यास, चित्रलेखा का छिपकर रनिवास का हाल जानना, गंधमादन का 'हनीमून' आदि) जिनकी भली-भाँति उपेक्षा की जा सकती थी। वस्तुतः जब कवि कालिदास की उस कृति से संदर्भ उठाता है तो निश्चय अप्रकाश में समझ नहीं पाता कि क्या उठाना उचित है क्या अर्थहीन और वह समूचा एकसाथ हर लेता है। न तो कोई कापीराइट कानून उसके इस कार्य में बाधक हो सकता है और न ही 'अयं निजः परोवेत्तिगणना लघुचेतसाम्' को प्रमाण मानने वाले को ही कालांतर के इस हरण-कार्य से किसी प्रकार का असंतोष हो सकता है। गर्ज कि हिन्दी 'उर्वशी' संस्कृत 'विक्रमोर्वशी' का कथानुवाद है।

शब्द—सार्थक शब्द से भाषा बनती है और भाषा से साहित्य बनता है। शब्दों का समुचित संचयन साहित्य की पहली इकाई है। शब्दों के समुचित उपयोग में चूक जाने से साहित्य दूषित हो जाता है। साधारणतः 'उर्वशी' का कवि प्रवहमान भाषा का प्रयोग करता है और अनेक स्थल इससे मधुर भी हो उठे हैं। पर जो पचासा पार कर चुका है और चौथाई सदी तक कवि-कर्म करता रहा है उससे खरी भाषा के उपयोग की अपेक्षा करना तो न्यूनतम है, यद्यपि इस पराक्रम में भी वह अनेकधा और अकसर चूक गया है।

पहले शब्दों का भाव-पक्ष लें। पहले ही पृष्ठ पर एक वर्णन है जो दूसरे पृष्ठ तक चला गया है—प्रथमग्रासे मक्षिकापात:—कवि 'द्वादशी चंद्रमा' के 'निर्मेघ गगन' का वर्णन कर रहा है—

खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं,
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चाँदी के,
तारों-भरे गगन में······

चन्द्रमा द्वारा दीपित शुक्लपक्ष की द्वादशी का आकाश क्या तारों भरा हो सकता है? क्या तब गगन के ऊपर इतने तारे 'दीपते' हैं कि लगे कि 'नीले चीर पर चाँदी के बूटे हों?' संभवत: तब तो ज्वलंत नक्षत्र भी चन्द्रमा के तेज से अभिभूत हो मलिन पड़ जाते हैं। पृष्ठ २४ पर कवि अप्सरा चित्रलेखा के मन पर सोने के तार मढ़ रहा है। तार चाहे सोने का ही क्यों न हो, 'मढ़ते' समय कील और हथौड़ों की आवश्यकता निश्चय पड़ेगी, और तब मन पर उनकी चुटीली मार से कवि-हृदय विरत हो जायेगा। दो पृष्ठ पहले एक पंक्ति है:

एक घाट पर किस राजा का रहता बँधा प्रणय है?

'घाट-घाट का पानी पीना' निश्चय मुहावरा है, पर घाट बँधना केवल गधे के सम्बन्ध में ही सार्थक हो सकता है, या उस कुत्ते के सम्बन्ध में जो न घर का होता है न घाट का, पर मुहावरे की ध्वनि के अनुकूल दोनों से बँधा रहता है, घर से भी घाट से भी, अथवा घर से या घाट से। पृष्ठ ३७ पर 'जोहा करती हूँ मुख को' उस मुहावरे को 'सुख' से तुक मिलाने के लिए 'मुँह' से भिन्न कर देना शायद मुनासिब न था। असफलता में चाहे आदमी को माँ का वक्ष याद आता हो पर 'संकट में युवती का शैयाकक्ष याद आता है' यह कल्पना कवि की अपनी हो सकती है किन्तु सामान्य नर की कतई नहीं है। वस्तुत: 'असफलता में नहीं, संकट में ही माँ का वक्ष, या बेहतर माँ याद आती है, युवती का शैया-कक्ष' वस्तुत: संकट में भूल जाया करता है (पृ० ३८)। पृष्ठ ४३ पर एक निर्देश है—'गंधमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी'। पुरूरवा गंधमादन पर उर्वशी के साथ खुला विहार करता है, इतना ऐलानियाँ कि कंचुकी द्वारा अपनी रानी को उसका सारा माहौल कहला भेजता है इस व्यंग्य के साथ कि तब तक रानी व्रतों का आचरण करे, प्रकट ही यह 'अभिसार' नहीं है, जिसका उल्लेख पुरूरवा पृष्ठ ४३ की इस पंक्ति में करता है:

जब से हम तुम मिले, न जाने, कितने अभिसारों में।

अभिसार रात के अँधेरे में हुआ करते थे, कभी-कभी शायद उजेली रात में भी, जैसा 'शुक्लाभिसारिका' शब्द से प्रकट है, और तभी उसके छिपाव के कारण पति के प्रति भरत और वात्स्यायन की 'शठ' संज्ञा सार्थक होती है। इस लाक्षणिक शब्द का प्रयोग, कहना न होगा, गलत है। इसी प्रकार नसों के खून में

नाव चलाना भी कष्ट-कल्पना है चाहे वह नाव कवि की 'स्वर्णतरी' ही क्यों न हो और 'शोणित' में ही क्यों न खेई जाती हो (पृ० २१)। एक शिथिल लाइन पृ० १४ पर है :

मिल भी गई उर्वशी यदि तुमको इंद्र की कृपा से (जरा पढ़कर यति सुनिए) जैसे नीचे की दो और हैं, असर में फ्लैट प्रायः वाजारू—

लगता है यह जिसे, उसे फिर नींद नहीं आती है,
दिवस सदन में, रात आह भरने में कट जाती है।

इन लाइनों में 'लगना' का प्रयोग प्रणय रूपी रोग के सम्बन्ध में हुआ है। पृ० ५२ पर शोणित में स्वर्णतरी चलाने के ही अनुरूप कवि रुधिर में सोने के सहस्रों साँप रेंगने की कल्पना करता है। पीड़ा की उपमा अनन्त बिच्छुओं के डंक मारने से तो दी जाती है, और साँप का उपयोग भी 'डँसने' के प्रसंग में हुआ करता है, पर यहाँ रुधिर में साँप रेंगते हैं, 'सहस्रों' साँप, और वह भी 'सोने' के। मैं नहीं समझता कि प्रणय का कोई राज इस उपमा से खुलता है, सिवाय इसके कि साँप बजाय दर्द का कारण बनने के, जब वह डँसता नहीं, एक घिनौनापन, 'डिस्गस्ट' पैदा करता है। साँप का रेंगना, प्रणय के सम्बन्ध में, कुछ मुनासिब अनुभूति नहीं उत्पन्न करता। इसी प्रकार 'त्वचा की नींद' टूट जाना (पृ० ४७) विशिष्ट व्यंजना नहीं कहला सकती। पृ० ६१ पर 'वक्ष के कुसुम कुंज' की उपेक्षा भी समझ में नहीं आती। विद्यापति और सूरदास ने नाभि-विवर से निकली रोम-नागिनी का ऊपर जाकर स्तनों के बीच खो जाना तो लिखा है पर वहाँ कुसुम-कुंज की भी कोई संभावना हो सकती है, यह उन्हें नहीं सूझी। कुछ अजब नहीं जो अपार्थिव-शरीरी उर्वशी के वक्ष में कुसुम-कुंज की-सी संपुंजित कोई केश-विधा रही हो, जिसके भी भीतर शिशु की पवित्रता जीवित है।

उस अदोष नर के हाथों में कोई मैल नहीं है (पृ० ११५) इसका भाव समझना भी कुछ आसान नहीं क्योंकि शिशु की पवित्रता वाले अदोष अंतर के नर के हाथों के मैल का एकत्र संदर्भ एक रहस्य प्रस्तुत कर देता है जिसका उद्घाटन सम्भव नहीं। कवि पूछता है (पृ० १२६) कि 'स्पर्श-सुख की जो रोमांचक सनसनी त्वचा-जाल, ग्रीवा, कपोल में, उँगली की पोरों में समा गई है, उसे क्या आकाशगंगा का सलिल भी कभी धो पाएगा ?' आकाशगंगा का पावन जल पाप धोने के लिए चाहे उपयुक्त होता हो, उसका उपयोग इस तरह की 'सनसनी' को धोने के लिए शायद नहीं किया जाता। पर वस्तुतः यह प्रयोग असाधारण होने के अतिरिक्त विदेशी भी है और 'मैकबैथ' से उठाया जान पड़ता है, जहाँ लेडी मैकबेथ के हाथों से रक्त को समूचे अरब के इत्र भी नहीं धो पाते। पृ० १३५ पर प्राणों में 'स्मृति' का 'निषण्ण' होना न किसी भाव की

मधुर व्यंजना है न इससे अलग कोई अर्थ ही रखता है कि प्राणों में याद जा वैठी और याद का वैठना अगर कोई खास अर्थ भी रखता हो तो निःसंदेह वहाँ उसका 'निषण्ण' होना तो वस 'तरुरिह' की जगह 'शुष्कं काष्ठम्' पाठ प्रस्तुत कर देना है।

कविवर 'दिनकर' ने काम-केलि की विविधताओं का, उनके नंगे रूपों का जो वर्णन किया है वह, संतों की 'विपरीत रति' की ही भाँति, संत-सानिध्य से, जैसे इस प्रसंग में काम के लोकोत्तर प्रतिपादन से 'ग्लोरीफाइड' हो गया है। पर काम के 'ग्लोरीफिकेशन' की वात यहाँ न उठाकर आगे उठाऊँगा, तथ्य-विचार के प्रसंगों में। फिर भी एकाध संदर्भों की ओर संकेत किए विना रह सकना सम्भव नहीं जान पड़ता।

कवि की चुम्वन-चेतना वड़ी सजग है। पृष्ठ ७१ पर वह 'चुम्वन की झंकार' की वात कहता है, और वह झंकृति उसके कानों में इतनी गहरी 'अनहद' वन गई है कि उसका सम्वन्ध निश्चय रूप से 'अधर' से ही नहीं है, कारण कि वह दर्पण सदृश कपोलों की नहीं, मन की भूख है जिसकी 'क्षुधा' जल्दी मरती नहीं। पृष्ठ ७५ पर तो वही चुम्वन की अरूप झंकृति 'फुहार' वन गई है—'भरी चुम्वनों की फुहार'—फुहार से सम्भवतः कवि का आशय थूक की उन नीहारिकाओं से है जो शायद कामदग्ध गवासीन पुंगव छोड़ता है, सभ्य मानव नहीं। इसी प्रकार कवि पृ० १२६ पर जिन विगत चुम्वनों के चिह्नों की अपनी पंक्ति—**रोमांचित संपूर्ण देह पर चिह्न** विगत चुम्वन के—की ओर संकेत करता है, उसे सम्भवतः वात्स्यायन अथवा कालिदास चुम्वन न कह 'दंतक्षत' कहते, क्योंकि 'चिह्न' दाँतों के ही पड़ा करते हैं, चुम्वनों के नहीं। सभ्य चुम्वन द्वारा त्वचा का स्पर्श मात्र होता है, अनेक वार स्थानांतर से, उसका शक्तितम प्रयोग भी, पर शिष्ट (जो निःसंदेह पुरूरवा का रहा होगा) का चुम्वन न 'फुहार' है, न 'दंतक्षत' और न 'पान'—मात्र चुम्वन है। चुम्वन द्वारा जगाना-सुलाना तो खैर उर्वशी के संदर्भ में कुछ अजव नहीं, पर चुम्वन का एक रूप जो चुनौती के रूप में उछालकर कवि सामने रखता है वह पृष्ठ ९९ पर खूब ही वन पड़ा है—

ओ शून्य पवन मुझे देख चुम्वन अर्पित करने वाले !

वेशक ऐसा नहीं कि आज की यूरोपीय संस्कृति के अधकचरे नौजवान स्टेशन पर जानी-अनजानी सुन्दरी को छूटती रेल के सामने होंठों पर हाथ रखकर चुम्वन उछाल देते हों, उर्वशी के उस ऋग्वैदिक काल में भी अप्सराओं के प्रति चुम्वन उछाल देने की विधि से भारतीय छैला वंचित न था। आखिर आज के यूरोपीय दाय का पुरखा इंडो-यूरोपीय संतति स्वयं पुरूरवा ही तो था।

पृष्ठ ५३ पर पुरूरवा की आत्मश्लाघा रावण की याद दिला देती है—

यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ,
सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्नत भाल,
मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल, उच्छल है।
सामने टिकते नहीं वनराज, पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुंडली मारे समय का व्याल,
मेरी बाँह में मारुत, गरुड गजराज का बल है।

जैसा यह अपना विरुद पुरूरवा ने स्वयं गाया है वैसा तो भारतीय अभिलेखों की परंपरा में भी, वंदियों-वैतालिकों-चारणों के साहित्य में भी दुर्लभ है, क्योंकि राजाओं का अधिकतम शौर्य शत्रुओं की विजय तक ही सीमित रहता है, यहाँ तो, अपनी कही वाणी में पुरूरवा के सामने पर्वत डोलते हैं, समय का व्याल कुंडली मारे काँपता है, और उसकी बाँह में ('बाहु' शायद बेहतर होता) 'मारुत, गरुड, गजराज का बल है।' क्रोध की ही भाँति संभवतः आत्मप्रशंसा के समय भी आदमी अन्धा हो जाता है, क्योंकि हो सकता है, वक्ष पुरूरवा का, जैसा वह कहता है, 'शिला-सा' रहा हो, पर, 'ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ' तो निश्चय पाठक को चकित कर देंगी क्योंकि छाती चाहे हो, भुजाएँ चट्टान-सी नहीं होतीं, चट्टान संज्ञा चौड़ाई की है और भुजाओं का राज तो उनकी लम्बाई में है, आजानुभुज में! और यह आत्मश्लाघा जब अपने 'चरम' को पहुँच जाती है तब जैसे उसका सत्य धुएँ का उड़ भी जाता है क्योंकि अगली ही पंक्तियों में पुरूरवा 'फ़ैन्टेसी' में बोलने लगता है—अपने सम्भवतः 'दिनकर' के रूप में—

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलों के सीस पर स्यन्दन चलाता हूँ। (पृ० ५३)

बात यह है कि पुरूरवा की चाहे यह अपनी स्थिति न रही हो, 'तत्वमीमांसा' को प्रदर्शित करने वाला कवि उस 'व्याख्या' की अपनी जानकारी क्यों न प्रदर्शित कर दे जिसका सम्बन्ध काव्य के सूक्ष्म अर्थान्तर से नहीं होता। और यह 'अपने समय' क्या बला है? पुरूरवा का समय क्या उसका 'अपना समय' नहीं है? फिर पुरूरवा इस प्रकार अपना शौर्य बखान कर भी अपने समसामयिक राजधर्म के विपरीत—जबकि अनाधिगत पर अधिकार राजा का पहला धर्म माना जाता था—यह कैसे कह पाता है?—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर,
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को।
तब भी प्रतिष्ठानपुर वंदित है सहस्र मुकुटों से,
और राज्य-सीमा दिन-दिन विस्तृत होती जाती है।

वगैर 'हाथ बढ़ाए' राजा की राज्य-सीमा का दिन-दिन विस्तृत होते जाना, जबकि वगैर लड़े चप्पा भर ज़मीन भी, सुई की नोंक जितनी भूमि भी तब कोई देने को तैयार न होता था, एक पहेली ही है, जिसका उलझाव और भी बढ़ जाता है जब, पुरूरवा के ही कथनानुसार, उसकी राजधानी हजार मुकुटों से मंडित-वंदित है। ऐसा तो नहीं कि जिस 'विक्रमोर्वशी' से स्थल उठाए गए हैं उसी की पृष्ठभूमि अनायास इस सन्दर्भ में उठ आई है ? पढ़िए मूल—

सामन्तमौलिमणिरंजितपादपीठ-
मेकातपत्रभवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ।

आशा करता हूँ, संस्कृत उद्धरणों की काव्यारम्भ में भरमार करने वाला कवि मूल को समझ लेगा, इससे उसका अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं समझता।

मुहावरों को कवि ने तत्सम के लालच से अकसर बदल दिया है। उसका एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है, एकाध और सुनें—

प्रीति जब प्रथम-प्रथम जगती है (पृ० ३४)

कहना न होगा कि मुहावरा 'पहले-पहल' का है। अगर यहाँ पहले-पहल भी रख दिया जाता तो शायद मात्रा में वैषम्य निश्चय हो जाता पर बात बैठ जाती; वैसे जहाँ-तहाँ स्वयं मात्रा के वैषम्य के भी उदाहरण काव्य में उपलब्ध हैं, जैसे 'पहले प्रेमस्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी' (पृ० ६२)। इसी प्रकार 'क्षीरमुख शिशु' (पृ० १९), 'पयमुख' (पृ० १२९) आदि भी 'दूधमुँह' की जगह प्रयुक्त हुए हैं।

अंग्रेज़ी अनुवाद के एकाध स्थल ऊपर दिए जा चुके हैं; कुछ और नीचे दिए जा रहे हैं—**'वाणी रजत मौन कंचन'** (पृ० १५६) निःसन्देह **'एलोक्वेन्स इज सिल्वर बट साइलेंस इज़ गोल्ड'** का अनुवाद है। जैसे, **'डाल न दे शत्रुता सुरों से हमें दनुज बाहों में'** (पृ० १४७), शायद **'थ्रोइंग इन्टू दी रेंक्स ऑफ़ दी एनिमी'** का ही भाषान्तर है; जैसे पृ० ६२ का **'कवि प्रेमी एक ही तत्व हैं'**, शेक्सपियर की प्रसिद्ध उक्ति का सीधा अनुवाद है जिसमें कवि और प्रेमी दोनों के साथ, अपने सन्दर्भ में कहीं घट न उठे, इस डर से जान-बूझकर श्री 'दिनकर' ने 'ल्यूनेटिक' (पागल) छोड़ दिया है।

प्राचीन कथानक को लिखने वाले हिन्दी के साहित्यकारों में तत्सम के प्रति एक बड़ी दुखदायिनी कमजोरी यह हो जाती है। आवश्यक-अनावश्यक सभी स्थलों पर प्राचीनता का आभास उत्पन्न करने के लिए, गिरा को गम्भीर बनाने के व्याज से, अथवा ज़बान के राज़ को न पकड़ पाने के कारण, वे भाषा को तत्सम के कुयोग से भरकम बना देते हैं। इसी प्रवृत्ति का परिणाम है जो कवि के पल्ले पड़ मुहावरे बदल गए हैं, यद्यपि यदि वे साधु अनुकरण करना चाहें, तो उनके सामने 'मॉडल' की कमी नहीं है। तीन विविध सदियों में होने वाले अंग्रेजी के तीन महाकवियों—शेक्सपियर, ड्राइडन और शॉ—ने प्रायः एक ही प्रसंग को

विकास में वालभर वदली भाषा के अन्तर से, एक ही प्रकार से अपने नाटकों—'ऐन्टनी एण्ड क्लियोपेट्रा', 'आल फ़ार लव' और 'सीज़र एण्ड क्लियोपेट्रा' लिखा है। तत्सम के प्रति 'दिनकर' का भी इतना उन्मद आकर्षण है कि वे संस्कृत में भी साधारणतः दुर्लभ 'मुन्नारी' (पृ० ३५), 'विअल्लोक' (पृ० १४५), 'अमृक्-श्रवण' (पृ० १५९) लिखते हैं जिससे कभी-कभी उस प्रवृत्ति का भी गोचर हो जाना कुछ अजव नहीं जिससे प्रभावित आज के तीव्र तत्समवादी भी 'धूमपान' की जगह 'धूम्रपान' कहते-लिखते हैं। इस प्रकार के दो उदाहरण 'उर्वशी' में भी उपलब्ध हैं—'घूर्णिमान सिर' (पृ० १५२)—दोनों शब्दों की संयुक्त रवानी पर ज़रा गौर कीजिये—महार्व (पृ० १५४), यद्यपि यह दूसरा, कुछ अजव नहीं जो, मुद्रण-दोष से सम्भव हो गया हो। तत्समों पर निःसन्देह हिन्दी का अधिकार है, पर निश्चय ही उन्हीं पर जो हिन्दी के दाय क्षेत्र में आ गए हैं (शब्द की व्युत्पत्ति का भाव भी यही है), ध्वनि-लाभ अथवा अद्‌भुत और प्रभाव के लिये उनको संस्कृत से उठाया नहीं जा सकता, वरना अनुचित प्रयोगों से भाषा विगड़ जायगी जैसे इस काव्य की भी वहाँ सर्वत्र विगड़ गई है जहाँ 'स्पर्श' (पृ० ३७, ४६, ५६, १००, १०६, १२०, १३७), 'मृत्ति' (पृ० १०, ४६, ५६, ६६, ७३), 'उड्डीन' (५३), 'स्यात्' (पृ० ६१, ८१, ८७, ९३, १००, १४३, १६४) आदि शब्दों का उपयोग हुआ है। 'स्पर्श' की जगह प्रायः सर्वत्र 'परस' शब्द का इस्तेमाल हो सकता था जिससे उसकी कठोरता कोमल हो जाती और खींचकर पढ़ने की भी आवश्यकता न होती। 'स्यात्' का तो इतना उपयोग हुआ है—एक जगह 'स्यात्-स्यात्' का भी (पृ० ८७)—कि लगता है जैसे, कवि इस पुनरुक्ति-मोह द्वारा 'स्यादवाद' की व्याख्या कर रहा हो। कुछ अजव नहीं, यह विशिष्टता उसने राजधानी के राष्ट्रकवि से ली हो, जिसके काव्यों में 'स्यात्' शब्द की भरमार है और जिसका उत्तराधिकार हमारा नायक कवि धीरे-धीरे स्वायत्त कर चला है। (उपाधि-वितरण में प्रवीण बिहार में 'देशमान्य', 'देशरत्न' आदि के साथ ही कवि के लिए 'राष्ट्रकवि' का उपयोग होने लगा है। इस तृष्णा से यदि कवि मुक्त होता तो 'उद्‌गमस्थली अदृश्य' (पृ० १६३) जैसे सैंकड़ों कर्ण-कटु स्थलों से काव्य की रक्षा हो गई होती। इसके विरुद्ध कवि ने जहाँ-तहाँ ग्राम्य-प्रयोग भी किए हैं, जैसे 'रार रोपेगा' (पृ० १२९), 'प्राण-प्यारी' (पृ० १२), 'महारानी' (पृ० १००), आदि। इसी परम्परा में कुछ और भी प्रयोग हुए हैं, जैसे, 'प्रेमदेवता जी को' (पृ० १७), 'देह करेगी ढीली' (पृ० १९) जो शालीन कथानक के सन्दर्भ में अक्षम्य होंगे। कुछ शब्दों को कवि ने जान-बूझकर अथवा अपने विचार में शायद नरम करने के लिए विगाड़ भी दिया है, जैसे 'चाँदनियाँ (पृ० ७, २६), 'अप्सरियाँ' (पृ० ७, ५६, ११०, १११) आदि। यह परम्परा हिन्दी में सम्भवतः सोहनलाल द्विवेदी ने चलायी थी, जिसे मैं समझता

था, शायद उठ गई, पर वस्तुतः लगता है, अव चल गई। इतने वड़े काव्य में 'मलिन' शब्द का 'मलीन' हो जाना (पृ० १४) कुछ अजव नहीं यद्यपि शायद उसे कवि ने अपने वर्ग के अधिकार से लिखा है। एकाध नमूने अनावश्यक पुनरावृत्ति के भी उपलब्ध हैं, जैसे, 'विद्रुम-प्रवाल' (पृ० २४, ६१), 'श्रमितश्रांति' (पृ० ३८) आदि। पृ० १६८ के 'दुवारे' की जगह अगर 'दुवारा' होता तो शायद कुछ विगड़ता नहीं।

कवि ने सर्वत्र 'हम हरी-हरी हैं', 'हम भरी-भरी हैं', 'हम भरती हैं', 'हम फिरती हैं' (पृ० ६), 'हम वरसाती फिरती' (पृ० १०), 'हम लौट रही थीं', (पृ० १२), 'हम नहीं सँजोती', 'हम उमंग भरती हैं', 'हम आलिंगन करती हैं', 'हम मिलतीं', 'रंग देतीं', 'हम पचतीं' (पृ० १५), 'हम हो जाती हैं' (पृ० १६४), 'हम रचेंगी', 'हम चलीं' (पृ० १६५), 'हम रुकती हैं' (पृ० १६६) आदि का प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ कि यह खड़ी वोली का प्रयोग नहीं है, कम-से-कम उस खड़ी वोली का जो उसके केन्द्र मेरठ जनपद से वोली जाती है। वैसे, विहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश में ऐसा प्रयोग स्वाभाविक रूप से होता है, जो यदि हम मेरठ जनपद को प्रमाण मानें तो मुनासिव नहीं जान पड़ता। उसकी जगह उपयोग नारी होकर भी नारी 'हम कहते हैं, भरते हैं, फिरते हैं', आदि करती है। 'समारोह-प्रांगण' (पृ० ६८) गलत तो नहीं है पर राजधानी के 'मार्च-पास्ट' आदि का स्मारक है जिनमें शामिल होने का इस प्रवासी कवि को पर्याप्त अवसर मिला करता है।

दो पंक्तियों का और उल्लेख यहाँ करना चाहूँगा। एक इस प्रकार है—**'अमृत-अभ्र कैसे अनभ्र ही मुझ पर वरस पड़ा है?** (पृ० १४१) नहीं जान सका कि अमृत का 'अभ्र' जब साथ ही जुड़ा हुआ है तव अमृत की वर्षा अनभ्र कैसे हुई? दूसरी पंक्ति है—**सुख देती छोड़ कनक-कलशों को उष्ण करों में** (पृ० १५)। मेरा तो तात्पर्य यहाँ वास्तव में समूची पंक्ति से नहीं, केवल उसके प्रतिवर्त 'कनक कलश' मात्र से है। मैं समझता हूँ, संस्कृत के इस दोष का वहन हिन्दी ने वहुत काल तक किया। संस्कृत के अनुकरण में तत्सम के प्रयोग के जोश की ही तरह हिन्दी कवि 'कुच-कलश' की वात कहते हैं। कलश द्वारा स्तनों की उपमा नितान्त गँवारू है, चाहे उसका प्रयोग कालिदास तक ने क्यों न किया हो। फिर कुच कलश होकर फिर कुच नहीं रह जाएगा, वक्ष पर नहीं तव उसे सिर पर धारण करना पड़ेगा, और फिर कवि उसे हाथ में भी न ले सकेगा, उसके लिए वाहक साथ रखना पड़ेगा, जिससे रस भंग होगा। कोई लड़की तो जाने दे, प्रौढ़ा भी घड़े द्वारा अपने स्तनों की उपमा से खीझ उठेगी। वस्तुतः इसका अर्थ मातृपदीय है, वैसे ही इसका व्यवहार भी होना चाहिए। फिर कलश चाहे मिट्टी का हो चाहे 'कनक' का, है वह घड़ा ही। 'कनक' का होने से तो उसे

गरम हाथ में लेने वाले की कठिनाई बढ़ ही जायगी, क्योंकि गरम हाथों को आवश्यकता धातु-कलश की नहीं ऐसे पदार्थ के कलश की है जिसके स्पर्श से उष्ण कर ठंडे हों, जैसे साहित्य में काम की परम्परा में गर्मी में भी नारी शीतल होकर उन्मुख नर को, उष्ण करके ठंडा करती है।

तथ्य—इसमें चार प्रसंगों पर विचार करना होगा—१. कथानक, २. चरित्र-चित्रण, ३. दर्शन, और ४. कालविरुद्ध दोष पर। हम सबसे पहले अंतिम प्रसंग पर विचार करेंगे।

'उर्वशी' का गीतिनाट्य यद्यपि शुद्ध ऐतिहासिक नहीं है, पर उसका कथानक पुराणसम्मत होने के कारण उसका रूप ऐतिहासिक ही है। पुराणों के वंशक्रम के अनुसार पुरुरवा ऐतिहासिक व्यक्ति भी है जो स्वयं ऐल वंश का है और चन्द्रवंश उसी से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद में राजा के रूप में पुरुरवा ऐतिहासिक व्यक्तित्व रखता है। इससे 'उर्वशी' को ऐतिहासिक दृष्टि से भी तनिक देख लेना अनुचित न होगा। यह आवश्यक नहीं कि ऐतिहासिक साहित्य अथवा इतिहास के तथ्य को नाटक या कथा का आधार बनाने वाला साहित्यकार सर्वथा इतिहास की लीक पर चले ही। यदि वह चाहे तो जहाँ इतिहास मूक है वहाँ अपनी मेधा का अनुसरण कर सकता है, यदि विषय विवादास्पद हो तो उस पर अपना सुचिंतित पथ ग्रहण कर सकता है। पर, उसे साधारणतः दो बातें नहीं करनी चाहिए, एक तो जो स्पष्ट ऐतिहासिक सत्य है उसके विपरीत नहीं जाना चाहिए, दूसरे कृति में कालविरुद्ध दूषण का परिहार करना चाहिए। दोनों के अर्थ साहित्यकार को अपने विषय का इतिहास के सन्दर्भ में भरपूर अध्ययन करना चाहिए। 'प्रसाद' के नाटकों के सम्बन्ध में और चाहे जो कहा जाय, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रतिपाद्य विषय का वे बड़ी सावधानी से अध्ययन करते और इसी से उनकी रचनाओं में कालविरुद्ध-दूषण अत्यन्त कम हैं। 'उर्वशी' का कवि संस्कृति का आचार्य है, इससे आशा तो यह की जाती है कि उसकी रचना में कालविरुद्ध दोष नहीं होगा, पर हकीकत यह है कि जानकार के लिए कालविरुद्ध दोषों का 'उर्वशी' में साधारण पारायण में भी, एक समूचा जंगल मिलेगा। इस दिशा में 'प्रसाद' और 'दिनकर' में संख्यातीत गुणतः अन्तर है।

मम्मट ने, लोक-विश्वास के अनुसार, नैषधकार से कहा था कि बेटे, तुम अब तक कहाँ थे, अगर तुमने अपनी रचना मुझे पहले दिखा दी होती तो मेरी कृति के दोष सम्बन्धी प्रकरण के उदाहरणों के लिए इतना परिश्रम नहीं करना पड़ता, एक ही जगह वे मिल गए होते। जहाँ तक कालविरुद्ध दोषों का विषय है, वही बात 'दिनकर' की इस कृति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती

है। अब जरा उन दोषों पर विचार कीजिये। संसार जानता है कि 'यवन' शब्द आयोनिया के ग्रीकों के लिए प्रयुक्त हुआ करता था और सिकन्दर से पहले के संस्कृत साहित्य में कम-से-कम उनके 'स्टेज कर्टेन' यानी पर्दे का, 'यवनिका' का उल्लेख नहीं हुआ है। यह शब्द संस्कृत नाटकों से भिन्न साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं, और संस्कृत के प्राचीनतम नाटक से कम-से-कम दो हजार वर्ष पुराना ऋग्वेद है। आश्चर्य है कि उसका चरित्र पुरूरवा 'यवनिका' शब्द का इस्तेमाल स्वाभाविक रूप से करता है (पृ० १४८)। कवि इसी प्रकार लेखन का भी उल्लेख करता है, 'पत्रक पर अंकन' (पृ० ६९) का, जो सर्वथा कालविरुद्ध है। मात्र कालिदास का उदाहरण इसे सही नहीं कर सकता, कारण कि आज हम अनेक सन्दर्भों में कालिदास से कहीं अधिक इतिहास का ज्ञान रखते हैं। ऋग्वैदिक समाज में अभी लेखन का प्रचलन नहीं हुआ था जिस कारण उस समूची संहिता में कहीं भी लिखने, लिखे हुए को पढ़ने, अथवा केवल पढ़ने, कलम, स्याही आदि किसी वस्तु का उल्लेख नहीं हुआ है। और कवि तो न केवल संदिग्ध रूप से लेखन का बल्कि स्पष्ट 'लिपि का' उल्लेख करता है (पृ० ६१)। पृ० ६ पर जो कविता की 'पंक्तियों' का उल्लेख हुआ है वह भी उसी दिशा का दोष है क्योंकि पंक्ति का परिचय अथवा बोध मात्र लिखी रेखाओं द्वारा होता है। और कवि वस्तुतः लिपि तक ही नहीं रुकता बल्कि 'ग्रंथ' और उससे भी बढ़कर उस 'मुद्रित पृष्ठ' (पृ० १३४) का उल्लेख करता है जो लिखने और ग्रंथ-निर्माण के हजारों साल बाद की स्थिति है जिस कला का निर्माण चीनियों ने ईसा के बाद की सदियों में किया और जिसका सही रूप यूरोप ने 'रेनेसांस' काल में, आज से कुल करीब पाँच सौ साल पहले प्रस्तुत किया।

इसी प्रकार कुछ लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग हैं जो सर्वथा कालविरुद्ध हैं। 'भट्टारक-भट्टारिका' (पृ० ३९) शब्द संस्कृत में बहुत प्राचीन नहीं है और अधिकतर गुप्तकालीन तथा उसके आस-पास के ही साहित्य में व्यवहृत हुए हैं। कवि ने उन्हीं के साथ 'कंचुकी' (पृ० ४०) शब्द का भी निर्बंध व्यवहार किया है। 'विक्रमोर्वशी' में इन तीनों शब्दों का व्यवहार कालिदास के नाटकों में तत्कालीन ज्ञान की कमी के कारण यदि हुआ भी है तो कोई वजह नहीं कि भारतीय इतिहास की खोजों की उपलब्ध अनन्त संपदा के बावजूद हमारी संस्कृति का यह आचार्य भी उनका उपयोग करे, यह क्षम्य नहीं। नाटक होते ही रचना उस शब्द के व्यवहार की अधिकारिणी नहीं हो जाती जिसका कथानक के समय अस्तित्व भी न था। इसी प्रकार 'महामात्य' (पृ० १३३) बहुत प्राचीन पदाधिकारी नहीं है। ऋग्वैदिक काल में महामात्य तो क्या साधारण मंत्रिपद का भी अभाव था जिसकी पूर्ति राजा के अन्य दरबारी-पुरोहित, सेनापति, महिषी आदि करते थे। 'परिजनों' (पृ० १४६) का अस्तित्व 'पुर' की संभावना से ही

संभव था। ऋग्वेद में यदि 'पुरों' का उल्लेख हुआ भी है तो निश्चय आर्यों के 'पुरों' का नहीं, अनार्यों के 'पुरों' का, जिनका विध्वंस करने से आर्यों के देवता इंद्र का नाम 'पुरारि' पड़ गया था। 'पौर-जानपद' रामायण-महाभारत वीर-काव्यों की राजनीति के प्रसंग हैं। 'मणि-कुट्टिम' (पृ० ५७) पच्चीकारी का प्राचीन संस्कृत नाम है जिसका उपयोग भारतीय वास्तु में बहुत पीछे हुआ है। 'मणि', एक प्रकार के कीमती पत्थर को कूटकर फर्श में वज्रलेप (एक प्रकार का सीमेंट) के साथ विछा दिया जाता था। वैसे, संभवतः उत्तरी ईराक के असूरिया के असुर सम्राटों के राजप्रासादों में इस प्रकार की पच्चीकारी का उपयोग हुआ था, जिनके वास्तुविशारद मय ने, भारतीय शिल्प-परंपरा के अनुसार, उसका इस देश में प्रचलन किया। परंतु वास्तव में 'मणि-कुट्टिम' का पहला ऐतिहासिक उपयोग रोमनों ने किया जिसका एक नमूना पहली सदी ईसवी में भूकंप से विध्वंस्त नगर पाम्पेई में मिला है, दूसरा चौथी सदी ईसवी के रोमन सम्राट् कांस्तानतीन की ईसाई माता द्वारा इजरायल में गैलिली-सागर के तट पर बनवाए गिरजे के बचे फर्श के अवशेष में सुरक्षित है हमारे कवि ने 'मणि-कुट्टिम' शब्द को निःसंदेह कहीं सुन लिया और प्रदर्शन द्वारा उपलब्ध यश के लोभ को संवरण न कर सका, और उसका कालविरुद्ध दूषित उपयोग वह कर ही बैठा। इस ज्ञान-प्रदर्शन के लोभ से ही एक व्यापक कालविरुद्ध दोष 'उर्वशी' में अन्यत्र उस प्रसंग में बन पड़ा है जहाँ कवि अत्यंत निर्द्वंद्व होकर कला के संबंध में अपने विचार व्यक्त करता है—

> मैं कला-चेतना का मधुमय, प्रच्छन्न स्रोत,
> रेखाओं में अंकित कर अंगों के उभार,
> भंगिमा तरंगित वर्तुलता, वीचियाँ लहर,
> तन की प्रकान्ति रंगों में लिए उतरती हूँ।
>
> पाषाणों के अनगढ़ अंगों को काट-छाँट
> मैं ही निविडस्तननता, मुष्टिमध्यमा,
> मदिरलोचना, कामललिता नारी
> प्रस्तरावरण कर भंग
> तोड़ तम को उन्मत्त उमड़ती हूँ।

भारतीय कला के समीक्षकों के समक्ष पहली प्रमाणित आत्मसिद्धि यह है कि समूचे पूर्ववैदिक काल में कला का सर्वथा अभाव है, इतना कि आज तक देश में मिले लाखों भग्नावशेषों में कहीं भी उस काल का चित्रण, अथवा मूर्तिकला का संकेत तक उपलब्ध नहीं। और हमारे कवि ने इस इतमीनान के साथ तत्कालीन कला का उर्वशी के मुख से वर्णन कराया है कि बस व्यंग्यकार पोप

की एक लाइन अनायास याद आ जाती है, पर उसका उल्लेख नहीं करूँगा, इस इशारे के साथ अक्लमंदों के बूझने के लिए छोड़ दूंगा। यह समूचा वर्णन उत्तर-मध्यकालीन भारतीय कला का है, मूर्ति के संबंध में। वैसे, कवि ने अपने इस ज्ञान को दो भागों में बाँट दिया है जिसमें पहली चार लाइनों का संबंध तूलिका और लम्ब कूर्चिका द्वारा अंकित चित्र-लेख्यों से है, पिछली पाँच का कोरी जाने वाली मूर्तियों से। वस्तुतः इसका भी एक राज़ है जो शायद कवि स्वयं नहीं जानता, मैं बताए देता हूँ—उसका सारा जो यह काव्यगत यौन-व्यापार है उसका संबंध कामांकन करने वाली उस मूर्तिकला से है जो पिछले मध्यकाल में उड़ीसा और खजुराहो में अभिव्यक्त हुई और जिसकी अप्सराओं, अथवा कवि के शब्दों में 'अप्सरियों' का जादू कवि के सिर चढ़ भरपूर बोला है। लगता है कवि को लगा कि गणिका होने के कारण उर्वशी को कला-चेतना होनी ही चाहिए, फिर वह उसकी कला नर्तन तक ही सीमित क्यों रहे, उसने उसका परिवेश चित्रण मूर्तन तक फैलाकर उल्वण कर दिया।

'अयस्कांत' (पृ० ४५) संस्कृत में चुंबक को कहते हैं। ऋग्वेद में 'अयस्' का प्रयोग तो होता था पर यह 'अयस्' लोहा नहीं था, यह प्रायः निर्विवाद है। संभवतः वह तांबे का द्योतक था। अयस् का लोहे के अर्थ में संस्कृत में प्रयोग पीछे हुआ और उससे भी पीछे अयस्कांत का चुंबक के अर्थ में। पर हमारा कवि अयस्कांत के भी सपने ऋग्वैदिक काल में ही देख रहा है। 'शरभ' (पृ० ६६) संस्कृत कवि-परंपरा और लौकिक प्राचीन जन-विश्वास को व्यक्त करता है। यह आठ पैरों का उछलने वाला पशु माना गया है जिसका वर्णन अन्य कवियों के अतिरिक्त कालिदास ने भी 'मेघदूत' में किया है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं हुआ है जिनसे उस काल के जन-विश्वास का भी यह परिचायक नहीं हो सकता। केवल संस्कृत कवियों में, वह भी अपवाद रूप में प्रयोग हिंदी के कवि को बाध्य नहीं करता कि उसका उपयोग बरबस वह भी करे।

कवि के दर्शन की बात तो मैं उसके दर्शन के प्रसंग में करूँगा, यहाँ उसके दर्शन संबंधी कालविरुद्ध दोष की चर्चा करूँगा, वह भी अत्यंत संक्षेप में, क्योंकि कवि की दार्शनिक ज्ञान के प्रदर्शन की कमजोरी इतनी बड़ी है कि वह आत्मा-परमात्मा, ईश्वर-परमेश्वर, कर्म-अकर्म, प्रकृति-पुरुष, द्वैत-अद्वैत, विधि-निषेध, माया आदि का वर्णन इस स्वच्छन्दता से करता है कि इसकी भी परवाह नहीं करता कि उन शब्दों का प्रयोग अथवा उन दार्शनिक तथ्यों का ज्ञान तब संभव भी था या नहीं। यहाँ हम केवल कालविरुद्ध दोष के रूप में कवि की कुछ धारणाओं का उल्लेख करेंगे। आरंभ में ही कह देना चाहूँगा कि कवि के लिए जितना विगत है वह सारा प्राचीन है और उसकी प्राचीनता इतनी अखंड है कि उसमें किसी प्रकार का पूर्वपर का विभाजन नहीं। द्वैत-अद्वैत (पृ० ७०)

की बकवास जो 'उर्वशी' के पृष्ठों के आर-पार छाई हुई है, उनका ज्ञान ऋग्वेद के पंडितों को नहीं था। यह सही है कि ऋग्वेद में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' द्वैत का बीज मंत्र है जिसमें ऋषि प्रकृति और पुरुष के द्विधा रूप की कल्पना करता है, उन पक्षियों के रूप में जो पीपल पर बैठे हैं और जिनमें से एक उसका गोदा (फल) खाता है, दूसरा मात्र देखता है। एकमात्र यही उदाहरण वहाँ मिलता है पर यह केवल बीज रूप में है जिसका विकास सहस्राब्दियों बाद भारतीय दर्शन में हुआ। वस्तुतः भारत में अद्वैतवाद की सनक व्यापक रूप से नवीं सदी ईसवी में शंकर के दार्शनिक अभियान के बाद शुरू हुई, उस मिस्री फराऊन इख्नातून के कोई सवा दो हजार साल बाद, जिसने १३वीं सदी ई० पूर्व में सूर्य के बिंब के पीछे देवत्व की एकमात्र सत्ता देखी थी। पुरूरवा-उर्वशी का दर्शन-विलास और वह भी अद्वैत दर्शन सम्बन्धी, उस काल में कोई अर्थ नहीं रखता, नितांत स्थानभिन्न है। फिर बीज रूप में भी द्वैत का यह स्वरूप पुरूरवा को ज्ञात हो, समकालीन होने के बावजूद, यह कुछ आवश्यक नहीं, क्योंकि जो ऋग्वेद हमें आज उपलब्ध है उसके अनेक स्तर हैं, अनेक निर्माण-काल हैं, और वह समस्त वेद बिखरी ऋचाओं की संहिता है, एक मेधा से प्रसूत नहीं जिससे वहाँ किसी ज्ञान का होना सबकी जानकारी का आधार माना जाय।

प्रकृति और पुरुष का जो स्वरूप कवि ने प्रस्तुत किया है (पृ० ७७, ८१) वह बहुत पीछे कपिल के सांख्य दर्शन में निरूपित हुआ, जहाँ भी पुरुष-मात्र आत्मा है, प्रकृति का पति ईश्वर नहीं। वस्तुतः यह काल बहुदेववादी होने के कारण विभिन्न देवों को जानता था और प्रत्येक देव की उपासना के समय देवाधिदेव कहकर पूजता था। दार्शनिक ईश्वर का तब तक नाम ही कोई नहीं जानता था, ईश्वर परमेश्वर (पृ० ७७, ८१, ८३) आदि शब्द दार्शनिक रूप में नितांत अनजाने थे। इसी प्रकार 'माया' (पृ० ७८) शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद में दार्शनिक शंकरादि वाले सत्याभास के सम्बन्ध में कहीं नहीं हुआ है, दैत्यों के जादू आदि के अर्थ में हुआ है। हमारा कवि 'माया' को शुद्ध दार्शनिक रूप में लेता है।

'आत्मा' की देह से भिन्न स्थिति ऋग्वैदिक परम्परा की नहीं, उपनिषदों और उनसे दुही हुई भगवद्गीता की है। आत्मा का तो संभवतः ऋग्वेद में उल्लेख तक नहीं। यह कवि का अपना क्षेप है (पृ० १२२) जिसके साथ ही वह गीता-सम्बन्धी अन्य विचारों को भी अपनी दार्शनिक लपेट में ऋग्वेदकालीन पुरूरवा के संदर्भ में खींच ले जाता है। 'कर्म-अकर्म' की व्याख्या (पृ० ८०) 'निष्काम कामसूत्र' (पृ० ८६), आदि स्थल गीता के विषय हैं जो 'उर्वशी' की कालभूमि से सहस्रों योजन दूर हैं। इसी प्रकार पृ० ८० पर 'विधि निषेध' का निरूपण भी तब तक सार्थक नहीं हो सकता जब तक कवि उन धर्मसूत्रों-गृह्यसूत्रों-

कल्पसूत्रों का कालमंजक वर्णन न कर रहा हो, जिनमें प्राचीनतम छठी-पाँचवीं सदी ई० पूर्व के बौद्धायन और आपस्तंब के हैं। पृ० ८७ पर तो कवि ने मध्यकालीन और उससे पूर्व की गीताकालीन, साथ ही उसके पश्चात् प्रायः आज की शोधित वैष्णवधर्म की, व्याख्या प्रस्तुत कर दी है :

सत्य, स्यात्, केवल आत्मार्पण, केवल शरणागति है।
उसके पद पर, जिसे प्रकृति तुम, मैं ईश्वर कहता हूँ ॥

स्यात् के बावजूद, जो इन पंक्तियों में वैष्णव विश्वास की असंदिग्ध शक्ति है, उसके परे आज की बहस की भी ध्वनि कवि ने निचली लाइन में प्रकृति और ईश्वर के भेद द्वारा प्रस्तुत कर दी है, वस्तुतः उस 'स्टैंड' को जो १८वीं सदी में 'नेचर' के सम्बन्ध में 'डेइस्ट' वोल्तेयर ने लिया था। और पृष्ठ ८२ की यह 'आदिभित्ति' क्या बला है ? लगता है, जैसे, कवि उस अवर्णनीय 'आदि-भित्ति' के भी आरपार देख लेता है, यद्यपि उसकी इबारत को वह पेच देकर दार्शनिक विज्ञप्ति की तरह प्रस्तुत करता है।

और, अन्त में, अनाख्येय जो आदिभित्ति आती है, काश कि कवि अपना यह 'ज्ञान का केंचुल' उतार फेंकता जिसका उल्लेख उसने पृष्ठ ११५ पर बड़ी सूझ-बूझ से किया है। दर्शन के सम्बन्ध में कवि ने जो बकवास विशेषकर पृष्ठ ७७-९२ पर प्रायः १५ पृष्ठों के परिमाण में की है वह वागाडंबर और शब्दजाल का अद्भुत उदाहरण है, मात्र प्रलाप, असीम कचरा।

इसी सिलसिले में काव्य में दार्शनिक दृष्टिकोण की भी कुछ चर्चा मुनासिब होगी। पहले तो प्रश्न यह है कि काव्य में जीवन-दर्शन से भिन्न मात्र चिंतन दर्शन (स्पेकुलेटिव पोलेमिक्स) अपेक्षित है ? हिन्दी में इधर कुछ विशेष काव्य-साहित्य के दर्शन लिखने की प्रकृति की नहीं, जैसे लाचारी भी जग पड़ी है। यह न तो पूर्व की परम्परा है न पश्चिम की, न संस्कृत की और न हिन्दी के ही सूर, तुलसी आदि विशिष्ट कवियों की। साहित्य दर्शन से भिन्न रस द्वारा अभि-व्यंजित रचना-विधा है। दर्शन उसमें रस-भंग उत्पन्न करता है। मुझे लगता है कि काव्य यदि दर्शन के कारण विशिष्ट है तो निश्चय ही उसका काव्यत्व निकृष्ट है, वैसे ही यदि दार्शनिक कृति अपने काव्यगुण के कारण विशेष प्रशंसित है तो निश्चय ही उसका दर्शन निकृष्ट है। दर्शन की ही तथाकथित विशिष्टता प्रसाद की 'कामायनी' का मानदंड बन गई है, उसके दर्शन की ही अधिक, काव्य की कम, चर्चा हुआ करती है। 'कामायनी' काव्य की दृष्टि से घटिया कृति है और जहाँ तक दर्शन की बात है, मुझे एंगेल्स की बात दोहरानी पड़ेगी। वैसे, दर्शन पढ़ने के लिए कामायनी की अपेक्षा दर्शन की दिशा में सर्वथा शून्य व्यक्ति ही करेंगे। यही बात 'उर्वशी' के सम्बन्ध में भी कहना चाहूँगा, यानी कि वह भी अधिकतर दर्शन के प्रदर्शन के लिए ही, और इस दिशा में 'कामायनी' से बाज़ी

मार ले जाने के लिए लिखी गई है, फर्क इतना है कि जहाँ उसमें भाषा की रवानी कामायनी से बेहतर है, 'कामायनी' का तथाकथित दर्शन उसकी भाषा के साथ कसा हुआ है, 'उर्वशी' में अप्रासंगिक रूप से इस कदर घटिया, अकारण कथानक के संदर्भ के परे का प्रकृति-पुरुष, आत्मा-परमात्मा का अति सामान्य उद्‌गिरण हुआ है कि यदि उसे काव्य से सर्वथा निकाल दिया जाय तो भी जो 'उर्वशी' का काव्यत्व है उसको क्षति न पहुँचे।

पर प्रश्न तो यह है कि उच्छिष्टवमन की आवश्यकता क्या थी ? इस अनन्त चर्वित-चर्वण के बिना काव्य का कौन-सा उल्लास अपूर्ण रह जाता ? अज्ञानियों के ऊपर सम्भवतः इससे कुछ प्रभाव पड़ जाय पर जो दर्शन और साहित्य को जानने वाले हैं उनके लिए तो 'उर्वशी' अत्यन्त भौंडा और फूहड़ तत्वबोध, तत्वबोध अगर वह है, प्रस्तुत करती है।

फिर प्रश्न यह है कि 'उर्वशी' का यह रूप क्यों ? उसकी तो सृष्टि ही पौराणिक परम्परा में इसलिए की गयी है कि मृत्यु के परे भी 'अभिलाख' का जीवन जिया जाय। वह जीव्य-कामना की 'व्याप्ति' के सन्दर्भ में रची गई है। इस देश का सारा साहित्य, रवींद्र तक, इसी कारण उसके माँसल छलिया रूप को साधता है, उसी वंचक रूप की ओर ऋग्वेद ने भी संकेत किया है, उसकी कामुकता और रस-सृजन की अनन्यता के साथ 'उर्वशी' के कवि 'दिनकर' ने अपने वृहन्नला संभव पुरूरवा की भाँति ही व्यभिचार किया है। फ्रांस में एक कहावत है कि रूसो ने अपनी प्रेयसी से, उसके सामाजिक प्रश्नों को यह कहकर चुप कर दिया था कि 'मदाम, मेज पर तर्क, पर्यंक पर केलि, कृपया।' मैं पसन्द करता अगर पुरूरवा की लफ़्फ़ाज़ी उर्वशी इस एक वाक्य से बन्द कर देती।

ना, पर हमारा कवि क्यों चूके और इस दर्शन के देश में, दर्शन की बहती गंगा में अपने हाथ भी क्यों न धो ले ? शब्द में गाँठ देकर बोलने की तो यहाँ परिपाटी ही रही है, और कवि स्वयं कहता भी है :

स्पष्ट शब्द मत चुनो, चुनो उनको जो धुँधियाले हैं, (पृ० ६२)

अब बताइये जहाँ यह संकल्प और 'प्रतिज्ञा' है वहाँ 'पूर्वपक्ष' झख न मारे तो और क्या करे ? इसी कारण कवि पुरुष को पुरुष नहीं मानता, नारी को नारी नहीं मानता (पृ० ६२, १५० और 'ख'), बल्कि 'पुरुष के भीतर एक पुरुष' और 'नारी के भीतर एक नारी' मानता है। समझदार दार्शनिक एक सादी-सी बात पूछेगा कि जो पुरुष के भीतर पुरुष है वही उसके पुंस्त्व का परिचायक पदार्थ क्यों नहीं और जो नारी के भीतर नारी है वही उसके नारीत्व का परिचायक पदार्थ क्यों नहीं, दोनों का स्वभाव ही उनके अपने-अपने अनुकूल रूप का स्रष्टा क्यों न माना जाय जिससे यह दो चेहरे वाली बात कहने की ज़रूरत न पड़े ? पर मुश्किल तो यह है कि दो चेहरों को हमारा कवि दोष न मानकर,

अनिवार्य आवश्यकता मानता है—'युक्ति तो यही कहती है कि नकाब पहनकर असली चेहरे को छिपा लेने से पुण्य नहीं बढ़ता होगा, फिर भी हर आदमी नकाब लगाता है, क्योंकि नकाब पहने बिना घर से निकलने की, समाज की ओर से मनाही है' (पृ० 'ज')। वस्तुत: काव्य का, लगता है, कवि की राय में, अंकर्गत अंश जितने महत्त्व का है उतने ही महत्त्व की उसकी भूमिका है। पर भूमिका की ओर से हाथ खींच लेना ही मुनासिब है वरना उसको तार-तार कर देना समीक्षक का कर्तव्य हो जाएगा। बस इतना ही कह देना पर्याप्त है कि जो दृष्टिकोण 'फिज़िकल को लाँघकर मेटाफिज़िकल' (पृ० 'ड') में प्रतिष्ठित होता है वह उस प्रतिष्ठा की ओर इशारा न कर कवि के छलवाद की ओर इशारा करता है।

चरित्रचित्रण : 'उर्वशी' के प्रधान पात्र तीन हैं, स्वयं उर्वशी, पुरूरवा और औशीनरी। इनमें पुरूरवा और उर्वशी नायक-नायिका हैं और औशीनरी राजा की दोनों द्वारा वंचिता रानी है। शेष सारे चरित्र वस्तुत: चरित्र नहीं, मात्र सूचना के अवलम्ब हैं—निपुणिका, अप्सराओं से कंचुकी तक। वैसे काव्य का रूप नाटक का-सा होने के कारण मंच पर उनका साकार दिख जाना स्वाभाविक है। उर्वशी अन्य अप्सराओं से तनिक भी भिन्न नहीं, सिवाय इसके कि वह उनका ही लंबीकृत व्यक्तित्व है, जैसे रटाया हुआ तोता। पर उस दृष्टि से उससे कहीं बड़ा तोता पुरूरवा है, जो पहले कामविद्ध सहज कपोत है फिर विरत किन्तु प्रगल्भ तोता होकर रह जाता है।

औशीनरी हतभागिनी है और इस देश के समूचे इतिहास में नारी के उस ऋग्वैदिक अत्यन्त प्रकर्ष काल में भी नितांत उपेक्षित है जो स्थिति, संस्कृति के जानकार को अमान्य होगी। जहाँ शची पौलोमी की तरह पत्नी अपनी सपत्नियों को प्रतारित कर दृप्त वाक्य बोलती हैं—अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्राविकाचिनी—जहाँ संसार के साहित्य में अप्रतिम वाक् घोषित करती है—अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शूरवे हन्तवाउ अहं जनाय समदं्कृणोमि अहं द्यावा पृथिवी आविवेश—वहाँ औशीनरी पातिव्रत का रोना रोती है, नारी के दुर्भाग्य को कोसती है, चांद्रायण और पतिप्रसादन व्रत करती है (देखिए पृ० २९, ३३, ४०)। शायद यह इस कारण कि कालिदास ने इन सारी स्थितियों का वर्णन किया है, यद्यपि जहाँ 'उर्वशी' का अशिष्ट और कृतघ्न पुरूरवा अपने गंधमादन के विलास के अवकाश में औशीनरी को उसके दुःख में अपने सुख-संवाद भेज उस पर निर्मम व्यंग्य करता है, कालिदास का राजा अपनी परिस्थिति से मजबूर, जैसे लजाकर, अत्यन्त कोमल पदावली में अपनी पत्नी का दुःख आंशिक रूप से हरता है :

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकांक्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥

और हमारा कवि, उसके बावजूद, नारी के स्वभाव का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है (पृ० १५५, १५८, १६३, १६४) उसके अधिकारों को गँवा देने पर आँसू डालता है (पृ० १६४) और हास्यास्पद रूप से, जैसे अंग्रेजी के माध्यम से, स्वर्णिम भविष्य (पृ० १६५) की पवित्र कामना करता है।

कथानक : इस प्रसंग पर कुछ विशेष नहीं कहना है क्योंकि बहुत-कुछ ऊपर दूसरे सन्दर्भों में यह अनायास आ गया है। इतना ही कह देना काफी होगा कि कथानक ऋग्वेद के दसवें मंडल, ९५ सूत्र, से चलकर कालिदास की 'विक्रमोर्वशी' और सन् '४० में प्रकाशित कहानी-संग्रह 'नवेरा' के 'विक्रमोर्वशी' की राह भटकता 'उर्वशी' तक पहुँचा है। पुरूरवा का काममद, उसके कामोत्तेजक बीज, अथवा कारण के प्रति जिज्ञासा—उससे उसकी विरक्ति नहीं—मानव के अंशायित क्षणिक सुखवाद, प्रसाधन में 'लीलाकमलं' आदि का एकांत वर्णन हिन्दी की उस 'विक्रमोर्वशी' कहानी में हुआ है, जिसके मूल सन्दर्भों को 'उर्वशी' के प्रकाश में उद्धृत करने के लिए, इस लम्बी समीक्षा के बाद न तो अवकाश है न कामना।

चलते-चलते एक बात जरूर कहना चाहूँगा, जो कवि की 'भूमिका' के अन्त से सम्बन्ध रखती है, जहाँ वह कहता है—

"किन्तु उस प्रेरणा पर तो मैंने कुछ कहा ही नहीं जिसने आठ वर्ष तक ग्रसित रखकर यह काव्य मुझसे लिखवा लिया।

अकथनीय विषय।

शायद, अपने से अलग करके मैं उसे देख नहीं सकता, शायद, वह अलिखित रह गई, शायद, वह इस पुस्तक में व्याप्त है।" (पृ० 'ज')

इस ओर आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है। इष्ट और अभिप्रेत यही है, मैं कवि को बता दूं, जो उसने अपने ही प्रकाशन के बावजूद 'मणिकुट्टिम' की भाँति, अधिकार के एकांत भोग के लिए, सभी स्वत्व लेखक के अधीन उल्लेख द्वारा किया है—निःसन्देह यूनिवर्सिटियों के पाठ्य-क्रमों के माध्यम से राज्यों के उत्साहवर्द्धक (!) पुरस्कारों से 'धारासारोपनयनपरा नैगमास्त्राम्बुवाहाः' वाली सम्भावना है उसकी इस कृति की।

२

धूप का टुकड़ा

यह पंजाबी की यशस्विनी कवयित्री अमृता प्रीतम के कविता-संग्रह का अनुवाद है। अनुवाद श्री देविन्दर ने किया है। संग्रह 'धूप का टुकड़ा' में ४४ कविताएँ संग्रहीत हैं। तीन खण्डों में विभाजित, २३ पहले में, १२ दूसरे में, ९ तीसरे में।

अमृता प्रीतम के दो उपन्यास पढ़े थे, 'डॉ० देव' और 'पिंजरे'। अच्छे लगे थे। उनकी कविताएँ जब-तब पत्र-पत्रिकाओं में छपीं पढ़ने को मिलती रही हैं। पर शायद उनकी कविताओं का बड़ा संग्रह यह पहली बार हिन्दी में अनूदित-प्रकाशित हुआ है।

संग्रह हाथ में आया, एक कविता पढ़ी, फिर दूसरी, फिर तीसरी, और फिर तो जैसे मन पर अधिकार न रहा। पढ़ता ही चला गया, और संग्रह समाप्त करके ही उठा। एक बार पढ़ा। दो बार और तीन बार पढ़ा, फिर अनेक कविताएँ कई-कई बार पढ़ीं। मन मथ और मोह गया। सोचने लगा, क्या हमारी हिन्दी में इन कविताओं-सा कुछ है ?

हो कैसे ? जब कवि का मन स्थितियों-परिस्थितियों से, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से, मजबूर कर देने वाली अनुभूतियों से क्षुब्ध, विकल या मुग्ध होता है तब मानस में कविता की लहर उठती है, और भावधनी कवि के हिय में विष या अमृत के सोते फूट पड़ते हैं। बिना लाचार कर देने वाली अनुभूति के कविता में मनस् और हिया बँटे रहते हैं, बोध और मरम एक-दूसरे से दूर जा पड़ते हैं। मात्र संयोजन संज्ञा पर चोट करता है, अन्तर को पिघला नहीं पाता। कवि अपने प्रति, जिनसे कहना चाहता है उनके प्रति ईमानदार नहीं रह पाता। इस संग्रह की कविताओं के प्राण इसके मरम में बसते हैं, कवयित्री के अन्तर को अनुभूति मथती है, विकल कर देती है, और वह पिघल पड़ती है, क्षुब्ध सबल व्यंग्य की चोट करती है, या मर्माहत पुकार उठती है। उसके भावों और उन्हें प्रकट करने वाली भाषा में कृत्रिमता की ओट न होने से दोनों

अन्योन्याश्रित वह चलते हैं। दोनों में कभी व्यवधान नहीं हो पाता, जो औरों के लिये समस्या बन जाता वही कवयित्री की शक्ति बन जाता है, अन्विता चितेरे की चेरी बन जाती है। अन्तर में जैसे पौ फट पड़ती है। सुबह की लाली हज़ार किरनों अन्तराल की 'हर सुन्दर खाई' उजागर कर देती है।

ऐसी कविताएँ, ऐसी सहज अकृत्रिम भाषा में सजी कभी पढ़ने में नहीं आयीं। प्रसाद का प्रकाशन कवियों का निकष है, प्रमाण की कसौटी, भावप्रकाश की विधियों में सबसे कठिन, पर ईमानदार कवि का सहज हस्तामलक। और यह सहज 'कामनप्लेस' नहीं, कठिन की पराकाष्ठा है, विषम और गूढ़ की परिणति-'सिम्पुल, द कलिमनेशन ऑव द कम्प्लेक्स'। कवयित्री की भाव-भाषा इतनी ही सहज है जितनी उसकी अवधारणा-अनुभूति मर्मंहर है, उतनी ही उसकी अन्विता तूलिका-साध्य है, उतना ही उसका प्रभाव व्यापक है।

कविताएँ 'नावक के तीर' हैं, 'देखन में छोट लगैं, घाव करैं गंभीर'।

याद का एक पहलू कितना चुटीला है, किस अछूती उपमा से वह अभिव्यक्त हुई है, कितनी सहज सारवान है, सुनिये :

मैं दिल के एक कोने में बैठी हूँ
तुम्हारी याद इस तरह आई
जैसे गीली लकड़ी में से
गाढ़ा कड़ुवा धुआँ उठे

एकान्त यह इतना बीहड़ है कि 'दिल' की निर्जन सत्ता भी जैसे जन-संकुल हो उठती है जिससे वह उसके दूर के कोने में जा बैठती है। और याद ऐसी आती है कि सहसा जला भी नहीं पाती, गीली सुलगती-सुलगाती है, धुआँसी झुलस देती है। जहाँ सारा आलम उमड़ पड़ा हो, जिस्म से जिस्म छिलता हो, वहाँ भी 'मन' नितान्त अकेला हो जाया करता है और तब वह याद अपनी भूमि से उठ कभी 'कड़ुवा धुआँ' बन सकती है, कभी 'धूप का टुकड़ा' :

अँधेरे का कोई पार नहीं
एक खामोशी का आलम है
और तुम्हारी याद इस तरह
जैसे धूप का एक टुकड़ा

परकीया का एक 'कन्फ़ेशन' बेनज़ीर बेबसी का इज़हार करता है, न उसमें कोई शिकायत है न मलाल, बग़ैर किसी औरस दावे के जो 'वह' अपने रक्तों में अनौरस प्यार की सुगन्ध भर लेती है उसमें औरस रचा जाता है। कौन है जो इस विथा को, इस अबोली फ़रियाद को झेल जाए?

हथेलियों पर इश्क़ की
मेंहदी में कोई दावा नहीं

हिज्र का एक रंग है
और तेरे ज़िक्र की एक खुशबू
मैं, जो तेरी कुछ नहीं लगती

पर राधा ही कन्हैया की कौन लगती थी, और, पर रुक्मिणी-कृष्ण की माला किसने फेरी ?

और याद में जब वह गीत लिखने चली तब प्यार ने भी भीतर-बाहर रंग दिया :

जब मैं तेरा गीत लिखने लगी
कागज़ के ऊपर उभर आईं
केसर की लकीरें—

जैसे सहसा किसी की याद आ जाय और रंगों पर चाँदनी-सी छा जाय। 'तू नहीं आया' कविता जैसे ऋतुओं की पोर-पोर उतरती है, प्रोषित-पतिका का परदेसी में लगा मन एक ओर कालिदास के नागर अभिजात आकलन से होड़ करता है, दूसरी ओर लोकगीतों की ताज़ी अकुलायी दुनिया, बारहमासे की विधा में जैसे, आँखें देहरी पर लगाये गायिका के अन्तर में उतर आती है :

चैत ने करवट ली
रंगों के मेले के लिए
फूलों ने रेशम बटोरा
तू नहीं आया

जी चाहता है कि समूची कविता लिख दूं, पर ना, बस एक चावल :

दोपहरें लम्बी हो गईं
दाखों को लाली छू गई
दरांती ने गेहूँ की बालियां चूम लीं
तू नहीं आया

पुश्किन की जैसे नई धरती अपनी सुवास के साथ कवयित्री प्रवासिनी प्रतीक्षिका की याद में अँगड़ा उठी। पर ना, पुश्किन की याद तो समीक्षक का भ्रम है, कवयित्री का यह विन्यास तो उसका अपना है, अनायास सहज अथ से इति तक अपना, कारण कि उसकी हर कविता में इसी अन्दाज़ का दरिया रवाँ है :

बादलों की दुनिया छा गई
धरती ने दोनों हाथ बढ़ा कर
आसमान की रहमत पी ली
तू नहीं आया

ऋतु ने एक टोना कर दिया
चाँद ने आकर
रात के माथे झूमर लटका दिया
तू नहीं आया

कितनी ताजगी है इन लाइनों में! 'रात के माथे झूमर लटका' देने में किस नाजुक, कितनी सुकुमार, अभिसार को इस मदिर गायिका ने छू दिया है। एक समूचा साल जैसे लमहे-लमहे मौसम-मौसम गुजर गया—'चैता की चाँदनि रतियाँ' आयीं और गयीं, वसन्त भरा और झरा, निदाघ तपा, दोपहरी के साये लम्बे हो गये, दाखों की तुरशी लाली की परस से पककर मधु हो गयी, गेहूँ की बालियाँ पकीं, चूमी गयीं दाँतों-भरी हँसिये की धार से, पर तू कि नहीं लौटा, और कि निदाघ तपा और पावस बरस गया, झरता आसमान और उमँगी धरती एक हो गये, शरद, अमा के अभिसार के बाद, अम्बर में चटकार उतरा, चाँद ने रात के माथे झूमर बाँधा, पर तू नहीं आया। इन आखिरी चार लाइनों की मर्महर कोमलता को कोई हजार आँखों साहित्य में खोजे।

प्यार की राह के काँटों के क्या कहने! जो बेरोजगार बैठा है वह भी उसे छेड़ बैठता है, उसी काया में लहरें उठाने लगता है। और तब तो बस 'आदि कवि' की कल्पना की, क्रूर व्याध की, क्रूरतर अभिशाप की याद आ जाती है। पर कवयित्री शाप देती नहीं, 'जा तेरा भला हो', जैसे कहकर अपना अन्तर उघाड़ देती है। 'बसने परिधूसर वसाना' व्रतिनी धरती बल खोलने वाली है पर थाली कैसे परसे जब गीतों का धान कूटते ओखली काँप रही है, धान कूटते हाथों के साथ ही। जिसमें काँपकर जैसे प्यार की मारी व्रतिनी पूछ रही है:

किस पापी ने तीर चलाया
इश्क का जंगल सहम गया है
डरते डरते भाग गई है
यादों की मिरगावली

निश्चय प्यार के सपनों का एक जंगल होता है, घना और गहरा, जिसका ताँता नहीं टूटता, पर सपने सच कब हो पाते हैं? मृग-मरीचिका अगर कहीं सच हो पाती तो प्यार के जगते सोतों से बँदलदह नहीं उमड़ पड़ते।

और जरा 'जख्म' (गुणन) 'हादसे' की अनगिन वृद्धि का एक नया अन्दाज सुनें:

एक हादसा, एक जख्म
एक टीस दिल के पास थी
सितारों की रकम ने
रात को उसे जन्म दे दी

तनहाई की एकाकी तकलीफ़ को रात और तारे किस कदर बढ़ा देते हैं, पर उस जूठे बयान को अमृता हाथ नहीं लगाती जिसमें आहों के तारे आसमान में सूराख बनाते हैं, वह अपनी सूझ से उसे मुखर करती है। एक हादसा था, एक ज़ख्म था, एक टीस थी, बस एक, दिन का धन, पर सितारों की अनंत रकम ने, अनगिन अदद ने रात के एकाकी में उसे ज़रब देकर बेहद बढ़ा दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' बन गया और जो क्रिया कभी फलित होकर समृद्ध करती वही प्रतिफलित होकर अंकघातिनी हो उठी।

'रात मेरी' में वह तकलीफ़ एक अजब दीवानापन धारण करती है जब चोट के ज़ख्म का रुतबा घायल बेपरवाह घटा देता है, दर्द को समूचा झेल जाने की चुनौती के सामने टाँकों की क्या बिसात? :

मेरे इश्क के ज़ख्म
तेरी याद ने सिये थे
आज मैंने टाँके खोलकर
वह धागा तुझे लौटा दिया

पर रात गुज़र जाती है, जैसे दर्द गुज़र जाता है. जब आशा की पौ फटती है :

यह रात आज क्यों ठिठक गई
सियाही भी कुछ काँप रही
कहीं किसी विश्वास का
शायद जुगनू चमक उठा

'अन्नदाता' की मजलिस बेज़बान जानों की तड़पती असमत को बेकाबू कर जाती है, पर असमत नंगी उघड़ी काया को खरीदार को सौंप प्यार की लाज उस तेवर से बचा जाती है जिसे दौलत नहीं खरीद सकती :

अन्नदाता।
मेरी जबान
और इन्कार?
यह कैसे हो सकता है।
हाँ…प्यार…
यह तेरे मतलब की शै नहीं

इसी माहौल के एक शहर का रवैया देखिए—व्यंग्य की इस चोट की कोई मिसाल नहीं है :

किसी मर्द के आगोश में
कोई लड़की चीख उठी
जैसे उसके बदन से कुछ टूट गिरा हो

थाने में एक कहकहा बुलन्द हुआ
कहवाघर में एक हँसी बिखर गई

सड़कों पर कुछ हॉकर फिर रहे हैं
एक-एक पैसे में खबर बेच रहे हैं
बचा-खुचा जिस्म फिर से नोच रहे हैं।

हमारे समाज, कानून के रखवालों और कहवाघरों के बैठकबाजों पर किया यह बेनज़ीर व्यंग्य काश कि उन तक पहुँच पाता !

और कई बार तो यह अनुपम अमृता खुसरो और कबीर का बाना धारण कर लेती है। भावना पहेली का रूप धारण कर लेती है और जैसे अनहद के नाद में भीतर का कोलाहल बाहर उमड़ पड़ता है, सूफियों के अन्दाज़ में जैसे :

अम्बर आशिक औंधा बैठा
आज धुन्ध का हुक्का पिए
सूरज का एक कोयला लेकर
लौकें खींचे और बुझाए

'सवेरा' की इस हल्की-फुल्की भाषा में गहरे विचार की अभिव्यक्ति, और अचरज की भाषा उसका भार निश्छल वहन कर रही है। पर इससे कुछ कम अन्दाज़ की वह 'कुफ्र की बात' नहीं जिसमें कवयित्री ने 'एक दुनिया' बेचकर 'एक दीन' खरीद लिया। उसी कुफ्र के सिलसिले में पढ़िये :

सपनों का एक थान बुना था
एक गज़ कपड़ा फाड़ लिया
और उम्र की चोली सी ली

सपनों का थान कितना लम्बा, उम्र की चोली कितनी छोटी, बस एक गज़ कपड़ा। 'दावत' कहानी की यह तीन लाइनें, जैसे कबीर की हों, पर निहायत सुथरी—ज्ञान की दृष्टि से सूरज कवि, उसको पल्लवग्राही संज्ञा में दर्शन पढ़ने-खोजने वाले तनिक सतर्क होकर पढ़ें :

कल्पवृक्ष की छाँव बैठकर
कामधेनु के छलके दूध से
किसने आज तक दोहनी भरी।

और,

दूर सजन और राह दुहेला
आप गुरु और आप ही चेला
तीसरी कसम खाने की बेला।

इतना है, कुछ सचमुच इतना कि काग़ज़ चुक जाय और बात न चुके। पर अब बन्द करता हूँ जिससे मिठास एक-साथ बहुत ज़्यादा न हो जाय। अमृता प्रीतम आधारतः रोमैंटिक कवयित्री हैं। उनके राग और उसे मुखर करने वाली गिरा से घना प्रभावित हुआ। जिस अभिजात नागर के गायन में गाँव और धरती का टटकापन है वह गायन कभी बासी नहीं हो सकता।

एक शब्द अनुवाद पर भी। सही पंजाबी और हिन्दी की परस्पर दूरी कुछ इतनी कम है कि अनुवाद और मूल का सान्निध्य कायम रखने में कुछ अस्वाभाविक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। पर निःसन्देह अनुवादक ने उसी सान्निध्य को प्रभावशाली बनाने का तत्पर प्रयत्न किया है। यह अनुवाद से प्रकट है। कवि की भाषा और भावों को यथातथ्य अनुवाद में कायम रख सकना अनुवादक की शक्ति का परिचायक है, इस सफलता पर मैं श्री देविन्दर का साधुवाद किये बग़ैर नहीं रह सकता।

राजकमल प्रकाशन ने जो यह नये क्षेत्र में पदार्पण किया है उसका मैं स्वागत करता हूँ। कविवर पन्तजी के विनय ने कवयित्री से जो अपनी 'भूमिका' द्वारा हिन्दी पाठकों का परिचय कराया है वह भी स्तुत्य है। संग्रह निश्चय हिन्दी कवियों के लिए चुनौती भी है, मिसाल भी।

३

तीन कविता-संग्रह

महज़ इत्तफ़ाक की बात है कि दो सर्वथा विरोधी विषयों और एकान्तभिन्न शैलियों के कविता-संग्रहों का मुझे एक साथ आलोचन करना पड़ रहा है। दोनों प्रकार के संग्रहों का नखशिख प्रायः एक ही युग में प्रस्तुत होकर भी उनके दर्शन एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उनके वर्ण्य विषय, भाषा, अनुभूति, सभी दो प्रकार के हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के कवि रामधारीसिंह दिनकर की आयु ५५ से ऊपर है, 'अंकुर की कृतज्ञता' के स्रष्टा दिनकर सोनवलकर की ३० वर्ष और 'ओ आकाशी' के रचयिता संतोष कनोड़िया की २४ वर्ष है। दिनकर चौथाई सदी से प्रायः ऊपर हिन्दी में कविकर्म करते रहे हैं और उसके प्रधान कवियों में गिने जाने लगे हैं। शेष दोनों के कविता-संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशन की दृष्टि से शायद उनकी पहली कृतियाँ हैं।

'परशुराम की प्रतीक्षा' में १८ कविताएँ हैं, जिनमें से ३ 'सामधेनी' से ली हुई हैं, शेष १५ स्वतन्त्र और, संभवतः, नयी हैं। कवि का कहना है कि 'सामधेनी' से ली हुई "कविताओं का असली समय अब आगया है" (दो शब्द)। कवि निःसंदेह अग्रसोची है जो अनागत भविष्य को अतीत में ही गर्भस्थ कर उचित काल आने पर उसका प्रसूतिलाभ अपने पाठकों को दे रहा है। कविताओं में से अधिकतर ऐसी हैं जो भले ही चीनी आक्रमण और तज्जनित भारतीय संकट को सामने रखकर न लिखी गयी हों, निःसंदेह उनका अन्तर जब-तब उस संदर्भ में घट जाता है। 'मेंकिंग वर्चू ऑफ़ नेसेसिटी' का यह ज्वलंत प्रमाण है—एका चेष्टा बहु्वर्यसाधिका।

इधर चीनी आक्रमण को लेकर अनेक कविताएँ लिखी गयी हैं जिनमें से कुछ निश्चय ही पर्याप्त प्रभावकर और समुत्तेजक सिद्ध हुई हैं पर अधिकतर ऐसी रही हैं जो अर्थवाद भी नहीं कुवाच्य मात्र होकर रह गयी हैं। दिनकर के इस संग्रह का स्तर बहुत-कुछ वैसा ही है यद्यपि उसकी उनसे अपेक्षा जानकारों को न थी क्योंकि, सुना है, वे युद्ध-सम्बन्धी कविताएँ लिखने में सिद्धहस्त हैं और

पिछले महायुद्ध के समय भी अंग्रेज सरकार के लिए बहुत-सी कविताएँ लिखी थीं। वस्तुतः 'एनार्की', 'समरशेष है', आदि कविताएँ तो हमारी सरकार पर जैसे प्रहार करती हैं। और, समझता हूँ, कविताओं के इस संग्रह की प्रतियाँ सरकार ही सबसे अधिक खरीदेगी। अब कविताओं के तथ्य पर एक नज़र डालें। उनकी शैली के संदर्भ में कुछ कहना व्यर्थ होगा क्योंकि वह 'भारत भारती' की शैली का ही अधिकतर प्रसार है। सुनिए :

> **पर, हाँ, वसुधा दानी है, नहीं कृपण है,**
> **देता मनुष्य जब भी उसको जलकण है,**
> **यह दान वृथा वह कभी नहीं लेती है,**
> **बदले में कोई दूब, हमें देती है।**

मनुष्य के भगीरथ प्रयत्न के उत्तर में वसुधा का 'कोई दूब' दान का औदार्य क्या कर्णवत् सराहनीय नहीं है ?

ये पंक्तियाँ 'भारत-भारती' से प्रायः चौथाई सदी बाद की हैं। मगर इस सूक्ष्म दर्शन से कहीं अधिक जो काव्य का काढ़ा—अलंकारशास्त्रियों ने कुम्भी आदि 'पाकों' की असाधारण परम्परा प्रस्तुत की है—तैयार हुआ है वह नीचे की पंक्तियों में है। वह, साथ ही, विजय के लिए तिलस्माती तावीज़ भी है (बुद्धि को दिमाग़ से उतार पहले दिल में ले जाइए, फिर उसे दिल की आग में घोल दिमाग़ पर उलटा चढ़ा ले जाइए)—

> **विजय चाहता है, सचमुच,**
> **तू अगर विषैले नाग पर,**
> **तो कहता हूँ, सुन—**
> **दिल में जो आग लगी है,**
> **उसे बुद्धि में घोल,**
> **उठा कर ले जा उसे दिमाग़ पर।**

यह काव्य है ! भारत की मानवीय भेड़ों को कवि शेर बना देना चाहता है, कहता है—

> **एक ही पंथ, तो भी आघात हनो रे।**
> **निःसत्व छोड़ मेषो ! तुम व्याघ्र बनो रे।**
>
> **एक ही पंथ अब भी जग में जीने का।**
> **अभ्यास करो छागियों ! रक्त पीने का।**

सारी भेड़ें एक साथ अगर शेर हो जाएँ तो शायद शेरों की शेरियत खत्म हो जाए, क्योंकि तब उनके आहार का ही अन्त हो जाए, यद्यपि छागियों के शेर हो जाने पर पीने के लिए रक्त का सर्वथा अभाव ही रहेगा। ऐसा

साहित्य किसी भी राष्ट्रभाषा को कलंकित करने के लिए पर्याप्त होगा। एक पंक्ति है :

पीयूष चन्द्रमाओं को पकड़ निचोड़ो।

जो प्रत्यक्ष असत्य है, जो स्पष्ट असम्भव है उसकी ललकार क्या सचमुच कोई अर्थ रखती है ? एक पंक्ति पढ़िए :

धारा रोके यदि राह, विरुद्ध चलो रे।

अब बताइए, इसका क्या अर्थ किया जाए ? जिस राह जाना हो उस ओर यदि हमारी गति की धारा रुकने लगे तो हम उसे लाँघने का प्रयत्न न करें, क्या उल्टा चलें, यानी अपने संकल्प के विरुद्ध ? क्या चीनी आक्रामकों के संदर्भ में दर्वसीक्रम् की ओर बढ़ते-बढ़ते उनसे मुठभेड़ होते ही उनकी ओर पीठ कर दिल्ली की ओर चल पड़ें ? पर विश्वास दिलाता हूँ, हिन्दी इतनी बापुरी भी नहीं है। उसमें भाषा है, शैली की चुस्ती है, उत्तेजक अनुभूति की प्रक्षेपणीयता, चुटीली अभिव्यक्ति है, जिसके अनंत प्रमाण साथ के दिनकर सोनवलकर के संग्रह में प्रस्तुत हैं। काव्य, चाहे वह युद्ध के निमित्त ही क्यों न लिखा गया हो, मात्र कंठ फाड़कर चिल्लाना नहीं है :

मैं उतना ही कंठ फाड़, कुछ और जोर से,
चिल्लाता, चीखता, युद्ध के अंध गीत गाता हूँ।

चौराहे पर खड़ा जोर से चिल्लाता हूँ।

और नतीजा यह होता है कि जो गाना है वह अनगाया रह जाता है, कम से कम गीत हमको छू नहीं पाता। सोनवलकर के शब्दों में :

पर गीत जो दर्द बिसरा दे,
वह तो अनगाया रह गया।

वस्तुतः मैं तो उर्वशीकार से वही कहना चाहूँगा जो उसने स्वयं अपने से कहा है :

अरे उर्वशीकार !
कविता की गर्दन पर धर कर पाँव खड़ा हो।
हमें चाहिए गर्म गीत उन्माद, प्रलय का,
अपनी ऊँचाई से तू कुछ और बड़ा हो।

कविता की गर्दन पर भारी-भरकम जिस्म के पाँव पड़ते ही अभिव्यंजना की सूक्ष्मता काफ़ूर हो जाएगी। फिर मैं तो बस इतना कहना चाहूँगा कि अपनी ऊँचाई से कुछ और बड़ा न होकर कवि कुछ छोटा ही बने !

दिनकर सोनवलकर का यह संग्रह, 'अंकुर की कृतज्ञता', पढ़कर मैं गहरा तृप्त हुआ। समय-समय पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ पढ़ता रहा था। गहरी

अभिव्यक्ति, व्यंग्य का चुटीला ढंग, क़लम का राज़ छिटपुट जाना हुआ था, सो यहाँ एकत्र मिला, ४८ कविताओं के इस संग्रह में, जिसकी पंक्ति-पंक्ति बोलती है। शब्द-शब्द स्वानुभूति की गहरी अभिव्यक्ति है। 'हमीदन की बकरी', 'क्रान्ति, कथनी और करनी', 'दोहरे व्यक्तित्वों की गुलामी', 'इन्टेलेक्चुअल', 'नये कवि की शंका', 'प्रणय : नये आयाम', 'समकालीन रचनाकार के नाम' जैसे उत्कट व्यंग्य हैं; 'अंकुर की कृतज्ञता', 'दर्द कहाँ नहीं है', 'रीता दिन', 'तकदीरें', 'आस्था का मृगजल', 'अपना पराया', 'अनुभव', 'सुख दुःख', 'अपनी बात', 'हम', 'स्थिति बोध', 'अजनबी' आदि वैसी ही गहरी अनुभूति के परिचायक हैं। वैसे ही 'दीवाने आम', 'गली और रूमाल', 'पंछी का नीड़', 'गुलाब और काँटे,' 'अपरिचित को प्रणाम', 'चेहरे', 'समर्पण', 'दायित्व बोध', 'प्रतीक्षा', हमदर्दी के, स्थिति से उबरकर आशा के, प्रयास के, सबूत हैं। कवि को कवि और आलोचक से भी कुछ कहना है, मुनासिब ही, कालिदास और भवभूति को भी कहना पड़ा था— स्थूल हस्तावलेपान्···कालोह्ययंनिवधिर्विपुलाच पृथ्वी—पर सोनवलकर की आलोचक की आलोचना में अपना राज है और उतना ही बड़ा वह व्यंग्य भी है उन पर जो मम्मट के 'कान्तासम्मत' चर्वितचर्वण को तोते की तरह निरर्थक रटते रहते हैं और नयी कविता के भावशास्त्र विश्वनाथ के अनुशासन से साधना चाहते हैं।

'अंकुर की कृतज्ञता' नयी कविता दृष्टान्त संग्रह है—शब्दों की रवानी, भावों की उत्तेजित परम्परा, अनुभूत प्रश्नों के द्विधा भाव, अभिव्यक्ति की चुस्ती, पदों का अगोप्य संसार, शैली की निर्बंध धारा— नयी कविता। कला और साहित्य के दो पक्ष हो सकते हैं—उद्देश्यपरक और उद्देश्यहीन, पर कलासंज्ञक। उद्देश्य-परक कविकृति महत्तर हो सकती है पर उद्देश्यहीन कृति उद्देश्य से विरत होकर भी भावों की अभिव्यक्ति, शैली की चुस्ती और शिल्प के सौष्ठव से सम्पन्न कलाव्यंजक होने से त्याज्य नहीं हो सकती। जो आधुनिक कविता की आधुनिकता है वह अपने में भी, सोनवलकर के परिवेश में, स्तुत्य है। मैं सामाजिक यथार्थवादी हूँ, पर ख़ुश्चेव की भाँति नहीं, बल्कि पिकासो के आधुनिक कला के संदर्भ में अभिव्यक्त आधुनिक भावों को स्वीकार करता हूँ, कि वर्तमान कला, आधुनिक कला, व्यक्ति की अभिव्यक्ति है, और मैं नयी कविता को न केवल सह लेता हूँ बल्कि अनेकांश में पुरानी कविता की तुलना में उच्चतर सहस्रशः स्वीकार करता हूँ। प्रमाणार्थ दिनकर और सोनवलकर एकत्र प्रस्तुत हैं, 'परशुराम की प्रतीक्षा' और 'अंकुर की कृतज्ञता' के 'माध्यम' से।

यहाँ उद्धरण देने के लिए स्थान का अभाव है, पर शायद उसकी आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि संग्रह की पंक्ति-पंक्ति बोलती है, जो अनुभूति-सत्य अभिव्यक्ति है। सादे लफ़्ज़ों में अभिव्यक्त कितनी ताज़गी है, कितनी गहराई? कितना दर्द

कवि की अस्वीकृत अभिव्यक्तियों के कथन में है :

मेले में खोये हुए बच्चे की तरह,
मेरी अभिव्यक्तियाँ लावारिस भटकती हैं।

सुन्दर स्थलों के बाहुल्य से उनके उद्धरणों का लोभ संवरण कर रहा हूँ, केवल कवि के 'कलम के राज' के संकल्प की ओर संकेत करने के लिए चार पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा :

धन के आगे कभी,
जुल्म के आगे कभी,
जो झुकी नहीं,
कलम वह मेरी है।

पर एक-आध स्थल ऐसे भी हैं जिनकी ओर इशारा न करके रह जाना शायद कवि के तथ्य और कथ्य दोनों के प्रति अन्याय होगा। नयी पीढ़ी सदा स्वकुल की परम्परा उगाती है और बुजुर्गों की पीढ़ी सदा खोखले आदर्शों, कुंठा और विकृति की प्रतीक है अथवा दोनों वर्गतः एक-दूसरे के प्रकृत्यमित हैं, यह सर्वथा अग्राह्य है। यह दृष्टि सत्य से उतनी ही दूर है जितनी उन बुजुर्गों की दृष्टि, जो समझते हैं कि नयी कविता सत्यानुभूति अथवा तथ्य से कोरी है। इसी प्रकार, यह भी स्वीकार करना कठिन होगा कि दर्द और दुःख में ही जीवन का राज है, जिससे दर्द की स्थिति को, बगैर उसे बदलने का प्रयास किये, चुपचाप स्वीकार कर लिया जाए। मुझे प्रसन्नता है कि कवि ने अपनी 'प्रणय : नये आयाम' में नयी कविता लिखने वाले अपने समानधर्मा कवियों की निरंकुशता पर भी प्रहार किया है। निःसंदेह यह केवल साहस की ही बात न थी, रुचि की भी थी, कि कविता-विशेष के अभिसार-सम्बन्धी प्रसंग में सावित्रि कवयित्रियों के वास्तविक नाम लेकर उनसे प्रणय निवेदन किया जाए।

'ओ आकाशों', जैसा ऊपर कहा जा चुका है, संतोष कनोड़िया का यह पहला कविता संग्रह है। एक-आध बार, पर बहुत कम, मुझे इनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिली हैं। आज यह कविताओं का संग्रह देख प्रसन्नता हुई। पहले संग्रह की दृष्टि से निःसंदेह कविताएँ सुन्दर हैं। भाव कहीं उलझे हुए नहीं हैं, भाषा बोली जाने वाली, आसानी से समझी जाने वाली नयी पीढ़ी की है और कवि की सहज रोमांटिक प्रवृत्ति के बावजूद उनके उत्कर्ष की सहज ही आशा की जा सकती है। उनके प्रस्तुत संग्रह में ४० कविताएँ संग्रहीत हैं जिनमें अनेक बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। पहली ही कविता 'आईना' चीनी आक्रमण के संदर्भ में लिखी गयी है और कवि इनसान की क्रूर वहशत पर व्यंग करता है, इनसानियत का सही दावेदार बनकर, जब वह स्थिति की उपसंहार-स्वरूप कविता की अन्तिम पंक्तियों में कहता है :

सोचता हूँ पीड़ा से भर जाता हूँ,
अपनी ही शक्ल,
आइने में देखकर डर जाता हूँ।

निहायत सादी ज़बान में कविता कहता है :

जैसे चिर वरदान हो गया कवि का बन्धन
झूम उठा जैसे सपनों का मेरा नन्दन
क्या कुछ तुमने मुझे दिया है एक निमिष में
कैसे करूँ तुम्हारा बोलो तो अभिनन्दन !

भावों के साथ भाषा की सादी रवानी का एक दृष्टांत पढ़िए :

अभी हवा के चरण उठे थे, साफ़ गगन था।
अभी गीत की लय में डूबा हुआ पवन था,
अभी साँस में जीवन था लहरों-सा गतिमय,
मन का पंछी सपनों में ही मूर्त मगन था।

प्यार भरा स्वर लेकर जाने,
फिर कब कौन पुकारे !
क्यों हो इतनी दूर
धरा से जितनी दूर सितारे ?

क्षण भर स्वपन सजा कर मधुरे,
जीवन भर हम हारे।
तुम हो इतनी दूर
धरा से जितनी दूर सितारे।

नीचे उद्धृत पंक्तियों में उपालम्भ भी है, लाचारी की आत्मानुभूति भी :

ढल चुकी है साँझ काली रात आयी है अकेली,
जी रहा हूँ पर सफ़र में साथ आया है न कोई।
कौन बनता है किसी के प्यार का सम्बल यहाँ पर,
सोचकर हर बार चुपके से अँधेरी रात रोयी।

सच, अँधेरी रात रोयी कि अँधेरी रात का अकेला प्यार का सम्बलहीन मुसाफ़िर अपनी निर्जनता पर रोया। 'ज़हर के दाँत' की कुछ पंक्तियाँ उस व्यंग्य की सृष्टि करती हैं जिसके आधार की इस धरा पर कमी नहीं :

ज्ञान का आकाश है विस्तृत तुम्हारा
दृढ़व्रती तुम और कितने भव्य हैं सिद्धांत

किंतु छोटी बात मेरी मान लो तुम आज,
दया करके अब उखड़वा लो जहर के दाँत !

भाषा खराद पर है, भरपूर निखर चली है, यद्यपि जहाँ-तहाँ ऐसी लाइनें भी मिल जाती हैं :

बेसुध कोयलिया आम्रकुंज में गाती है

क्या 'अमराई' से काम बेहतर न बन जाता ?

बेसुध कोयलिया अमराई में गाती है।

हिन्दी के नये आयाम में इस नवजात का अभिनन्दन करता हूँ।

४

वासवदत्ता

'वासवदत्ता' पर नज़र पड़ते ही कुछ विजली-सी दौड़ गई। अतीत अन्तर में घुमड़-घुमड़ उठने लगा—भास की 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' स्मृतिपटल पर उठे, सुवन्धु की 'वासवदत्ता' एक बार कौंध गई, 'मेघदूत' की उज्जयिनी वाली 'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्' धीरे-धीरे हृदय में हिलने लगी, गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' के लावाणक नामक तृतीय लम्वक की दोनों तरंगों की वाढ़-सी आ गयी। हर्ष की 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' वरवस अपनी ओर खींचने लगीं। 'वासवदत्ता' मैंने उठा ली ; उसे खोला, जहाँ-तहाँ नज़र दौड़ायी। वह भास और सुवन्धु की 'वासवदत्ता' न थी, कालिदास की उदयनकथा की नायिका भी न थी और न थी वह गुणाढ्य और सोमदेव अथवा हर्ष द्वारा ही प्रसाधिता चण्डप्रद्योत महासेन की दुहिता ! वह थी पं० सोहनलाल द्विवेदी की अपनी, निराली 'वासवदत्ता' ! पढ़ चला मैं। वासवदत्ता वेश्या के साथ यह तो वुद्ध टपक पड़े !

मैं पढ़ चला। एक अजीव कुतूहल घर कर चला था। वहुरूपिये अमात्रिक पर लम्वे डग भरता चल पड़ा। एक साँस में :

'आज से वहुत दिन पहले की कहता हूँ वात—'

से लेकर

'हो गई मौन, कह पाई कुछ वात नहीं !'

तक पढ़ गया। और अन्त में यदि कवि की वासवदत्ता की हृदय-स्थिति के शब्दों में अपनी मानसिक-स्थिति का कुछ परिचय दे सकूँ तो मैं भी :

'हो गया मौन, कह पाई कुछ वात नहीं !'

एक वार विचार उठा—भला वुद्ध से वासवदत्ता का क्या सम्वन्ध ? 'वुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' के कुछ कथानक धीरे-धीरे मन में उठे, 'महावंश' और 'दिव्यावदान' के कुछ चरित भी याद आये। फिर भी वुद्ध और वासवदत्ता के सम्वन्ध की पहेली न सुलझा सका। कथा-भाग अपरिचित न था, परन्तु उसमें कुछ

अजीब ऐतिहासिक प्राण स्पन्दित होते जान पड़े। फिर पढ़ा :

'स्वर्णयुग का खिला था मधुर प्रभात भारत के प्राची में;'

इसे फिर पढ़ा—'भारत के प्राची में'—कुछ सहारा मिला, शायद जावा या बाली का जिक्र हो। 'भारत के प्राची में'—भारत के बाहर के पूर्व के किसी देश का सहज निर्देश होता है। फिर एक बार 'वासवदत्ता' पढ़ गया। अशोक के गुरु श्रेष्ठिपुत्र-गन्धिपुत्र उपगुप्त तिष्य का दीर्घ शरीर धीरे-धीरे इन लाइनों द्वारा विकृत आकार में उठ खड़ा हुआ। शायद बुद्ध की आत्मा ने भूत होकर उपगुप्त का कलेवर छीन लिया था। फिर यह भारत का प्राची कैसा? क्या यह कथा मथुरा की नहीं पाटलिपुत्र की है? परन्तु कवि ने कथा-प्रसंग में पाटलिपुत्र का नाम तो लिया नहीं—सम्भव है बहुत पश्चिम में बैठकर लिख रहा हो और उसे मथुरा पुरबिया-सी लगती हो। कुतूहलवश लौटा। शायद 'पल्लव' की भूमिका-सी कुछ लम्बी-सी मिल जाय—समाधान हो।

समर्पण पर नजर गयी—'भगवान्, ईश्वर-स्वरूप', 'ज्ञात होकर भी अपनी महत्ता के कारण अज्ञात', 'महामहिम महामना महर्षि, मदनमोहन मालवीयजी के तपोपूत पादपद्मों में''' ये सांस्कृतिक रचनाएँ जो उन्हीं के स्नेहांचल में प्यार-दुलार पाकर इतनी बड़ी हुई हैं'''काशी विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के ऐतिहासिक अवसर पर' समर्पित हुई हैं स्वयं कैसे अनैतिहासिक हो सकती हैं? 'भगवान्' सरीखे महामना के ज्ञानबोधी के नीचे जनित होने वाली यह 'पटिपदा' सचमुच ही नगण्य है। और वह भी काशी विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के ऐतिहासिक अवसर पर यह सर्वथा अनैतिहासिक मुहर! 'प्यार-दुलार' में बढ़े हुए बालक सदा बालक ही रह जाते हैं अथवा अधिकतर निकम्मे।

पृष्ठ उलट दिया, श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'शुभाशंसा' मिली। पढ़ा—'स्वच्छन्दतापूर्वक जिस प्रौढ़ता की ओर वह अग्रसर हो रहे हैं—' नजर रुक गयी। मन कुछ गुनने लगा—गुप्तजी ने कह तो दिया परन्तु आगे बढ़कर वे स्वयं अनर्थ कर बैठे। उन्होंने चारणों का बाना ले लिया। वासवदत्ता का पाठ सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए और उन्हें स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ की 'अभिसार' नाम की रचना का स्मरण हो आया। उस रचना का स्मरण शायद बहुतों को आया। रवीन्द्र के उच्छिष्ट ज्ञान से कितने ही कवि-उदर भरे हैं। स्वयं गुप्तजी के 'साकेत' पर रवीन्द्र की 'काव्येर उपेक्षिता' की छाप है परन्तु उन्होंने सत्य का गला न घोंटा। द्विवेदीजी यदि चाहते तो रवीन्द्र में ही उस कथा का वास्तविक नायक उपगुप्त तिष्य मिल जाता, परन्तु तब मौलिकता की साख कैसे रहती? वे रवीन्द्र से भी ऊँचे कैसे उठते? 'स्वच्छन्दतापूर्वक' वे बढ़ते चले गए। उन्होंने न जाना, आगे खन्दक है। अलेक्जेण्डर पोप ने क्या कहा था—जहाँ फ़रिश्ते रेंगते हुए काँपते हैं वहाँ बुद्धिमान् छलाँग मारते हैं!

पृष्ठ फिर उलटा। 'आमुख' में प्रविष्ट हुआ। कवि ने बहुत बड़ी प्रतिज्ञा की है, कालिदास की चुनौती 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्—' से कहीं बढ़कर, भवभूति के 'मालतीमाधव' के आठवें श्लोक से कहीं अधिक आत्मविश्वास के साथ। —'भैरवी में जहाँ इस युग की गतिविधि एवं प्रगति का चित्रण है, वासवदत्ता में वहाँ युग-युग की भारतीय संस्कृति के अंकित करने का प्रयत्न है।' कवि ने इस प्रतिज्ञा के साथ जिस ऐतिहासिक रूप को हमारे सामने रखा है वह ग़लत और झूठा है। अगर इस प्रकार के और भी ऐतिहासिक सत्य क़वि के गर्भ में उचक रहे हों तो वह उन्हें कसकर दबा दे। भ्रूणहत्या का वह दोषी न होगा। तोलस्तोय का भी नाम कवि ने लिया है। मैं भी उन्हें कुछ नाम दूंगा—तुर्गेनेव, दास्तॉएवस्की, गोर्की और श्लोखव, सोलेम ऐश, या कवि की अपनी रुझान का पुश्किन अथवा उससे भी निकट का बाइरन। ये नाम हैं जिनसे कवि सीखे। पर उनमें से एक भी ऐसा नहीं जो इतिहास का गला घोटता हो अथवा उसका मनन किये बिना उसकी घटनाएँ मौलिक बनाता हो।

आमुख के नीचे एक टिप्पणी है जिसे देख मैं इस पुस्तिका की अन्त की ओर झुका—'सन्दर्भ' पढ़ने। द्विवेदीजी ने इतिहासकार की लेखनी छीन ली है, 'आज से २००० वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध के समय में वासवदत्ता नाम्नी वेश्या अपने रूप-यौवन से पाटलिपुत्र को उन्मत्त कर रही थी।' इस वाक्य का एक-एक शब्द ग़लत है। जो राष्ट्रीय कवि होने का दावा करे उसे कम-से-कम अपना इतिहास तो मांज लेना चाहिए। आठवें दर्जे के लड़के को इससे कहीं सही इतिहास का ज्ञान होगा। कौन नहीं जानता कि बुद्ध ईसा से कोई पाँच सौ वर्ष पूर्व हुए? 'ऐतिहासिकों' को ठोकर लगाकर कवि ने अपनी स्वच्छन्द मौलिकता को बेलगाम छोड़ दिया। आज से २००० वर्ष पूर्व ईसवी सदी का आरम्भ होता है। उससे लगभग ६०० वर्ष पूर्व बुद्ध निर्वाण प्राप्त कर चुके थे और उनके लगभग २५० वर्ष बाद २७४ ई० पूर्व होने वाले अशोक के देशव्यापी शिलालेख खुद चुके थे, स्तम्भ खड़े हो चुके थे। यवन देशों में अशोक के मिशनरी पहुंच चुके थे, बौद्ध-धर्म सर्वत्र व्याप्त हो चुका था। लगभग १८४ वर्ष पूर्व ग्रीक-राज मिनेण्डर बौद्ध हो चुका था और पुष्यमित्र शुंग पाटलिपुत्र से जलन्धर तक के बौद्ध-विहारों को अग्नि की लपटों को समर्पित कर चुका था। इसके बाद कवि के बुद्ध जनमते हैं। वासवदत्ता की कविवर्णित कहानी स्वयं इस समय से लगभग २६० वर्ष पूर्व अशोक के गुरु उपगुप्त तिष्य के सम्बन्ध में घट चुकी थी।

यह तो हुई बुद्ध के २००० ई० पूर्व होने की बात, अब ज़रा पाटलिपुत्र के जन्म का रहस्य सुनिये। कवि ने उसे अपने जादू से समय से बहुत पूर्व ही उत्पन्न कर दिया। उसे इतना भी ज्ञान नहीं कि पाटलिपुत्र बुद्ध की मृत्यु के बाद बसा। बुद्ध बिम्बिसार के समकालीन थे और उसके बेटे अजातशत्रु के

शासन के आठवें वर्ष में उनका निर्वाण हुआ। वैशाली के वज्जियों के आक्रमणों से ऊबकर स्वयं उनकी विजय के लिए गंगा और शोण के संगम-कोण में अजातशत्रु ने अपने स्कन्धावार खड़े किए और उनकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र राजा उदायी ने पाटलिपुत्र का दुर्ग-निर्माण कर वहीं अपनी राजधानी राजगृह से हटाकर बनायी। कवि के इतिहास में बुद्ध के समय ही 'वासवदत्ता नाम्नी वेश्या अपने रूप-यौवन से पाटलिपुत्र को उन्मत्त करने लगी थी।'

वास्तव में बात यह है कि अपनी मौलिकता की धुन में द्विवेदीजी को शायद पता नहीं चला कि जहाँ उनकी मेधा ब्रह्मास्वादन के लिए झुकी वहाँ घास थी और वहाँ मुँह मारने का वही फल हुआ जो चरने का हुआ करता है। अनुश्रुतियों को ठुकराना कुछ हँसी-खेल नहीं है। यदि उपगुप्त की कथा कवि ने सुधारी न होती तो वह प्रसव से पूर्व ही पाटलिपुत्र को जन्म देकर अनर्थ न कर बैठता और न बुद्ध को ही २००० वर्ष पूर्व रखता। उसने यह भी न सोचा कि बुद्ध के साथ इस वेश्या वाली आख्यायिका का सम्बन्ध करना कितना ओछा होगा। वह शायद समझता हो कि इस कथानक से बुद्ध की महिमा बढ़ जाएगी। परन्तु इस सम्बन्ध में बस इतना ही कह देना काफी होगा कि किसी गढ़े आख्यान में कवि के ईश्वर-स्वरूप गांधी और मालवीय का वेश्या-सम्बन्ध से जिस औसत से गौरव बढ़ेगा उसी औसत से बुद्ध का भी इस कृति में बढ़ा है।

अब कुछ अन्य कविताओं की ऐतिहासिकता पर भी थोड़ा विचार करें। 'कुणाल' वाली कथा अशोक के समय की है। द्विवेदीजी कहते हैं :

> बीते कुछ वर्ष,
> इतने ही में दूर पश्चिम में
> शत्रुओं ने किया आक्रमण था राज्य में,
> भारी उपद्रव था खड़ा हुआ ऐसा
> थी जिससे आशंका,—
> कहीं यही चिनगारी बनकर
> न बने महाज्वाल
> लील जाय सारा साम्राज्य बड़वाग्नि में।

हिन्दूकुश से हैदराबाद राज्य के मास्की तक एकच्छत्र सम्राट् के गौरव पर आक्रमण करने की बात द्विवेदीजी का उर्वर मस्तिष्क ही सोच सकता था। इतिहास कहता है कि मध्य एशिया से यूरोप तक के राजा अशोक की शक्ति का लोहा मानते थे, परन्तु हिन्दी के इस राष्ट्रीय कवि ने एक आक्रमण गढ़ लिया। शायद उसने समझा हो कि इससे भारतीय राष्ट्रीय गौरव की कुछ श्रीवृद्धि हो जाय। और यह आक्रमण भी साधारण न था। शायद सम्भव था कि वह :

> लील जाय सारा साम्राज्य बड़वाग्नि में।

सचमुच ही स्वरक्षा का कार्य कुछ ऐसा कठिन है कि कविजी अशोक के मन्त्रि-मंडल की एक असाधारण बैठक भी करा देते हैं। और फलस्वरूप तक्षशिला की ओर कुणाल भेजा जाता है। द्विवेदीजी को शायद पता नहीं कि मौर्यों का विशाल साम्राज्य पाँच केन्द्रों से शासित होता था। पाटलिपुत्र से स्वयं सम्राट् द्वारा, उत्तरी प्रान्तों का भाग तक्षशिला, दक्षिण प्रान्तों का इसिल, पश्चिमी प्रान्तों का सुवर्णगिरि और पूर्वी प्रान्तों का तोसली के कुमारों द्वारा। उक्त नगर उन प्रान्तों की राजधानी थे। द्विवेदीजी को जानना चाहिए कि तक्षशिला का शासक स्वयं कुणाल था। उसे पाटलिपुत्र से भेजे जाने की आवश्यकता न थी। मज़ा तो यह कि कुछ पंक्तियों के बाद कवि कुणाल को पाटलिपुत्र लौटा लाता है। फिर दूत कुणाल की आँख निकालने के लिए राजाज्ञा लेकर कहीं जाता है। कहाँ जाता है सो तो शायद कवि को भी पता नहीं। शायद तक्षशिला को! यह दण्डाज्ञा 'सेनाधिप' के पास जाती है बल्कि उससे भी बढ़कर 'नायक सरदार' के पास। यह 'नायक सदार' कौन था? क्या मौर्य शासन-प्रणाली में उसका भी कोई नियत पद था? या यह आधुनिक नायब-तहसीलदार का कोई पुराना जोड़ीदार तो नहीं था? जरा लेखनी उठाने के पूर्व महाकवि ने कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' ही देख लिया होता। परन्तु उसे देखने के लिए कवि के पास समय कहाँ था? वह स्वयं कहता है—'शीघ्रता के कारण प्रूफ़ का संशोधन सुचारु रूप से नहीं हो पाया।' इसी कारण तो ढेर की ढेर गलतियाँ भरी पड़ी हैं। पर कवि क्या करे, जल्दी थी। यदि जल्दी न करता तो हिन्दू विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती पर उसका ऐतिहासिक ज्ञान चमत्कार कैसे पैदा करता? और फिर उस 'महामहिम भगवान् मालवीय' का साधुवाद उसे कैसे मिलता? और यह भी तो भूलने वाली बात नहीं कि उसका वह 'युगावतार गांधी' भी वहीं था जिसके सम्बन्ध में वह अन्यत्र कहता है:

> **हे कोटिचरण, हे कोटिबाहु,**
> **हे कोटिरूप, हे कोटिनाम।**
> **तुम एक मूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि,**
> **हे कोटिमूर्ति, तुमको प्रणाम।**

भाग्यवश कालिदास और भवभूति को ऐसी जल्दी न थी। उनके सामने न तो हिन्दू विश्वविद्यालय था और न थे पृष्ठपोषक। वे तो अपने चरितनायक राम तक को यह कहकर ललकार सकते थे, निष्ठुर व्यंग्य कर सकते थे—"वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा"। विष्णु पुराण का कवि समुद्रगुप्त की दिग्विजय के बाद उसे संसार की स्वतन्त्रता कुचलने वाला कहता और अन्त में इस बात पर सन्तोष करता है कि जैसे रघुवंश के राघवों की कथा संदिग्ध हो गई है समुद्रगुप्त की भी एक दिन भुला दी जायेगी। और इस पर टीकाकार व्यंग्य करता

हुआ ऐश्वर्य को धिक्कारता है ।

अब जरा फिर ऐतिह्य पर आइये । द्विवेदीजी को जानना चाहिए कि प्रत्येक प्रान्तीय कुमार शासक के साथ एक मन्त्रिपरिषद् थी जो सम्राट् की मन्त्रिपरिषद् की भाँति उससे भी शक्तिपूर्ण थी । दूत को उस मन्त्रिपरिषद् के पास जाना चाहिए था । राज्य की शक्ति वास्तव में इस मन्त्रिमंडल में थी और स्वयं अपनी इच्छा से अशोक अपना राज्य भी किसी को नहीं दे सकता था । कवि का वर्णन कि उसने तिष्यरक्षिता को जहाँगीर की भाँति राज्य सौंप दिया निरर्थक है । राजा से भी कुछ अधिकार मन्त्रिपरिषद् के अधिक थे । स्वयं अशोक के सम्बन्ध की एक कथा 'दिव्यावदान' (पृ० ४३०-३१) में वर्णित है । उसने कुक्कुटाराम विहार को धन देना चाहा । मन्त्रिमंडल ने उसका विरोध किया और कुणाल-पुत्र संप्रति (जो युवराज था) से कहकर वह दान रोक दिया । अशोक ने पूछा—राजा कौन है ? मन्त्रिप्रवर राधागुप्त ने कहा—देव (आप)। इस पर आँसू भरे हुए (साश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच) । राजा बोला—क्यों झूठ बोलते हो ? राजा अशोक को बिना परिषद् की आज्ञा के आधा सेव तक देने का अधिकार न था । कहाँ तो वह आदर्श, कहाँ वर्तमान कवि का जिसमें अशोक जिसे चाहता है राज्य लुटा देता है ।

और यह 'महासभा मण्डप' क्या बला है ? कौंसिल-हॉल को तब 'सभा', 'सद' अथवा 'संसद्' कहते थे । शायद हिन्दू विश्वविद्यालय की जल्दी में हिन्दू महासभा का कवि को ध्यान हो आया और उसका 'स्वर गूँज उठा महासभा-मण्डप में ।' तिथि-व्यतिक्रमों से तो पुस्तक भरी है । इस कथा-सम्बन्धी सन्दर्भ में कवि लिखता है : (तिष्यरक्षिता) 'छल से तक्षशिला के क्षत्रप के पास राजाज्ञा भेजती है कि वह कुल-कलंक कुणाल की दोनों आँखें निकालकर राज्य से निर्वासित कर दे ।' यह खूब ! तक्षशिला का क्षत्रप तो स्वयं कुणाल था ! और यह 'क्षत्रप' शब्द क्या बला है ? 'क्षत्रप' तो ईरानी सम्राटों के प्रान्तीय शासकों का पद-विशेष था जो अशोक के लगभग दो सौ वर्षों बाद भारत में शकों और कुषाणों द्वारा प्रचलित हुआ । फिर कुछ ही आगे चलकर अन्धे कुणाल को राज्य देकर अशोक वन को चला जाता है । अव्वल तो अशोक के वन जाने की बात कल्पना मात्र है । फिर यदि धृतराष्ट्र गद्दी पर न बैठ सके तो अन्धा कुणाल कैसे बैठा ? और इतिहास के अनुसार कुणाल तो गद्दी पर बैठा भी नहीं, उसके पुत्र संप्रति ने अशोक के कर से शासन-रज्जु ली ।

अन्त में 'महाभिनिष्क्रमण' नाम्नी कविता में एक लाइन है :

चले आर्यपुत्र त्याग पाटलि-प्रासाद को ।

ऐतिहासिक के लिए इस लाइन को समझना जरा टेढ़ी खीर है । अब तक इतिहासकारों का यही विचार रहा है कि गौतम ने महाभिनिष्क्रमण कपिलवस्तु से

किया था। वहीं उसने संसार छोड़ा, पिता, स्त्री, पुत्र, राज्य वगैरा। पाटलिपुत्र तब अभी जन्मा भी न था। परन्तु इस लाइन में वह पाटलिपुत्र से महाभिनिष्क्रमण करता है। यह एक नई सूझ है, नई खोज। सारे बौद्ध साहित्य को कवि ने ग़लत साबित कर दिया। अथवा 'पाटलि-प्रासाद' का अर्थ कुछ और है ?

अब ज़रा भावों पर एक नज़र डालें। कवि की भाषा में ओज और प्रवाह है इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। इसी कारण इस अनर्थ से बचने की भी विशेष ज़रूरत है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

वासवदत्ता में कवि कहता है :

थे न हम परतंत्र किसी बंधन में,
आये थे मुग़ल भी न इस देश में

क्या मुग़लों से ही भारत का पारतंत्र्य प्रारम्भ हुआ ? आर्यों के आगमन से बहुत पूर्व भारत भारतीयों का था। पर यह भारतीय कौन हैं ? आर्यों ने जब द्रविड़ों की सत्ता उठा दी तब भारत परतंत्र न हुआ ? अथवा उनके बाद अनेक विजेताओं ने भारत विजय न की ? छठी सदी ई० पू० में पंजाब और सिंध का प्रान्त ईरानियों का था, फिर ई० पू० दूसरी और पहली सदियों में ग्रीक और शकों ने भारत पर राज किया। कुषाणों और हूणों ने भी भारत विजय की, फिर अनेक बाहरी जातियों ने, और तब कहीं पठानों और मुग़लों ने।

एक अन्य स्थल पर कवि वासवदत्ता की लज्जा का वर्णन करता है :

उन्नत कुचकलशी को अंचल से ढकती-सी
लज्जा से छुई-मुई बनती सिकुड़ती-सी

यह अंचल कैसा ? क्या साड़ी का अंचल तो नहीं ? सारी भारतीय तक्षणकला में स्त्रियों के वस्त्रों में उपरार्ध के लिए सिवा 'स्तनांशुक' के अंचल तो लेखक के देखने में नहीं आया। यह अंचल एक बार बत्तीसवें पृष्ठ पर भी आया है। ख़ैर अब ज़रा इतनी लज्जा वाली की पहली वाणी तो सुनिये :

अतिथि देव !
यौवन यह अर्पित पद-पद्म में है,
इसको स्वीकार करो,
यह न तिरस्कार करो,
यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य,
बड़े-बड़े चक्रवर्ति मुकुट विसर्जित कर

चाहते अधर का दान, चाहते भृकुटि का दान।
तप्त उर शीतल करो गाढ़ परिरम्भण दे।

द्विवेदीजी शायद समझते हैं कि वेश्या का कोई गौरव नहीं, उसकी कोई मर्यादा नहीं। मेरा दावा है कि यदि आज वासवदत्ता को इस चित्रण के उत्तर में कुछ कहना होता तो वे धूल चाट लेते। मैं नहीं समझता कि प्रथम मिलन में कोई पतिता वेश्या भी ऐसा प्रस्ताव कर सकती है। फिर :

गौतम यह देखकर,
माया सब लेखकर,
चकित-से, विस्मित-से, भ्रमित-से, अवाक्-से,

(भला 'माया' लख लेने पर भी बुद्ध की यह अवस्था क्यों हो जाती है?)

लगे देखने सभी लीला वासवदत्ता की,
रूप की,
यौवन की,
यौवन के आग्रह की,
प्राणों के कम्पन की,
सिहरन की,
शान्त हो बोले साधु

(क्या 'यौवन के आग्रह' ने साधु को अशान्त कर दिया था?)

देवी, क्या कहती हो?
सावधान हो के जरा सोचो तो
कहती क्या?
किससे फिर?
आज मैं अतिथि नहीं बनूँगा इस गृह में।

यह तो खूब रही। क्या यह वही बुद्ध थे जो लालसाओं को चुनौती देकर उनकी विजय करते थे, वही जो कोसल के महाकान्तार में, जब अंगुलिमाल डाकू के संकल्प की खबर मिली, प्रहरियों के मना करने पर भी उससे मिले थे और फिर जिसे उन्होंने दीक्षित किया था?

'उर्वशी' में नायिका अर्जुन के प्रस्ताव न मानने पर उसे एकदम ललकार उठती है जिससे 'डायलाग' का रूप बिगड़ गया है (पृ० १६)। अर्जुन को 'शुभ' कहकर सम्बोधित करना कुछ अजीब है। 'शुभा' जरूर स्त्रियों के लिए आता है परन्तु 'शुभ' पुरुषों के लिए शायद कभी नहीं। ऐसे ही 'सरदार बूढ़ावन' में (पृ० २४ पर) जब बूढ़ावन की अतृप्त वासना में कवि बहुत-कुछ कहता है, वह शायद—'सोये थे न एक संग'—की स्पष्ट प्रकटेच्छा दबा सकता था। एक बात और। जब सरदार का घोड़ा चलता-चलता अड़ जाता था तब कवि

कहता है :

बढ़ता था, अश्व भी न,
स्वामी का मुख देख, रुख देख।

'रुख देख' तो ठीक, पर 'मुख देख' कैसे ? एक पर्सनल कहानी पढ़ी थी, उसके लेखक ने लिखा था—'लज्जा से मेरे कपोल लाल हो गये।' यह भी कुछ वैसा ही है। सरदार रण में 'लक्ष-लक्ष नरमुण्डों से' भूमि पाटता है, 'कोटि मुण्डमाल रणचण्डी के चरणों में' अर्पित करता है। याद रखना चाहिए कि सारे हिन्दुस्तान की आवादी उस समय सोलह करोड़ थी और सेनाओं की कुल संख्या दो लाख से अधिक नहीं ठहराई जा सकती। कुन्ती जव रात्रि में कर्ण से मिलने जाती है तव अभिसार का रूप-सा खड़ा हो जाता है। कुन्ती एक स्थल पर कहती है :

चख न सकी पुत्र तेरे जन्म हर्ष को।

भला जन्म-हर्ष 'चखा' कैसे जाता है ? ऐसे एक ही शब्द 'आर्य-पुत्र' का कवि अपने वर्णनों में अनेक वार प्रयोग करता है। 'आर्य-पुत्र' शब्द का अर्थ तो रूढ़ि-सा हो गया है 'ससुर के वेटे' के अर्थ में। यदि पत्नी के स्थान पर प्रेयसी भी इसका प्रयोग करती तो किसी क़दर क्षम्य था। कवि किस नाते करता है ? कुन्ती अपना 'स्रवित स्तन्य पय' कर्ण को दिखाती है। क्या यह शाब्दिक सत्य है ? और कुन्ती का यह कहना कि 'माँ का निःस्वार्थ स्नेह तुझको पुकारता है' कितना झूठा है ! यह प्रासंगिक और साथ ही ऐतिहासिक सत्य भी है कि कुन्ती का अनुभव स्वार्थपर था। फिर :

'कर्ण, बंधु तू अर्जुन का, युधिष्ठिर का, भीम का, नकुल का,
त्योंही सहदेव का सहोदर है,'

वंधु तो ठीक पर कर्ण 'सहदेव का सहोदर' कैसे है ? कर्ण तो कुन्ती के उदर का और सहदेव माद्री के उदर का था। फिर वे 'सहोदर' क्योंकर हुए ? क्या अनुप्रास के लिए 'सहोदर' शब्द का प्रयोग हुआ है ? एक उक्ति और अजीव है—'कर्ण तेरे वंशज ये।' यह कैसे ? कर्ण क्या अपने भाइयों का पिता था ? वंशज तो अधः संज्ञा है।

गाली देने में अशोक उर्वशी से बढ़ गया है। एक वानगी लीजिये :

'पुत्रघातिनी ! व्यालिनी ! कुचक्रधारिणी !
पापिनी ! पिशाचिनी ! कहाँ है कुलनाशिनी !'

ये उद्गार उस तिष्यरक्षिता के प्रति हैं जो :

भय से विकंपिता,
पदतल समर्पिता,
चेतनाहीन, मूर्छित-सी, धरणी में पड़ी दीन,
कठिन अनुताप-सी,

घोर पश्चात्ताप-सी,
जीवित अभिशाप-सी,
हत्या के पाप-सी;

फिर—'घोर पश्चात्ताप-सी' होने पर भी :

ठुकरा दिया गहन चरण से अशोक ने,

फिर बोला :

'छिन्न करो धड़ से शिर,
अभी इस पापिनी का,
घोर पुत्रघातिनी का।'
अंग-अंग भेदो, छेदो शर से सभी शरीर

फिर 'तीक्ष्णधार-तलवार' लिये जल्लादों से सम्राट् कहता है :

'क्यों रुके हो ?
चलाओ खड्ग,
शिर को कन्धों के सम्बन्ध से करो छिन्न,
भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग करो।'

यह चित्र उस अशोक का है जिसने देश-विदेश में पशुओं तक के लिए चिकित्सालय खोले और संसार में शान्ति के संवाद भेजे, जिसने दिग्विजय छोड़ धर्म-विजय की। 'वासवदत्ता' के पहले ही पृष्ठ पर द्विवेदीजी लिखते हैं—'अपनी थी संस्कृति अछूत'—यह 'अछूत' क्या 'अछूती' के अर्थ में है ? कहीं पाठक इससे 'हरिजन' का अर्थ न समझ बैठें ! एक स्थल पर आता है (पृ० ३)—'यह न तिरस्कार करो'—'यह' शायद 'इसका' का प्रतिनिधि है। 'फफोलों पर, छालों पर, घाव पर, पीप पर' (पृ० ६)—फफोले और छाले क्या दो चीजें हैं ? टाटालोजी की भरमार है ! रवीन्द्र में यह बीभत्स रूप नहीं मिलता। उर्वशी ने अर्जुन को (पृ० १३) अपने 'पद-रज-पराग' से 'गौरवित' कैसे किया ? क्या लात मारी ? उर्वशी अपने हाथों को स्वयं 'पाणि-पल्लव' (पृ० १६) कहती है। क्या देवसभा में इन्द्र के साथ सदा रहकर भी उसने शिष्टाचार की इतनी-सी तमीज न सीखी ? 'तपोमयी' (पृ० १८) तो ठीक, पर यह 'तपोत्याग' (पृ० २३) कैसा प्रयोग ? उर्वशी अर्जुन को एक स्थल पर गाली देती है—'छली ! भीरु ! कायर ! पुरुष ! नृशंस !' क्या 'पुरुष' भी कोई कुवाच्य है ? या पुरुष होना ही एक अभाग्य है ? 'कानन अरण्य बीच' (पृ० ३०) में क्या इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न हैं ? कर्ण के पूछने पर कि तुम कौन हो ? कुन्ती उत्तर देती है—'कुन्ती देवी !' राजमाता के कथन की यह मर्यादा खूब है। शायद केवल 'कुन्ती' से काम न बनता। इसी 'कर्ण और कुन्ती' में एक हास्यास्पद

भूल है। पृ० ३० पर वर्णन है—

'गहन अन्धकार, जिसका न आरपार,' और फिर (पृ० ३१)—'घोर गहन कानन में, वन में, निशीथ में'—घोर वन, आधी रात में जब गहन अन्धकार है, वहाँ—'छाया एक डोलती है'—फिर—'छाया एक और···आती है और पास'—यह समझ में नहीं आया कि कर्ण और कुन्ती दोनों विल्ली की औलाद हैं या उल्लू की ? उन्हें इतने अंधेरे में भी दीखता है और वह भी साधारण चीज नहीं वल्कि छाया ! एक वात और। यह छाया पड़ी कैसे ? छाया तो प्रकाश के कारण पड़ती है, विना उसके यह सम्भव कैसे है ? फिर महाभारत वाली कथा में तो कर्ण से नदी के तट पर कुन्ती मिलती है। यहाँ स्नान का प्रसंग नहीं दिखाया गया। तव कुन्ती ने जाना कैसे कि आधी रात में कर्ण घने जंगल में जाएगा ? कर्ण वहाँ गया ही क्यों ? द्विवेदीजी शायद यह समझते हैं कि कवि स्वच्छन्द है, उससे यह सब वातें नहीं पूछी जा सकतीं। इस प्रकार के स्थलों की 'वासवदत्ता' में भरमार है, कहाँ तक उनकी तालिका दी जाय ?

द्विवेदीजी 'वासवदत्ता' के 'आमुख' में कहते हैं—'भैरवी के साथ मेरी रचनाओं का एक युग समाप्त होता है। वासवदत्ता में मेरी कविता का नवीन युगारंभ है।' यदि 'वासवदत्ता' एक नये युग का आरम्भ करती है तो यह नवीन प्रयास सर्वथा असफल है। जी चाहता है कह दूँ—प्रथमे ग्रासे···

२

कवि अपनी वात इस प्रकार कहता है :

"भैरवी के कवि का पक्ष यह है कि इस समय हमारे सामने सवसे वड़ा प्रश्न वन्धन से मुक्त होने का है—उसके पश्चात् और चाहे कुछ भी हो। सभी देशों में जव आज़ादी की लड़ाइयाँ छिड़ी हैं, तव वहाँ के कलाकार और साहित्य-कारों ने जाति तथा देश के उद्धार में अपना स्वर मिलाया है। भारतवर्ष का कलाकार यदि पीछे रहता है, तव वह या तो मरा है या जीवित नहीं।

"वासवदत्ता के कवि का पक्ष है कि देश स्वतन्त्र तो होगा ही, इसमें सन्देह कैसा ? कवि से आशा की जाती है कि वह देश को आज़ादी के ही गीत न दे, किन्तु वे रचनाएँ भी दे जो उसके समाज, जाति, राष्ट्र के मेरुदण्ड आदर्श को सीधा रख सकें। यदि देश स्वतन्त्र भी हो गया किन्तु उसका आदर्श, सभ्यता, संस्कृति, नैतिक पृष्ठभूमि पुष्ट नहीं है, तो वह जाति अधिक दिन तक अपने पाँवों पर खड़ी नहीं रह सकती।

"वासवदत्ता की नींव भैरवी की पृष्ठभूमि पर ही खड़ी हो सकती है, इसे विस्मरण नहीं करना चाहिये, क्योंकि किसी भी राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता तव तक सुरक्षित नहीं जव तक वह स्वतन्त्र नहीं। युग ने करवट वदली है, भैरवी

उनका राजनीतिक पक्ष है, वासवदत्ता सांस्कृतिक। एक शरीर है तो दूसरी आत्मा, जिनके समन्वय से ही पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा सम्भव है।

"इसके उत्कृष्ट कथानकों ने मेरे मन को आकृष्ट न किया होता, तो मैं ये रचनाएँ लिखने का साहस ही न करता।

"वासवदत्ता मुझे उत्कृष्ट रचना इसलिए जान पड़ती है कि इसके पढ़ने के पश्चात् हमारी वासना नीचे दबती है और आत्मा ऊपर उठती है। बारम्बार इस रचना के पढ़ने का अर्थ यही होगा कि जब कभी जीवन में कोई वासवदत्ता हमारे सामने इसी हाव-भाव और कटाक्ष से यौवन समर्पित करेगी, हम एक बार सजग हो जाएँगे। यह कथानक उस समय हमें गौतम के गौरव को प्राप्त करने का प्रलोभन ही नहीं देगा, प्रत्युत आत्मशक्ति भी। यदि हम सचमुच ऐसी परीक्षा के समय वासना को नीचे दबा सके, और ऊपर उठ सके, तो इससे अधिक कविता से और क्या आशा करनी चाहिये? यहीं, मैं समझता हूँ, साहित्य का, कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है।

"इसी प्रकार की उदात्त भावनाएँ उर्वशी, कर्ण, कुन्ती, एक बूंद आदि रचनाओं में अपने ढंग से अलग-अलग हैं।

"महात्मा टालस्टाय ने साहित्य या कला का जो उद्देश्य बताया है, उसे रवीन्द्र बाबू ने प्राचीन साहित्य में उद्धृत किया है। उसका आशय बहुत-कुछ इस प्रकार है—जो कला क्रूर को दयालु, कृपण को उदार, भीरु को वीर, दानव को मानव और मानव को देवता बना सके, वही सफल है। एक वाक्य में उदात्त भावों को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाना ही काव्यादर्श है। जो कला, कविता हममें अच्छे संस्कारों को जागृत न कर सके, समझना चाहिए, वह अपने आदर्श से च्युत है। मैं समझता हूँ इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते।

"इसी काव्यादर्श को सामने रखकर वासवदत्ता की रचनाएँ लिखी गई हैं।

"आशा है, भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के युग में इनका प्रकाशन असामयिक न समझा जायेगा।"

अवतरण लम्बा है, परन्तु उसका देना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; क्योंकि कवि की इस 'प्रतिज्ञा' में उसका सिद्धान्त निहित है! 'पूर्वपक्ष' को यह देखना है कि (१) यह सिद्धान्त कला और साहित्य की आलोचनात्मक कसौटी पर स्वयं कहाँ तक खरा उतरता है और (२) इसको वासवदत्ता का कवि स्वयं अपनी रचना में कहाँ तक निभा सका है। यह कवि की बात थी; अब पूर्वपक्ष की सुनिए।

(१) 'भैरवी' का कवि बन्धन से मुक्त होने का प्रयास करता है और उस प्रयास की सफलता के लिए गीत लिखता है, क्योंकि वह जानता है कि 'हमारे देश के सामने सबसे बड़ा प्रश्न बंधन से मुक्त होने का है—उसके पश्चात् और

चाहे कुछ भी हो।' 'भैरवी' का कवि और भी कुछ जानता है; वह यह कि 'सभी देशों में जब आज़ादी की लड़ाइयाँ छिड़ी हैं, तब वहाँ के कलाकारों और साहित्यकारों ने जाति तथा देश के उद्धार में अपना स्वर मिलाया है' और वह 'भैरवी' का कवि डंके की चोट पर कहता है कि इस दशा में 'भारतवर्ष का कलाकार यदि पीछे रहता है, तब वह या तो मरा है, या जीवित नहीं' और इसी कारण, 'भैरवी' का कवि गीत लिखता है—'दण्डी मार्च' और 'वापू' और इन गीतों के ज़ोर पर वह होड़ करता है फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के अमर गान 'ला मारसाई' से। परन्तु शायद वह इस बात को नहीं जानता कि जहाँ 'ला मारसाई' को गाती हुई फ्रान्स की किसान जनता पेरिस और वास्तिल की ओर अपने कदम वढ़ाती है, वहाँ हमारा कवि भैरवी का राग अलापता है; और भैरवी का राग उस चिरन्तन भैरवी से ऊपर नहीं उठता, जिसकी टेक है—'अकेली जनि जैयो राधे जमुना के तीर।' उसकी 'भैरवी' में स्वतन्त्रता का वह विकृत रूप है, जिसे कोई स्वाभिमानी मुक्त गौरव की वस्तु न समझेगा। नर का अभिमानी मस्तक विदेशी अत्तिल हूण के सामने झुका तो क्या और स्वदेशी हिटलर के सामने झुका तो क्या ? मुक्ति इसमें नहीं है कि विदेशी सरकार की जड़ काट दी जाय, वास्तव में यह स्वाधीनता का आवरण मात्र मिथ्या रूप है। मुक्ति इसमें है कि हेम्पडेन देशी सरकार के तख़्त को अपना सीना लगाकर उलट दे, और जेरेमी वेन्थम अपने ही खूनवालों की घृणित सत्ता को जला डालने के लिए अपनी लेखनी से आग उगले। 'भैरवी' के गीत दासता की वे जोंकें हैं, जो हमारे शरीर में नहीं हमारी विवेकात्मिका बुद्धि की जड़ों में लगती हैं और उनका रस चूसती हैं। इस बात को वहाँ कवि भूलता है कि गुलामी चाहे हिटलर-मुसोलिनी की हो चाहे गांधी और शेक की, दोनों बुरी हैं। मेधा की दासता शरीर की शृंखलाओं से कहीं मज़बूत होती है; क्योंकि शरीर ज़ोर लगाकर अपनी शृंखलाओं को तोड़ सकता है पर मेधा की दासता खून में घुलकर वह मानसिक रोग बनती है जिसे अन्तश्चेतना कहते हैं और जिसका कोई चारा नहीं। 'भैरवी' का कवि जिस शृंखला की सृष्टि करता है, वह आँखें खोलकर देखने न देगी, सीना तानकर चलने न देगी। उसकी मदद से कवि वह सेना प्रस्तुत करेगा, जो स्वयं न सोचेगी, अनंगपाल की अपेक्षा करेगी और अनंगपाल के न रहने पर सुवुक्तगीन को पीठ देगी और यदि कहीं अनंगपाल आग में कूदने की सोचे, आत्मघात के उपक्रम करे, तो भैरवी का कवि 'मरसिया' पढ़ेगा। उसमें दम कहाँ, जो चकवस्त की डाँट में अपनी आवाज मिलाकर उसे और वुलन्द कर दे :

> **शोरे मातम न हो, आवाज हो ज़ंजीरों की,**
> **चाहिए क़ौम के भीष्म को चिता तीरों की।**

या उन्हीं चकबस्त के लफ़्ज़ों में ललकार उठे :

हों खबरदार वे जिन्होंने अज़ीयत दी है,
कुछ तमाशा ये नहीं, क़ौम ने करवट ली है।

'भैरवी' के कवि की वाणी तो उन प्रबल गान की भाँति व्यक्ति को हटाकर राष्ट्र को भी सामने नहीं रख सकती, जो (वन्देमातरम्) उन्नीसवीं सदी के एक डिप्टी कलक्टर द्वारा प्रस्तुत किया गया था। उसके राग में न तो जोश मलिहाबादी का ओज है, न सुमन के 'मास्को अब भी दूर है' में भरा हुंकार! और 'भैरवी की पृष्ठभूमि-मुक्तिभूमि'? उसकी परख में मैं अपनी कसौटी न घिसूंगा, उसका मूल्य प्रखरबुद्धि रामविलास शर्मा ने अपनी उस जाँच में आँका है, जो जिज्ञासु साहित्य में एक कीर्तिस्तम्भ खड़ा करेगी।

कवि देश को वे रचनाएं देने के हौसले करता है 'जो उसके समाज, जाति, राष्ट्र के मेरुदण्ड आदर्श को सीधा रख सकें। यदि देश स्वतन्त्र भी हो गया, किन्तु उसका आदर्श, सभ्यता, संस्कृति, नैतिक पृष्ठभूमि पुष्ट नहीं है, तो वह जाति अधिक दिन अपने पाँवों पर खड़ी नहीं रह सकती।' 'भैरवी' में 'आज़ादी के गीत' दे चुकने के बाद 'वासवदत्ता' में इसी 'मेरुदण्ड आदर्श को सीधा रख' सकने का प्रयास है; पर क्या कवि को आश्चर्य होगा, यदि उसे यह बता दिया जाय कि मेरुदण्ड जो उसने प्रस्तुत किया था, वह या तो स्वयं कमज़ोर था या उससे जिस मांसपिंड को उसने सहारा दिया था, उसका बोझ ही इतना भारी था, जिसे उसका मेरुदण्ड संभाल न सका। बातें दोनों ही एक हैं—मेरुदण्ड प्रस्तुत करना केवल इच्छा की बात नहीं होती। भारतीय संस्कृति के 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखा'—वाले अश्वत्थ के अनन्त विस्तार को संभालने के लिए उतने ही संख्यातीत शेषफणों की आवश्यकता होगी, उसको वहन करने में 'एटलस' तक की रीढ़ समर्थ न होगी, उसकी—कमर टूट जायेगी। 'वासवदत्ता' की रीढ़ निहायत कमज़ोर है, और जिसे वह वहन करती है, स्वयं वह उस संस्कृति का आवरण-रूप है, जिसे बुद्ध और कर्ण ने अपने योग से उज्ज्वल किया था या जिसमें वे स्वयं बढ़कर दीर्घाकार हुए थे। जो आख्यान कवि ने लिए हैं, विराग के हैं, पर विराग के गान गुलाम जाति में कायरता उत्पन्न करते हैं। कवि के साथ मैं भी इस बात को पसंद करता हूँ कि वह अपने ये सांस्कृतिक विकार हमारे सामने तब रखता, जब सन् '२१ वाले राग में 'पहली जनवरी को यह सरकार' न होती। (मेरे सीधे चारण, इस पहली जनवरी वाले कार्यक्रम ने आयरलैंड में एक हज़ार वर्ष लिए हैं और इटली में पाँच सौ साल!) ज़रूरत इस बात की थी कि जिस तरह उन्नीसवीं सदी के पहले चरण में तुर्की की ठोकरों के नीचे पड़ा ग्रीस तेवर बदलकर ठोकर लगाने वाले की ओर देखता था, तुर्की संतरी के सामने से कमर पर हाथ रखे

सीना ताने स्वतन्त्रता का दीवाना ग्रीक युवक दिमास्थनीज और पेरिक्लीज़ की ललकार दोहराता, होमर की पंक्ति गुनगुनाता, मस्ती में झूमता निकल जाता था, तू भी अपने आख्यानों का चुनाव उसी आदर्श से करता, वासवदत्ता के कटाक्ष की चोट अगर तू गौतम की पीठ पर न कर दिल्ली-दरबार की नर्तकियों की पृथ्वीराज की आँखों पर करता तो १८३० का ग्रीक-प्रोटोकल हिमालय की चमकती चाँदी की पट्टी पर सूर्य अपने सुनहरे हाथों सोने के अक्षरों में लिखा जाता। अगर बुद्ध या तिष्य की जगह पृथ्वीराज होता तो यद्यपि वह अपनी पैनी आँखों को वासवदत्ता की आँखों में गड़ा देता, मगर कम-से-कम अपनी मूँछें मरोड़ता एक बार कुरुक्षेत्र के मैदान में दुश्मनों की कतार में हाहाकार तो मचा देता। अगर गौतम के स्थान पर हरिसिंह नलवा होता तो चाहे जिन्दों की चोट से तिलमिलाकर दिल पर हाथ रखकर वह बढ़ता, मगर कम-से-कम एक बार सतलज के कांठे से उठी बाढ़ हिन्दूकुश की चट्टान से तो टकरा जाती, तेहरान की छाती तो दरक जाती, अलबुर्ज से नौरोज़ के झूले तो उतर जाते। और नहीं, अगर ये रणबाँकुरे उसे संकर संस्कृति की देन मालूम हुए तो वह उन घटनाओं को रीझ-रीझ गाता, जिनकी शृंखला में विश्वविजयी सिकन्दर के पाँव उलझ गये थे। क्या उसे मस्साग और संगल-ध्वंस की याद न आयी, जहाँ एक-एक स्त्री-पुरुष और बालक-वृद्ध ने शत्रु के भाले से कटकर ग्रीक नगर-राज्यों की स्मृति धुँधली कर दी थी? क्या उन क्षुद्रक-यौधेयों और प्रचण्ड मालव किसानों की कवि को सुध न आयी जो एक हाथ में हँसिया धारण करते थे, दूसरे में तलवार, जिनके एक-एक गाँव ने हँसिया फेंक सिकन्दर की राह रोकी थी। क्या कवि को उन अस्सी हज़ार ब्राह्मणों की स्मृति भूल गयी थी, जिन्होंने सिन्धु की तलहटी में विजेता को चुनौती दे प्राणदण्ड पाया था और उन वीर गक्खरों की जिनकी शक्ति ने लौटते ग़ोरी के प्राण पंजाब में रखवा लिये थे और क्या उसने वीर शिरोमणि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कीर्ति पर भी स्याही फेर दी, जिसने लौहित्य से बढ़कर सिन्धुनद के सातों मुखों को पारकर काबुल और कन्दहार लाँघ, पारसीक नवेलियों का मधुमद उतार कोजक अमरान पहाड़ों की छाया से निकल बलख़ के हूणों को धूल चटा दी थी, जिसने वंक्षु नद के तट पर खड़े केसर के खेतों में लोटते अपने तुरंगों की सटों से केसर का पराग झाड़ा था? अभी जब देश को स्वतन्त्र होना ही है तब कवि को चाहिए कि वह प्राप्ति के पूर्व ही विसर्जन के गीत न गाए। अपनी अतीत संस्कृति के जो स्तंभ उसने खड़े किये हैं, वे कितने भौंडे हैं, यह स्वयं देखने की चीज़ है। पर उसकी बात फिर।

कवि कहता है कि 'वासवदत्ता' की नींव भैरवी की पृष्ठभूमि-मुक्तिभूमि पर ही खड़ी हो सकती है, इसे न विस्मरण करना चाहिये; क्योंकि किसी भी

राष्ट्र की संस्कृति-सभ्यता तब तक सुरक्षित नहीं, जब तक वह स्वतन्त्र नहीं।' शायद ! किन्तु जिस संस्कृति को अपनी रक्षा के लिए तलवारों की छाया अपेक्षित हो, उस संस्कृति का बल कहाँ होगा, यह कवि जी जानें। अगर उन्हीं की बात तोली जाय तो उनका पलड़ा आसमान चूमने लगेगा। जरा सोचिए तो सही, जब 'किसी भी राष्ट्र की संस्कृति-सभ्यता तब तक सुरक्षित नहीं, जब तक वह स्वतन्त्र नहीं' तब यह 'शकारि' से पहले 'भरथरी' क्यों ? करवाल से पहले तन्त्री क्यों ? फिर भी जैसा आप कहते हैं कि 'वासवदत्ता' की नींव भैरवी की पृष्ठभूमि-मुक्तिभूमि पर ही खड़ी हो सकती है', सही है। यदि इस वाक्य से 'मुक्तिभूमि' शब्द निकाल दिया जाय तो मैं कवि से अक्षरशः सहमत हूँगा। यह 'मुक्तिभूमि' कवि का स्वप्नमात्र है, उसका कोई कण 'भैरवी' के फैले मैदान में नहीं मिलने का। 'मुक्तिभूमि' पद-रहित कवि के इस वाक्य से पूरा-पूरा मैं सहमत हूँ। उसका वाक्य एक पूरी सचाई है, यद्यपि उसके प्रयास पर वह विकट व्यंग है। जरूर 'वासवदत्ता की नींव भैरवी पर ही खड़ी हो सकती है।' 'वासवदत्ता' स्वयं जिस संस्कृति के भद्दे रूप को सिर से उठाये हुए है, उसकी केवल छत-ही-छत है, और वह छत 'वासवदत्ता' की कमजोर दीवारों, दुर्बल मेरुदण्ड पर गिरती-पड़ती टिकी है। और स्वयं 'वासवदत्ता' की नींव क्या है ? 'भैरवी' की बालुकामयी भूमि ! तभी तो 'वासवदत्ता' नहीं टिकती। 'वासवदत्ता' की नींव अगर उस हूणहरिणकेसरी स्कन्दगुप्त के प्रशस्ति-लेख पर होती, तब तो कवि भी दहाड़ता—"हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता··· ।"

"युग ने जो करवट बदली है, 'भैरवी' उसका राजनीतिक पक्ष है, वासवदत्ता सांस्कृतिक।" युग ने जरूर करवट बदली है। इस युग से पहले, और पहले, राजा की सत्ता थी, राजा के रहते इंगलैंड ने प्रजा की सत्ता सँवारी, फ्रांस ने जन-राज्य स्थापित किया, संयुक्त राष्ट्रों ने गणतन्त्र चलाया; युग पलटा—इटली-ग्रीस स्वतन्त्र हुए, चीन ने अपना तख्त उलटकर रखा, जापान शक्ति से मदान्ध हुआ; फिर युग बदला—रूस ने अपना कलेजा चाक कर अपने खून से गारा बनाया और सोवियत की बुलन्द इमारत खड़ी की; इटली में फ़ासिज्म दहका, जर्मनी में नाज़ीवाद लहका और भारत में भी कुछ ललक पैदा हुई। सो युग ने तो करवट बदली, पर भारतीय कवि ने 'भैरवी' की तान छेड़ी, नगाड़े को फेंककर ताल के स्वर-में-स्वर मिला चारण ने मानो गाया :

स्वर्ग में पाताल में प्रभु आप-सा दानी नहीं,
शीश मैं अपना कटाऊँ जो मिले ऐसा कहीं।

—मैथिलीशरण गुप्त

('भैरवी' की पंक्तियाँ 'कोटि पदों' वाली हैं, इसलिए उनकी अनन्त

व्यापकता से घबराकर उनको यहां उद्धृत न कर सका !) युग के करवट लेने पर द्विवेदीजी ने 'भैरवी' में उस युग का राजनीतिक खेत फैलाया और उस खेत में उसकी तरल नींव पर 'वासवदत्ता' संस्कृति का शिलान्यास किया। अब उसके ऊपर देखिये क्या खड़ा होता है, मक़बरा या कीर्तिस्तम्भ। भैरवी-रूपी शरीर मे वासवदत्ता-रूपी आत्मा पैठी है। जन्म दुःख है, इसे बौद्ध भी मानते हैं हिन्दू भी। आत्मा शरीर के बन्धन में जकड़कर जीव बनता है, आवागमन के दुःख झेलता है, संस्कार उसे उस चिरन्तन दुःख का स्मरण कराते रहते हैं। संस्कारों से संस्कृति बनती है। वासवदत्ता की याद संस्कार है, वासवदत्ता कथानक वह संस्कृति है जो भैरवीरूपी शरीर-जाल में जा फँसा है, जीवन-घट में जा डूबा है, उस आत्मा का जीवन बड़ा कष्टसाध्य है। उसका फिर उस शरीर से उद्धार कैसे हो, उसे निर्वाण कैसे मिले ? उपगुप्त शिष्य यदि स्वयं फँसे होते तब तो गौतम 'तथागत' होकर, बुद्धत्व प्राप्त कर, उन्हें छुड़ा लेते, पर यहाँ तो द्विवेदीजी ने स्वयं बुद्ध को ही फँसा दिया !

और सुनिए—वासवदत्ता द्विवेदीजी को 'उत्कृष्ट रचना इसलिए जान पड़ती है कि इसके पढ़ने के पश्चात् हमारी वासना नीचे दबती है और आत्मा ऊपर उठती है।' पहले तो कुछ शब्दों का प्रयोग इतना अनजाना आजकल हिन्दी में होने लगा है कि समझ में नहीं आता कि रूढि शब्दों को कहाँ तक फैला-फैलाकर खींच-खींचकर समझा जाय। उसके लिए शायद सुकरात शैली अख़्तियार करनी पड़ेगी। आत्मा का अर्थ यहां क्या है—क्या वह मनमानी मनश्चेतना, जो फिर जिज्ञासु को प्रश्नात्मक नहीं होने देती ? और यह द्विवेदी-जी की सम्मति अपनी रचना के सम्बन्ध में है। आपने अपनी आत्मा को तेल की तरह फैलाकर सबके कपड़े गन्दे कर दिये हैं। वासना की बात तो क्या-क्या कहूँ ? सुना है, होमियोपैथ रोग को उभाड़कर उसे अच्छा करते हैं। द्विवेदी-जी ने उनके भी कान काट लिये हैं। वासवदत्ता की कथा से पहले तो ये पाठकों की वासना का उद्दीपन करते हैं, फिर उसे दबाने की चेष्टा करते हैं। वासना को जगा देना आसान है, पर उसको दबा देना कुछ आसान नहीं। वासवदत्ता के रूप और मदभरे अनुनय का जो कवि चित्रण करता है, उसके सामने उसके शमन करने वाले बुद्ध वामन-से लगते हैं; पीब और छालों को धोने वाले कम्पाउंडर से ऊँचा उनका आकार नहीं उठता और पाठक घृणा से उस ओर से मुँह फेर लेता है; उसी घृणा में बुद्ध भी विस्मृत हो जाते हैं। सच बात तो यह है कि पीब-ख़ून लपेटे हाथों वाले बुद्ध को देखना तो शायद उनका अनन्य भक्त भी न पसन्द करे। अस्तु, वासवदत्ता की विलास-मादकता की ऊँचाई में अश्वघोष के उस बुद्ध का उन्नत शरीर बहुत छोटा हो जाता है। वासवदत्ता का रूप कैसा है ?

एक तरुणी दिवांगना-सी,
कवि कल्पना-सी
विधि की अनूप रचना-सी
सुन्दरी प्रणय अभिलाषा-सी,
मादक मदिरा-सी
मोहक इन्द्रधनु-सी

और फिर ऐसी वासवदत्ता जब :

आनत हो चरणों में पाणिपल्लव कर संपुटित,
आँखों से जादू-सा फेरती,
उन्नत कुच-कलशों को अंचल से ढकती-सी
लज्जा से छुई-मुई बनती सिकुड़ती-सी

'वीणा-वाणी में' घुटने टेककर आजिजी से आर्तकामा हो बोली कि :

'अतिथि देव !
यौवन यह अर्पित पद-पद्म में है,
इसको स्वीकार करो,
यह न तिरस्कार करो,

यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य,
बड़े बड़े चक्रवर्ती मुकुट विसर्जित कर
चाहते अधर का दान, चाहते भृकुटि का दान !
तप्त उर शीतल करो गाढ़ परिरम्भण दो ।'

तब कौन उसे ठुकरा सकता है ? और ठुकरा सकने पर उसे भारतीय स्मृतिकार क्या दण्ड देंगे, और चरक कौन-सी संज्ञा प्रदान करेंगे, यह शायद बताना न होगा । समाजशास्त्री तो जिस शब्द से अंग्रेजी में उसे सम्बोधित करेगा वह है कावर्ड और हिन्दी में जिस शब्द से करेगा वह है 'क्लीव' । इसका निराकरण एक ही तरीके से हो सकता था—वह इस तरह कि वासवदत्ता का ध्येय उससे भी छोटा होकर उसकी ओट न हो जाय, बल्कि अजन्ता में चित्रित पद्मपाणि या भिक्षापात्रधारी बुद्ध की भाँति बढ़कर पृथ्वी पर पाँव टिका ऊपर आकाश के चँदोवे को अपने सिर से छू ले । वरन् 'गाढ़ परिरम्भण' की अवमानना का प्रतिघात अतृप्त बुभुक्षा होगा और फिर तो आप जानते ही हैं—"बुभुक्षितः किन्न करोति पापम् ?" भला इस रूप के झंझावात को, इस 'रूप की, यौवन की, यौवन के आग्रह की, प्राणों के कम्पन की, सिहरन की' चोट को, उसके अनुनय को, द्विवेदीजी की 'वासवदत्ता' का वह कमजोर दयनीय, घृणित बुद्ध,

जो स्वयं यह सब देखकर 'चकित-सा', 'विस्मित-सा', 'भ्रमित-सा' है, क्या लौटा सकता है ? इसी लिए तो मैदान छोड़कर वृद्ध भाग जाता है—"आज मैं अतिथि नहीं बनूँगा इस गृह में।" बनाता कौन है तुम्हें अतिथि ? यहाँ क्या 'आँगने में गिल्ली' खेलना है ? यहाँ जरूरत है शिव-सरीखे ऊर्ध्वरेतस् की, जो एक पाँव गन्धमादन पर रखे और दूसरा कैलाश पर, फिर उमा को लेकर ताण्डव-लास्य में वातावरण को घनीभूत कर दे, अथवा उस 'कठिनद्रव' कृष्ण की जो इस प्रस्ताव के उत्तर में काम की रचना करे और सिर झुकाकर कह उठे 'मम शिरसि मंडनं देहि पद-पल्लवमुदारम्।' पर यहाँ तो इसी द्विवेदी-स्रष्टा द्वारा निर्मित वृद्ध की लुंज काया की छाया इस आँधी के सामने कहती है :

देवि, क्या कहती हो ?
सावधान होके जरा सोचो तो
कहती क्या ?
किससे फिर ?'

वृद्ध तो यहाँ ऐसे ढिठिया पड़े, जैसे कलक्टर साहब की शान में किसी ने कुछ कह दिया या किसी वकील ने डिप्टी साहब के इजलास में जुरिस्डिक्शन का सवाल पेश कर दिया ! आख़िर क्या कह बैठी वासवदत्ता ? यह घुड़की कुछ अपने-आपमें तो इतना ज़ोर रखती नहीं, फिर इसमें क्या चीज़ है, जिससे वासना दबकर आत्मा पंख मारने लगे ? कवि की अपनी पंक्ति, जो दूसरे सम्बन्ध में कही गयी है (उर्वशी, पृष्ठ २१, पंक्ति ५), सही-सही इस विडम्बना को प्रकट करती है—'नारीत्व पर तूने किया है प्रतिघात !' (नर होकर हो नरत्वहीन !) अरे ! इस हरकतवाला तो जीवन के कुरुक्षेत्र में शिखण्डी द्वारा मारा जायगा !

द्विवेदीजी ने साहित्य और कला का उद्देश्य पूरा कर दिया। 'इससे अधिक कविता से और क्या आशा करनी चाहिए ?' 'ऐसे परीक्षा के समय वासना को नीचे दबा सके' तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र और अश्विनीकुमारों, सबका एक साथ घर पर धावा होगा। द्विवेदीजी का ख़याल है कि नित्य-स्नान कर 'वासवदत्ता' को बाइबिल बनाकर पाठ करने का एक विशिष्ट फल होगा। ये कहते हैं, 'बारम्बार इस रचना को पढ़ने का अर्थ यही होगा कि जब कभी जीवन में कोई वासवदत्ता हमारे सामने उसी हाव-भाव और कटाक्ष से यौवन समर्पित करेगी, हम एक बार सजग हो जाएँगे।' हद हो गई ! समझ नहीं पड़ता—हँसें कि रोएँ। सन्तोष की एक ही बात है कि सभी वे भाग्यवान् नहीं होते जिनके सामने वासवदत्ता-सी अपना रूप पसारकर बैठ जाएँगी। उसके लिए कृष्ण होना चाहिए, नकुल, उदयन या तिष्य ! इस बात को भी कविजी न भूलें कि ऐसी

वासवदत्ता को अंगीकार कर, मनुष्य वारांगना-स्वरूप एक जीव को त्राण करने का पुण्यभागी होगा और उसे पाप और कलंकों से बचाकर गुरु की पत्नी बनायेगा जिसे फिर न शिष्य की आवश्यकता होगी, न गुरु की।

टालस्टॉय और रवीन्द्र बाबू का उद्धरण देते हुए श्री द्विवेदीजी कहते हैं कि 'एक वाक्य में उदात्त भावों को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाना ही काव्यादर्श है। जो कला, कविता, इनमें श्रेष्ठ संस्कारों को जागृत न कर सके, समझना चाहिए, वह अपने आदर्श से च्युत है।' मैं समझता हूँ इस सम्बन्ध में दो मत बड़े जोर से हो सकते हैं। निचोड़, जो ऊपर कवि ने दिया है, चाहे टालस्टॉय की राय का हो चाहे रवीन्द्रनाथ का, है वह गलत। मैं गलत शब्द के पहले विशेषण नहीं जोड़ना चाहता, क्योंकि यह विचार पूरा-पूरा गलत है। सारी कला का उद्देश्य प्रथमतः और केन्द्रतः रस की धारा बहा देना है। 'यदि उदात्त भावों को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाना ही काव्यादर्श है, रस का संचार नहीं, तो वह कला 'पुल्पिट' से बोलने वाले ईसाई 'पिता' के 'सरमन' में केवल होगी। पर अनेक बार तो कला मानवता की कमजोरी है, उसका स्खलन। और उसका आरम्भ 'ननरी' (मठ) में तब होता है जब कोई 'भगिनी' धर्मपिता के सामने 'कनफ़ेशन' (पापस्वीकरण) करती है, कुछ धर्मपिता के उपदेश में नहीं। कला का आरम्भ परमात्मा के 'ज्ञानफल न खाने वाले उपदेश' में नहीं है, बल्कि शैतान के बहकाने में है, जिसके फलस्वरूप हव्वा पत्तों से तन ढकती है और आदम का सर्वांग उन पत्तों में खो जाता है। सद्भावना, सद्विचार जगाने वाली कला अनेक बार पैडेण्टिक होगी, रसप्लाविनी नहीं। 'कुकर्म छोड़कर सुकर्म करो'—इससे कला से कोई सरोकार नहीं। भारत में नृत्य-गान और अभिनय की कला को पैडेण्ट्स की सलाह से जब छोड़ दिया गया तब उसका एकमात्र आश्रय अपावन वेश्या का दूषित प्रकोष्ठ बना—वासवदत्ता का छज्जा, न कि गौतम का जेतवन। कलाकार की कृति, उसकी आडम्बरशून्य, जैसी देखी वैसी सच्ची आकृति, और कभी-कभी उसकी अपनी जोड़ी, निखारी, अनुभूति कला है—वह, जिसे मेरेडिथ के 'इगोइस्ट' की तरह सब पुकारकर कह सकें—It is you, it is me, it is everyone of us. तोल्स्तोइ की 'अनाकरेनिना' के खेती वाले प्रसंगों में लेक्चर है, पैडेण्ट्री है, कला नहीं। कला उसके 'रिज़रेक्शन' की सतत-पतनशीला नायिका की अनुभूति में है। इसी अनुभूति को जैसी देखी वैसी कह देने के कारण ही आज का रूसी साहित्य इतना उठ सका है। इसी कारण तुर्गनेव, दास्तायेव्स्की, गोर्की, शोलोकाव और यिद्दिश उपन्यासकार शोलेम ऐश, सभी शुद्ध कला की दृष्टि में तोल्स्तोइ से बड़े हैं। शोलोकाव का एक वाक्य है: The father looked at the daughter, took her to the farm, bound her hand and foot, and

raped her ! इसमें उदात्त भावों को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाया नहीं गया है; और द्विवेदीजी शायद इसे गाली कहें, परन्तु नहीं, यह मानवता की तृषित बुभुक्षा का नग्न चित्र है, जो खरी कला है। यह भारतीय स्मार्त तथा नैतिक आदर्श के कितना निकट है, यह इस बात को याद करने से स्पष्ट हो जाएगा कि भारतीय आचार्यों ने जवान माता-पुत्र और भाई-भगिनी तक का एकान्त में साथ रहना मना किया है। ऋग्वेद का यम-यमी वाला आख्यान इस पर पूरा प्रकाश डालता है। महान् भारतीय कलाकार कालिदास की सबसे सुकुमार कृति 'शकुन्तला' का कला-केन्द्र मानवता का एक सामान्य स्खलन है—दुष्यन्त का पेड़ के तने के पीछे छिपकर शकुन्तला के शरीर-गठन का लोलुप, स्निग्ध, रोमांचक अवलोकन और अन्ततः वेतस-निकुंज का संकेतगृह। इसी प्रकार रसप्लावित 'मेघदूत' की कला की अद्भुत निधि इसीलिए विशिष्ट है कि उसमें एक विरही की पुकार है, पुरुष का वेदनाव्यंजक चीत्कार,—किसलिए ? जिसका वर्णन उत्तरमेघ में यक्ष करता है—'नीवीवन्धोच्छ्वसित…' और जहाँ स्रस्तदुकूल हो प्रिया प्रिय के क्रोड़ में (पूर्वमेघ का अन्तिम श्लोक), और भी, जहाँ यक्ष मेघ को 'उदयन-कथा' की याद दिलाकर ध्वनि का संसार खड़ा कर देता है और उसे खबरदार करता हुआ भी ललचा देता है। 'ज्ञातस्वादो विवृत-जघनां को विहातुं समर्थः ?' 'शिवं' तो मैं नहीं जानता, परन्तु 'सत्यं' और 'सुन्दरं' तो यह ज़रूर है, जो कला की जान है और जो रस से पाठक को सराबोर कर देता है। कला के लिए यह बिलकुल ही जरूरी नहीं कि वह उदात्त भाव पैदा ही करे, सद्भाव और सद्विवेक जने ही। मनुष्य की सोई चेतना को जागृत कर उसमें गति उत्पन्न कर देना, उसकी दौड़ती हुई शक्तियों को झकझोर कर स्पन्दनरहित, मूक, स्थिर कर देना ही कला है और वह कला तत्सम्बन्धी क्षमता के औसत में ही ऊँची-नीची है। कुछ परवाह नहीं, अगर 'कासानोवा के मेम्वायर्स' से सुपुप्त कल्पना जाग्रत होकर मानव को वृषभ की भांति वर्षण के लिए अपना क्षेत्र ढूंढने को विवश कर दे—पर अगर उस इटालियन की वह कृति ऐसा करने में सफल होती है तो वह कला है। मैं जानता हूँ, रूढिजटिल रीतियों के विरोध में मैं लिख रहा हूँ, जो कितनों ही के लिए नितान्त असह्य हो उठेगा, उसी तरह, जैसे तोल्स्तोइ का 'रिज़रेक्शन' पढ़कर ब्रिटेन के कितने ही पादरियों ने उस महात्मा को घृणित और पाप फैलाने वाला कहकर उसे पत्र लिखा था। पर मैं ज़ोर से इस बात को कह देना चाहता हूँ कि मेरा पिछला वक्तव्य उतना ही सही है जितना श्लोकाव के उस वाक्य की अन्तर्भावना की अनिवार्य मानवी सत्यता, जो ऊपर उद्धृत किया गया है।

सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाने वाली भावना चाहे पुण्यात्मिका हो, परन्तु हमेशा कविता कला नहीं होगी और यदि हुई तो सद्विवेकादि की

शक्ति से नहीं वरन् व्यक्तिगत स्वाभाविक प्रतिभा की मुहर से। और, चूंकि 'इन्हीं ('सद्विवेक' आदि के) काव्यादर्शों को सामने रखकर वासवदत्ता की रचनाएँ लिखी गई हैं' 'वासवदत्ता' सफल की वस्तु नहीं हो सकी।

(२) अब तक तो कवि द्वारा की हुई 'प्रतिज्ञा' पर 'सिद्धान्त' की 'पूर्वपक्ष' द्वारा जिज्ञासा हुई, अब उसी सिद्धान्त की कसौटी पर कवि की कृति को ही कसकर देखें, वह कहाँ तक सफल होती है। यह परख अलग से पिछले कई पैराग्राफ़ों में ही आरम्भ कर दी गयी है। तीनों बातों पर विचार करेंगे। तब भी एकाध स्थल अभी वासवदत्ता नाम की कविता में भी रह गये हैं, जिनकी ओर इशारा किया जा सकता है। ऐसा एक स्थल इस प्रकार है:

यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य,

यह एक 'जनरल' वर्णन है। इसमें कहाँ तक उदात्त भाव, सद्विवेक और सद्विचार का निर्वाह हुआ है, इसे पाठक स्वयं समझ लें। तब के यती और तपस्वी क्या सचमुच वासवदत्ता के यौवन और रूप को ही प्राप्त करने के लिए यत्न करते और पंचाग्नि तापते थे? युवकों के लिए यह प्रसंग अच्छा आदर्श प्रस्तुत करेगा!

अपने 'उदात्त' नायकों के चरित्र-चित्रण में तो द्विवेदीजी ने कमाल किया है। बुद्ध की सबल मूर्ति के बारे में ऊपर लिख आया हूँ, जरा अर्जुन का हाल सुनिए। अर्जुन इतना कुन्दमग्ज और बुद्धू है कि उर्वशी के खुलकर प्रेमनिवेदन के बाद भी कुछ नहीं समझ सकता। उर्वशी कहती है:

मुग्ध हो गई हूँ गुणी!
रूप-लावण्य पर, विक्रम पर, यश पर,
इन भुज विशाल पर,

इन्हीं विश्वविजयी बाहुपाश में
आश्रय दो आर्य मुझे,
आई हूँ चरण-शरण,
करने को हृदय-वरण,

आदि, और यह बहुत स्पष्ट और आवश्यक मुद्राओं के साथ वह कहती है:

अनुपम सुघराई से
अभिनव अँगड़ाई से—

इसके बाद भी क्या किसी को उर्वशी के अभिप्राय के सम्बन्ध में धोखा हो सकता है? परन्तु निपट अनाड़ी अर्जुन अभी तक छत की कड़ियाँ ही गिन रहा है:

'मैं न समझ पाया अभी
अभिप्रेत आपका,
संकेत आपका ।'

इशारा तक न समझ सके और इसपर तुर्रा यह कि यह चित्र उन अर्जुन साहब का है, जो दिन-दहाड़े सुभद्रा को ले भागे थे, द्रौपदी के विशेष ख़ाविंद थे, उलूपी के प्रिय और चित्रांगदा के अभिन्नहृदय थे। कुणाल इनसे ज्यादा सयाना है, जल्दी समझ जाता है (पृष्ठ ५१, पंक्ति १-३) ! एक बात और। उर्वशी उनके पिता इन्द्र की प्रेयसी होने से माँ लगती है, परन्तु अर्जुन अपना स्थान उसके समक्ष अभी तक ठीक न कर पाये। हृदय में एक ऐसी भावना हिल रही है, जो माँ होने पर भी उनके द्वारा उर्वशी का सम्बोधन 'सुन्दरी' शब्द से कराती है (पृष्ठ १८, पंक्ति ३; पृष्ठ १६, पंक्ति १३)। इतना ही नहीं, बल्कि वह उसके प्रसव की बात तक सोच लेते हैं (जिससे उद्भूत हुआ निर्मलतम देववंश— पृष्ठ १८, पंक्ति ११-१२)।

कवि के स्त्री पात्र तो जैसे असंस्कृत ही हैं। वासवदत्ता की अपने-आप बड़ाई तो ऊपर कह ही आए हैं, उर्वशी भी अपने हाथ को 'पाणि-पल्लव' (पृष्ठ १६, पंक्ति १६) और अपने रूप को 'अनिंद्य, अनवद्य' (पृष्ठ १७, पंक्ति १८) कहती है। वैसे ही यशोधरा का अपने प्रति प्रयोग—'मेरा मृदुल पाणि' (पृष्ठ ७३, पंक्ति ६)—भी निन्द्य है।

चूड़ावत सरदार तो एकदम स्त्रैण है। ज़रा तसवीर में उसका मुँह और हाथ तो देखिए। उसके पाँव ही रण की ओर नहीं बढ़ते। वह नयी बीवी के साथ 'सोना' चाहता है। रोता है—'सोये थे न एक संग' (पृष्ठ २४, पंक्ति १८)। ऐसे ही उर्वशी की एकान्त कामना है—'सोने को···अर्जुन के संग में।' (पृष्ठ १२-१३, पंक्ति २१-३)। यह कवि का मानो अपना 'आब्सेशन' है, जैसे उसकी अपनी एकान्त कामना है।

इस प्रकार कला और काव्य के आदर्शों से तो वासवदत्ता की रचना नगण्य है ही, स्वयं अपने सिद्धांत और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भी वह पूरी नहीं उतरती। राष्ट्र और कला का यह विकराल रूप, नगण्य और तिक्त रूप यदि कहीं वह जगत्-प्रसिद्ध व्यंगकार वोल्तेयर देख पाता तो निश्चय अपने ही शब्दों में वह कह उठता—Crush that most infarmous thing !

३

यह 'वासवदत्ता' की भाषा, शब्द-योजना, विरामादि पर एक नोट है। चिर-काल पूर्व में व्यक्त भाषा न थी। मनुष्य तब अपनी इच्छाओं और क्रोध-हर्षादि को कुछ संकेतों द्वारा प्रकट करता था। तब विचार-शृंखलाओं की

के विषय हैं। काव्य में भाषा ही काव्य-शरीर का वह आकर्षक रूप है और उसके प्रवाह की अकृत्रिम मधुर ध्वनि ही कानों में बहने वाली सुधा-धारा है। 'वासवदत्ता' में प्रयुक्त भाषा निश्चय उसके वस्तु-निकाय के अनुरूप है, जैसा होना चाहिए था और कहीं-कहीं शब्द-योजना भी सुघड़ बन पड़ी है, जिससे प्रादुर्भूत ध्वनि-प्रवाह भी जहाँ-तहाँ आकर्षक हो उठा है, परन्तु अधिकतर उसके स्थल कृत्रिम और प्रयोग ग़लत हैं। कहीं-कहीं तो कवि ने साधारण भाषा तक के प्रयोग में असाधारण भूल की है, जो हास्यास्पद हो उठी है। कुछ शब्दों के तो शायद वह अर्थ ही नहीं जानता और उनके प्रयोग से उसका काव्य कई स्थलों पर दूषित हो उठा है। शब्दों के कुछ निरर्थक और दोषपूर्ण प्रयोग हाल की हिन्दी-कविता में कुछ विशेष रूप के होने लगे हैं। प्रस्तुत काव्य की भाषा पर अब कुछ विचार करेंगे।

पहले कुछ गद्यात्मक प्रयोग देखें। गद्यात्मक से मेरा तात्पर्य है काव्य-माधुर्य-विरहित काव्य जिसे अंग्रेज़ी में 'प्रोज़ेक' कहते हैं। गद्य में लिखे पद्य-ध्वन्यात्मक वाक्य तक को भारतीय आचार्यों ने काव्य माना है (वाक्यं रसात्मकं काव्यं), पर इस उदार परिभाषा के अन्तर्गत भी कवि के अनेक स्थल नहीं आते। सच पूछिए तो 'वासवदत्ता' में ऐसे अरसात्मक वाक्य—'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' के जोड़ीदार—भरे पड़े हैं। कुछ-एक को यहाँ उद्धृत करना अयुक्तियुक्त न होगा। 'वासवदत्ता' की पहली ही पंक्ति है :

आज से बहुत दिन पहले की कहता हूँ बात—
जब कि

इसको दो पंक्तियों में रखा गया है। इसको किस तरह से कविता की पंक्ति कहा जाय—यह मैं समझ न सका, हालाँकि मैंने इसे कई बार उलट-पलट कर पढ़ा। इससे कहीं अधिक जान शायद 'आल्हा' की उस लाइन में रहती है, जिससे ढोलक के स्वर के साथ गाने वाला उस वीर-काव्य का आरम्भ करता है। 'जब कि' पद को दूसरी लाइन, या पहली और तीसरी लाइनों को जोड़ने वाली कड़ी कहें, यह बताना कठिन है। इसी प्रकार अत्यन्त भूखी एक लाइन है—'आये न थे मुग़ल भी इस देश में।' यह लाइन तो किसी इतिहास-ग्रन्थ में भी कुछ अच्छा वाक्य न कहलाएगी, हालाँकि काव्यबद्ध इतिहास की पंक्ति को साधारण इतिहास के गद्यात्मक निबन्ध में डाल देने से उसकी कान्ति कुछ चमक जानी चाहिए। इटली का सुप्रसिद्ध लेखक कासानोवा जब वोल्तेयर से मिला तब वोल्तेयर ने उससे पूछा कि तुम इतना सुन्दर गद्य कैसे लिख लेते हो? कासानोवा ने उत्तर दिया कि अपने गद्य के टुकड़े पहले मैं पद्य में लिख लेता हूँ। इस उद्धरण से तात्पर्य यह है कि कहाँ तो कुछ गद्यकार अपने प्रवाह में माधुर्य लाने के लिए पद्य की टुकड़ियों का प्रयोग करते हैं, और कहाँ हमारे कवि पद्य

को भी गद्यात्मक कर देते हैं। काव्य को परखने का सबसे सीधा तरीका यह है कि उसके पद्य को गद्य करके पढ़ो। अगर उसमें फिर भी काव्य का माधुर्य रक्षित रहे, तब तो उसे कविता की पंक्ति कहना चाहिए, वरना नहीं। अब जरा इस पंक्ति का गद्य करके पढ़िये—'इस देश में मुग़ल भी न आये थे।' कहिए, यह कविता की पंक्ति किधर से है? ऐसी ही कुछ और लाइनें ये हैं:

कोई नहीं पूछता कहाँ रहती है वह

पृष्ठ ५, पंक्ति ७

खिन्नचित्त को है नहीं पूछता कहीं भी कोई

पृष्ठ ५, पंक्ति १०

आज नहीं कोई कहीं आता है
दिखाई देता

नीचे उद्धृत लाइनों में परुष गद्य ने साकार रूप धारण कर लिया है:

आज वासवदत्ता पड़ी है अनाथ!
साथ नहीं कोई;
उसका शरीर दुर्गन्धित है
अंग-अंग सड़ रहा है आज
पीप पड़ गई है,
व्याधि उपजी है ऐसी कि, आते नहीं वैद्य भी,

पृष्ठ ४-६

जरा विरामों के क्रम पर एक नजर फेर लीजिए; किस व्यवस्था से दूसरी लाइन के बाद सेमीकोलन रखा हुआ है और किसके अनुसार तीसरी और चौथी पंक्तियाँ विरामरहित हैं, यह समझ सकना कठिन है; परन्तु अन्तिम पंक्ति में 'ऐसी कि' के बाद कामा तो एक नितान्त अबूझ पहेली है। ख़ैर, कुछ और पंक्तियाँ पढ़िए:

रंगने को सौन्दर्य के रंग में
विलास के ढंग में

पृष्ठ १२, पंक्ति १९-२०

स्वयं काव्यमयी उर्वशी प्रेम के अतिरेक से शिथिल अर्जुन से पूछती है:

नयनाभिराम! क्या वह दिन भी स्मरण है?

पृष्ठ १७, पंक्ति २

उत्तर मिलता है जैसे किसी ने लाठी मार दी हो:

क्यों नहीं स्मरण है?

पृष्ठ १७, पंक्ति ३

और इस लाइन के बाद का विराम ठीक-ठीक उसकी अनागरिक परुषता पर

व्यंग्य करता है ! जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले ! एक स्थल पर माँ-बेटे में संवाद है, उसे सुनिए और उसकी कठोरता पर सिर धुनिए :

कौन तुम ?
कुन्ती देवी !
आह ! आज कैसे यहाँ भूल आई ?
क्यों आई ?

पृष्ठ ३१, पंक्ति १०-१३

इन लाइनों की गद्यात्मकता को भूलकर ज़रा इनके विरामों पर एक नज़र डालिए। 'कुन्ती देवी !' के बाद वाला विराम किस विचार से रखा गया है, समझ नहीं पड़ता। क्या उसकी सार्थकता वैसी ही है, जैसी अगली पंक्ति में 'आह!' शब्द के बाद वाले की ? या 'कुन्ती देवी' अपना नाम चिल्लाकर घोषित करती हैं ? कुछ ऐसा लगता है कि "कौन तुम ?" के प्रश्न की तीखी उद्दण्डता से खीझकर वह भी चिल्लाकर उत्तर देती है, और इतने जोर से, जिसमें उत्तर के स्वर में प्रश्न की गूँज डूब जाय। वरन् इस '!' विराम की सार्थकता क्या होती ? पर कर्ण कुन्ती से क्यों डरने लगा ? उसने गला फाड़कर पूछा 'क्यों आई ?' अब उत्तर दें कुन्ती ! और लीजिए :

पशुओं को न मिलता तृण,
अन्न का कण भला कहाँ उगता खेत में ?

पृष्ठ ४०, पंक्ति ७-८

यह भी कविता है ? और इस दूसरी पंक्ति के विराम का क्या रहस्य है ? क्या सचमुच ही कवि अपने वर्णन के इस प्रसंग में प्रश्न कर उत्तर चाहता है ? कुणाल की रूप-ज्वाला पर शलभ बनकर टूटने वाली सुन्दरी तिष्यरक्षिता के स्नेह-सने उद्गार ये हैं :

'ठहरो, कुणाल !
अभी मत जाओ !
रुको वहीं
मुझे कुछ कहना है !' पृष्ठ ४६, पंक्ति ७-१०

है किसी कवि की हिम्मत इस प्रकार के 'प्रेम लपेटे अटपटे बैन' कहने की ? ज़रा विरामों की युक्ति पर भी एक नज़र डालिए, विशेषकर आखिरी लाइन के बाद वाले पर। एक स्थल पर कवि गाता है :

'कहाँ साम्राज्ञी है ?
किधर आज भागी है ?" पृष्ठ ६०, पंक्ति ६-७

इस भागने में शायद एक लक्षित ध्वनि है—शायद तुड़ाकर भागने की !

शब्द-ध्वनि कविता में अमृत बरसाती है। इसी से टवर्ग का अधिक प्रयोग

भी वर्जित है परन्तु 'वासवदत्ता' में लगभग ५५० बार उसका प्रयोग हुआ है ! अब जरा कुछ ऐसी पंक्तियों की प्रवाह ध्वनि भी सुनिए जिनका उच्चारण काव्य-ज्ञान की विडम्बना सिद्ध होगा । जरा तेजी से पढ़ जाइए :

गृह-गृह आमन्त्रण-निमन्त्रण तथागत का था,
पृष्ठ २, पंक्ति ८

तरुण-अरुण-करुण श्री से वरुणसम
पृष्ठ २, पंक्ति १०

आनत हो चरणों में पाणिपल्लव कर संपुटित,
पृष्ठ ३, पंक्ति ३

बोली वीणा-वाणी में
पृष्ठ ३, पंक्ति ७

करुणामय विलोक शोक-मुक्त रमणी को,
पृष्ठ ६, पंक्ति १३

करते विकीर्ण अपनी शत किरणप्रभा,
पृष्ठ १०, पंक्ति १२

करके पुण्य दर्शन वरेण्य आर्य आपका,
पृष्ठ १३, पंक्ति २१

आई हूँ चरण शरण,
पृष्ठ १५, पंक्ति २०

धीर वीर एक से एक थे श्रेष्ठ और वरेष्ठ,
पृष्ठ २२, पंक्ति ५

कितने गिनाऊँ ? सारी पुस्तक ऐसी लाइनों से भरी पड़ी है, पढ़ते जैसे ज़बान में रोड़े अटकते हैं ।

इसी प्रकार निरर्थक, गलत पदों और मुहावरों के प्रयोग भी काफ़ी हुए हैं । कुछ नीचे देता हूँ । इनमें कुछ तो ऐसी दुरूह पंक्तियाँ हैं कि उनका अर्थ समझना कठिन है :

अपनी थी संस्कृति अछूत, पूत पावन विचारों से
अपना था दिवस, और, अपनी थी सभी बात ।
पृष्ठ १, पंक्ति ८-९

अब जरा इसे सीधा कीजिए—पर ऐसा करना कुछ आसान नहीं । इसका अर्थ कैसे लगेगा ? क्या पूत-पावन विचारों से अपनी संस्कृति अछूत थी ? और अछूत थी ? 'अन्टचेबुल' अस्पृश्य ? या अछूती ? फिर भी समस्या यह है कि क्या वह पूत-पावन विचारों से अछूत थी—रहित थी ? पर यह तो कवि के भाव के ठीक उल्टा पड़ेगा । परन्तु एक बात है—'विचारों से' के बाद कोई

विराम तो है नहीं, इसलिए इसका सम्बन्ध शायद अगली लाइन से हो, फिर भी तो 'पूत-पावन विचारों से अपना था दिवस' का कुछ अर्थ नहीं निकलेगा। फिर इस पहेली को कौन समझाए ?

एक स्थल पर उल्लेख है—'खिल उठी थी फुल्लमालती' (पृष्ठ २, पंक्ति १८)। इसमें जब 'मालती फुल्ल' है, तब उसका फिर खिल उठना कैसा ? कहीं ज्ञानमहोदधि हमारे कवि ने 'फुल्लमालती' के अतिरिक्त 'अफुल्लमालती' की खोज तो नहीं कर डाली ! डा० साहनी इस नवीन स्पिसीज़ (Dvivedia Aphulla Malatia) की खोज के लिए अत्यन्त अनुगृहीत होते ! एक लाइन है—'उन्नत कुचकलशी को अंचल से ढकती-सी' (पृष्ठ ३, पंक्ति ५)। 'कुचकलशी' का प्रयोग हिन्दी कवियों को अब छोड़ ही देना चाहिए। इस शब्द का प्रयोग संस्कृत में मातृत्वबोधी 'पयोधरों' के अर्थ में हुआ है। परन्तु साधारण स्तनों के सौंदर्य को बताने के लिए तो इसका प्रयोग अत्यन्त अनुचित होगा। इसका प्रयोग करना नारीत्व का अपमान करना है। कोई युवती अपने स्तनों की उपमा घड़े या मटके से पसन्द न करेगी, और अंचल चाहे जितना बड़ा हो 'कुच-कलशी' को ढक नहीं सकता। इसी प्रकार 'परिरम्भण' (आलिंगन) शब्द इस कवि का बड़ा प्यारा पद है। पूरी पुस्तक में 'आलिंगन' शब्द का शायद एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ—पुराना होने से कवि ने 'परिरम्भण' से उसे बदल दिया है। परिरम्भण का प्रयोग कम-से-कम चार बार हुआ है और एक बार तो वह केवल परिरम्भण से सन्तुष्ट न होकर 'परिरम्भण की यमुना में' (पृष्ठ ७०, पंक्ति ६) डूबने-उतराने लगा है। एक प्रयोग है 'यह न तिरस्कार करो' (पृष्ठ ३, पंक्ति ११)। यह का प्रयोग यहाँ ग़लत है, 'इसका' होना चाहिए था। इसी प्रकार 'आर्यपुत्र' शब्द का ग़लत प्रयोग तीन-चार स्थलों पर हुआ है। इसका अर्थ है 'ससुर का बेटा', जिसका प्रयोग केवल पत्नी अपने पति के लिए करती है, परन्तु द्विवेदीजी ने सर्वत्र 'विशिष्ट' के अर्थ में अपनी ओर से किया है, पति के अर्थ में एक बार भी नहीं ! एक लाइन है :

> यह आया हूँ, आज देवि !
> आज अनिवार्य था आना यहाँ मेरा यह !
>
> पृष्ठ ७, पंक्ति २-३

यहाँ 'यह' शब्द का दुबारा प्रयोग शायद उतना ही 'अनिवार्य' था जितना गौतम का लौटकर आना। एक शब्द का प्रयोग तो अपूर्व है, जैसा न कभी देखा, न सुना, न पढ़ा—वह है 'अप्सरियाँ !'.

> लासमयी, हासमयी, विविध विलासमयी,
> सुन्दरियाँ, अप्सरियाँ, किन्नरियाँ
>
> पृष्ठ ८, पंक्ति ३

यह 'अप्सरियाँ' क्या बला है ? यह क्या अप्सरा का स्त्रीलिंग है ? शायद, जभी तो 'सुन्दरियाँ' और 'किन्नरियाँ' के साथ इसका तुक बैठेगा। निश्चय हमारा कवि ध्वनि का लोलुप है, कुरंग-सा, कहीं घुटने तोड़ न बैठे ! 'अप्सरियों' का एक स्थल पर और प्रयोग है—अप्सरियों ने नवीन मदिरा से पात्र भरा (पृष्ठ ६, पंक्ति १५)—उसी प्रकार ग़लत। पृष्ठ ८, पंक्ति ६ में कवि ने 'मधुपर्क' को पेयों में गिना है। जहाँ तक मैं जानता हूँ यह लेह्य था और सत्कार में प्रयुक्त होता था, 'सुरा, सुधा, सोमरस' की भाँति पीने में नहीं। 'देवासुर' के स्थान में कवि ने 'देवसुर' रखा है—देवसुर प्रेयसी—(पृष्ठ १०, पंक्ति ५)। 'देव' का वही अर्थ है, जो 'सुर' शब्द का है। यहाँ कवि का तात्पर्य 'देव' और 'असुर' से लक्षित होता है। पृ० १०, पंक्ति १५ इस प्रकार है—'म्लान-श्री हुई थी इन विलास-लीन देवों की।' इसमें 'म्लान-श्री' समस्तपद का इस्तेमाल ग़लत है। 'म्लान-श्री' विशेषण है, जिसका अर्थ हुआ—'मलिन कान्तिवाला'। यहाँ पर कवि का भाव है—'इन विलास-लीन देवों की श्री हत हो गई थी'। एक स्थल पर (पृष्ठ ११) स्वर्गंगा अभिसारिका बनकर 'सिंधु अधर चूमने' जाती है। अभिसार के लिए नभ का नील वसन पहनकर वह गहन कानन से होकर जाती है। लेकिन कवि को सूझी खूब—'बनकर अभिसारिका', परन्तु 'सजकर शत तारिका,'—यह एक ही रही ! संस्कृत कवियों से लेकर हिन्दी के मध्यकालीन कवियों तक जिस-जिसने अभिसार का रूप खींचा है, सबने अभिसारिका को भूषणहीन कर अंधकार में भेजा है, इसी कारण उसे नीला या श्याम वसन भी दे दिया है, परन्तु हमारा कवि स्वर्गंगा को सौ-सौ तारिकाओं से सजाकर भेजता है। भला अभिसार भी तो लुकी-छिपी एक छोटी-मोटी शादी ही है और शादी छोटी या बड़ी आखिर शादी ही है। फिर गाजे-बाजे न हों, गैस-मशाल न हों, चरखी-आतिशबाजी न हों, तो वह भी कोई शादी है ? कालिख पोत दी मध्यकालीन कवियों और प्राचीन काव्य-रीति पर ! क्यों न हो—किसी ने कहा, तुम्हारे बेटे की एक चुटिया है, जब हमारे बेटा होगा, हम उसकी नौ चुटिया रखेंगे ! तो हमारे कवि ने कहा—मुँह तुम्हारी अभिसारिका का काला हो, हमारी के तन पर तो नील वसन होगा और उसके हाशिए पर शत-शत तारिकाएँ टँकी होंगी ![1] ठीक ही है, फ़ैशन में अब 'मैच' की तूती गई, 'कन्ट्रास्ट' का बोलबाला है और यह सब घटाटोप कवि ने बाँधा है इसलिए कि वह उसी के अनुरूप उर्वशी को अर्जुन के समीप अभिसार के लिए भेज सके। और उसके अभिसार का रूप क्या है ?—वह उजेली रात (विभावरी) की भाँति सुन्दरी हीरहार और पुष्पहार से सजकर, अंग-अंग में अंगराग, केसर और

१. शुक्ला अभिसारिका भी होती है। पर यह तो न कृष्णा हुई न शुक्ला। —लेखक

मृगमद-पराग मलकर (परन्तु यह मृगमद-पराग क्या चीज़ है? फूलों के पराग की वात तो सुनी है, पर कस्तूरी के पराग की नहीं। या मृग का अर्थ हाथी लेकर कवि ने उसके मद की वात तो नहीं सोची; पर उसके वहते मद का भी पराग कैसा? पर एक वात है, मतवाले हाथी के गण्डस्थल पर जब मद वहता है तो कवियों ने लिखा है कि उस पर भौंरे मडराते हैं। कहीं कवि ने उन भौंरों के पंखों से झड़ते फूलों के पराग की वात तो नहीं कही!) मस्तक पर सौभाग्य-कुंकुम का तिलक कर, लाल चरणों में पाजेब बजाती, सैकड़ों किंकिणियाँ झनकारती, चराचर के सारे तारों को झंकृत करती अर्जुन के पास जाती है। मूल पढ़िए :

सुन्दरी ज्यों विभावरी
सजकर नव हीर-हार
पुष्पहार
अंग-अंग अंगराग,
केसर मृगमद-पराग
मस्तक कुंकुम सुहाग,
अरुण चरण,
नूपुर ध्वनि,
बजती शत किंकिणी
बजती-सी आगमनी (?)
मृदु-मृदु मधु झंकार
झंकृत-सी करती चर-अचर निखिल तार,

पृष्ठ १२, पंक्ति ६-१२

अभिसार उर्वशी का है, किसी ऐरी-ग़ैरी का नहीं, जभी तो वह सारे चराचर को जगाती हुई ऐलान-सी करती जा रही है—देखो, यह मेरा, उर्वशी का, अभिसार है! अभिसार तो क्या है, जैसे घण्टा बजाता हाथी चला आता हो! फिर भी कुछ बेजा तो होगा नहीं, प्राचीन पद्धति तो रह जायेगी—'गजगामिनी' संज्ञा तो सार्थक हो जायेगी! अब ज़रा उर्वशी की व्याख्या सुनिए :

चली उर्वशी,
नाम सार्थक बनाने को

पृष्ठ १८, पंक्ति १६-१७

नाम की सार्थकता समझ नहीं आयी। उर्वशी की उपमा वेदों में उषा से अवश्य दी गयी है, पर यहाँ तो वह प्रसंग भी नहीं है। शायद 'उर्वशी' शब्द के निरुक्त पर कवि की इच्छानुसारिणी व्याख्या स्वतः प्रमाण है—उस 'उरवशी'—'उर'

(हृदय) में, 'वशी', वसने वाली—का कुछ ख़याल-सा आ गया जान पड़ता है। उसके नाम की संज्ञा 'उरु' के 'अश्' धातु के संयोग से बनी है, जिसका अर्थ है—व्याप्त। उसका जन्म पुराणों में नारायण की जंघा से माना गया है (देखिए, हरिवंश, ४६०) और इसी कारण कालिदास ने भी अपनी 'विक्रमोर्वशी' में उसे 'पिता के लोक (आकाश) को लाँघती हुई' कहा है, उसे नारायण की जंघा से उत्पन्न मानकर। एक प्रयोग बहुवचन का देखिए—'उन्हीं विश्वविजयी बाहु-पाश में' (पृष्ठ १५, पंक्ति १८)। पता नहीं 'उन्हीं' एकवचन है या 'बाहुपाश' बहुवचन। एक प्रयोग और देखिए :

उत्सुक हो पूछा था—
कैसे मैं निकाल सकी ?

पृष्ठ १६, पंक्ति १७-१९

यहाँ उर्वशी पहले का हवाला देकर अर्जुन से पूछती है कि जब मैंने स्वर्गंगा में स्नान करते हुए स्वर्णकमल अथाह जल से तोड़ा था, तब तुमने पूछा था कि तुम फूल कैसे निकाल सकीं। यहाँ कवि ने हिन्दी का तरीक़ा ताक़ पर रखकर अंग्रेज़ी का अपनाया है। हिन्दी का तरीक़ा होगा—कैसे तुम निकाल सकीं ? और यह सवाल भी तो बच्चों का-सा है, औत्सुक्य भी कुछ वैसा ही है। फिर क्या अर्जुन उर्वशी को तैर सकने का श्रेय नहीं दे सकता था ? पर अर्जुन की इतनी उधेड़-बुन क्यों ? भारतीय संस्कृति का पंडित होने पर भी उसे इस बात का ध्यान न आया कि उर्वशी अप्सरा थी और अप्सरा उसे कहते हैं जो जल से प्रादुर्भूत हुई हो ? 'सद्यःस्नाता' या 'सद्यःस्नात' को कवि लिखता है 'सद्यस्नात' (पृष्ठ १६, पंक्ति १४)—बलिहारी ! ऐसे ही 'संघात' शब्द का प्रयोग 'सम्यक् रूप से घात' के अर्थ में किया गया है (पृष्ठ २१, पंक्ति ४), जहाँ कठिनतम उसका विशेषण भी है—'कोमलतम भावनाओं पर कठिनतम संघात'—'कठिन-तम' काफ़ी नहीं था, इसलिए 'सम्' की भी आवश्यकता पड़ी ! 'संघात' वास्तव में अत्यन्त निकटता को कहते हैं, जैसे कणों के संघात से ठोस द्रव्य (मैटर, प्रकृति) बनता है। यह कवि का संघात कणाद को निश्चय विह्वल कर देगा। यह 'संघात' एक बार और पृष्ठ २२ पर किया गया है, और केवल उसी से सन्तोष न कर कवि ने 'आघात' और 'प्रतिघात' का भी सहारा लिया है ! कुछ और रह गये—प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अभि प्रति उप सु उत् !

'चरित्र चाप'—पृष्ठ २३, पंक्ति १७ में 'चरित्र' शब्द का प्रयोग अनुचित है। 'चरित्र' और 'चरित' शब्दों में एक सूक्ष्म अन्तर है। 'चरित्र' श्लाघ्य नहीं है और उसका प्रयोग 'त्रिया-चरित्र' जैसे प्रसंगों में होता है। उसके स्थान में जीवन-कहानी के अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग होता है वह है 'चरित', जैसे

संस्कृत और प्राकृत में भवभूति का 'उत्तररामचरित्', दण्डी का 'दशकुमार-चरित्', वाणभट्ट का 'हर्षचरित्', पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित्', विल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित्', सन्ध्याकर नन्दी का 'रामचरित्', हेमचन्द्र का 'कुमारपाल-चरित्', चन्द्रप्रभ सूरि का 'प्रभावकचरित्', गंगादेवी का 'कंपरायचरित्', जयसिंह सूरि, चारित्र सुन्दरगणि और जिनमंडनोपाध्याय के अपने-अपने 'कुमारपालचरित्', जिनहर्षगणि का 'वस्तुपालचरित्', आनन्दभट्ट का 'वल्लालचरित्', और हिन्दी में भी तुलसीदास का 'रामचरितमानस'। 'इधर मैं यहाँ यह अभी' पृष्ठ २८, पंक्ति ५, में कविता की धारा फूट-सी पड़ी है और उसमें सब एक साथ वह चले हैं, 'इधर, यहाँ, यह, अभी'! 'तेरे यश का कलश सुवर्ण' (पृष्ठ ३०, पंक्ति ८) में यश के कलश का प्रयोग है। यश का स्तूप या स्तम्भ होता है कलश नहीं, कलश प्रासाद के कँगूरे का होता है, या पानी का, या स्वयं कवि द्वारा प्रयुक्त 'कुच' का! एक और स्थल पर इसी प्रकार 'कलश' 'खड़ा' किया गया है और उसीके साथ-साथ 'वन्दी गान' भी!

> **लूट-लूट करके इन लुटेरों ने**
> **खड़ा किया (?) प्रासाद उच्च भवन,**
> **ध्वजा, कलश, तोरण और बन्दी गान!**

पृष्ठ ६८, पंक्ति १२-१४

एक स्थल है:

> **कर्ण देख कुन्ती का मुख विवर्ण, स्वर विवर्ण,**
> **ढले जैसे द्रवित स्वर्ण,**
> **उनके दृढ़ नेत्रों में ढरक आये अश्रु चार।**

पृष्ठ ३३, पंक्ति ६-८

'मुख विवर्ण' तो ठीक, पर 'स्वर विवर्ण' कैसा? 'विवर्ण' कहते हैं रंग उड़ जाने को। चेहरे पर तो रंग रहता है, जो उड़ जाता है, रक्त के प्रभावित संचार-से, परन्तु यह स्वर का विवर्ण होना कैसा? और आँसुओं की उपमा मोती से तो पढ़ी-सुनी है, पर स्वर्ण से कभी नहीं। कालिदास को हमारे कवि ने अपनी उपमाओं की सबलता से मात कर दिया। आँसुओं की एक किस्म शायद लाल-पीली भी होती है। फिर यह 'नेत्रों में' आँसुओं का ढरक आना कैसा? अन्तर के आँसू आँखों में चढ़ते हैं, ढरकते नहीं। अंग्रेज़ी में भी मुहावरा है—Tears welled up in the eyes—चढ़ने का ही। और नेत्रों में किसी प्रकार अगर चढ़ भी गये ये आँसू तो कवि ने उन्हें वहाँ एक राशि में रहते भी 'चार' कैसे गिन लिया? और अगर नेत्रों से बाहर कपोलों पर ढरके तो आधी रात के गहन कानन अँधेरे में कवि ने उन्हें देखा और गिना कैसे? पर यह प्रश्न शायद अनुचित होगा, क्योंकि यदि उसी अँधेरे में उसके कर्ण और कुन्ती

छाया देख सकते हैं तो उनका स्रष्टा कवि क्या चार आँसू भी नहीं गिन सकता ? एक जगह आप कहते हैं—'युग-युग युगान्त श्रान्त जो कि गृहहीन हो' (पृष्ठ ३३, पंक्ति १८)। इसमें या तो 'युग-युग' का प्रयोग उचित है या 'युगान्त' का ही; क्योंकि दोनों पद परस्पर विरोधी हैं, जो युग-युग का होगा, वह युगान्त का नहीं हो सकता। 'युग-युग' अनन्त की संज्ञा है, 'युगान्त' एक छोटे काल-परिमाण, बारह बरस की। 'एक-एक टुकड़ों' (पृष्ठ ३७) का प्रयोग भी ग़लत है। सही प्रयोग होगा, 'एक-एक टुकड़े'। एक मनोरंजक प्रसंग है। कुन्ती कर्ण को अपने दूध की शपथ देती है। कहती हैं :

शपथ है तुझे आज मेरे इस दूध की।

पृष्ठ ३८, पंक्ति १

दूध की शपथ कर्ण को कैसी ? उसने तो कभी वह दूध पिया नहीं। फिर 'इस दूध की' से क्या मतलब ? क्या कुन्ती ने अपना दूध दिखलाया था (देखिए पृष्ठ ३३, पंक्ति १२-२२)। 'में' के प्रयोग करने में भी हमारा कवि सिद्धहस्त है, जैसे :

मेरे ही कर में आज
निर्भर है विजय-हार !

पृष्ठ ३८, पंक्ति ७-८

स्निग्ध पर्यंक में,

पृष्ठ ५४, पंक्ति १०

जब कर्ण लड़ने के लिए रणभूमि की ओर जाता है, तब कवि उसके 'पद-नख' से 'विद्युत-सी फूटती' देखता है (पृष्ठ ३६)। ग़रीब के पास शायद जूते भी न थे ! हालाँकि वही कवि कुणाल के पाँवों में जूते न देख रोता है :

नग्न चरण,
जिनमें लिखे थे अमिट वरण

पृ० ५६, पंक्ति १६-२०

क्या ठीक, कर्ण दानी था, मुँहमाँगा देने वाला, किसी को दे बैठा हो। जब सड़कें और रेलें न थीं, तब अवश्य जूतों के दान की अनन्त महिमा रही होगी ! और यह 'वरण' क्या बला है ? यह वर्ण है, वरण है, व्रण है या वर्णन है ? वर्ण कहते हैं रंग को, वरण स्नातक ब्राह्मणों को दान में दिये थान के टुकड़े को, व्रण घाव को, और वर्णन कैफियत को। यहाँ किसको 'सावें' ? कैसे यह स्थल 'लगे' ? 'क्षुधा' शब्द को कविजी शायद पुल्लिंग समझते हैं, लिखते हैं—'मानव के क्षुधा की' (पृ० ४५, पंक्ति ७)। और सीधी बात को ज़रा रहस्यमय तो वे अवश्य कर देंगे, जैसे 'चुप रह' को 'चुपसी रह' (पृ० ४५, पंक्ति १५) कहेंगे। आप लिखते हैं—'वसुधा पर, सागर पर, पर्वत पर, निर्झर पर, सरिता पर, सर

पर, कण-कण पर, तृण-तृण पर, (पृ० ४६, पंक्ति २०-२३)। अवश्य अन्य गिनाये स्थल 'वसुधा' से पृथक् हैं ! तिष्यरक्षिता जब कुणाल की ओर आकर्षित होती है, तब सोच-समझकर। कुछ खिलवाड़ तो नहीं है, आख़िर रानी है। कुछ साधारण जन होती तो मन सहसा दे डालती। तन समर्पित करने में चाहे कोई झिझक न हो, पर 'मन' समर्पित करने में निश्चय उसे कुणाल की राय अपेक्षित होगी। कुछ ग़ज़ब की पशोपेश है। कहती है—'चाहती हूँ कर दूँ समर्पित मन तुम पर !' (पृ० ५०, पंक्ति १५) फिर पूछती है—'स्वीकृत करोगे इसे ?' (पृ० ५०, पंक्ति १६) ज़रा 'समर्पित' और 'पर' के सम्बन्ध पर ग़ौर कीजिए। ऐसे ही 'राज्य पर' नहीं 'राज्य में' आक्रमण होते हैं (५२, १२)। नये व्याकरण की सूझ है। जैसे कवि ने एक नये रस—शुष्क रस—की सृष्टि की है, वैसे ही एक नये व्याकरण की भी। आपके प्रयोग हैं 'राज्य-सद्म' (५२, ३), 'राज्यमुद्रा' (५६, ४), 'राज्याज्ञा' (५६, ८), 'राज्यसद्म' (६१, १२) राजसद्म, राजमुद्रा, राजाज्ञा से काम न चल सका ! हमारा महाकवि 'महा' से नीचे किसी तरह नहीं उतरता—'महाप्रेम ही तो बन जाता तब महाघृणा !' (पृ० ५३, ८)। 'भिक्षा-प्राप्ति' में भी एक महाभिक्षु है, दूसरा महानृप, तीसरा महासेठ, चौथा महावणिक, पाँचवाँ महागान, छठा महादुर्भिक्ष। भिक्षुणी के लिए किस तरह महाकवि महाकंगाल हो गया है, पता नहीं। कहीं-कहीं तो अर्थ समझना असंभव हो गया है, जैसे गौतम को जब अतीत की स्मृतियाँ विकल करती हैं और वह बारी-बारी उन्हें याद करता है, तब कवि उड़ान बाँधता है :

> **वृद्ध जर्जर का,**
> **कुष्ठगलित नर का,**
> **जिसे लिये जा रहे थे चार मलिन कंधों पर**
> **भीषणतम शव का,**
> **महादुख निर्भर का,**

पृष्ठ ७५-७६

अब लगाइए अर्थ इस आख़िरी लाइन का। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अर्थ लगाने वालों को इनाम बाँटा करते हैं, अपने दुरूह स्थलों में इसे भी जोड़ लें ! कुन्ती बार-बार अपने 'स्तन्यपय' की बात कहती है (पृष्ठ ३१, पंक्ति ९ और १६, पृष्ठ ४३, ३१)। क्या 'स्तन्य' न कहने से बात न बनती ? या स्त्री के कहीं और से भी दूध निकलता है ? एक मार्के की बात और। कवि समृद्धि की पराकाष्ठा मानता है 'दूध-भात' को :

> **शिशुओं को खिलाएँ माताएँ आज दूध-भात।**

पृष्ठ ४३, २२

मेरे एक मित्र हैं। एक बार हम लोग अपने-अपने बचपन की कुछ अजीब बातें कहने लगे। मैंने कुछ अपनी कहीं, दूसरे ने कुछ अपनी, फिर उन मित्र ने कहा—'भाई, मैं जब छोटा था, तब सोचा करता था कि राजा लोग दाल ही से कुल्ले भी करते होंगे, दाल ही से हाथ-मुँह भी धोते होंगे और दाल ही से स्नान भी करते होंगे। उन्हें दाल इतनी प्रिय थी! इस 'दूध-भात' से भी कुछ ऐसी ही ध्वनि आती है।

'वासवदत्ता' में पुनरुक्ति दोष तो भरा पड़ा है। कुछ बानगियाँ लीजिए :

अपनी थी संस्कृति अछूत, पूत-पावन विचारों से

पृ० १, पंक्ति ८

चाहते अधर का दान, चाहते भृकुटि का दान!

पृ० ३, पंक्ति १५

कैसी संदिग्ध भ्रम-धारा में बहती हो या ?

पृ० १४, पंक्ति १६

पार्थ, तो क्या यह भ्रम था मेरा नितान्त ही ?

पृ० १८, पंक्ति १३

छलना प्रवंचना थी मेरी भावना ही की ?

पृ० १८, पंक्ति १४

हतचेतन अचेतन हुई उर्वशी !

पृ०, २० पंक्ति १०

कानन अरण्य बीच,

पृ० ३०, पंक्ति ३

स्वप्न था या कि सत्य ?

पृ० ३६, पंक्ति १

चलने लगा कुचक्र षड्यन्त्र

पृ० ५१, पंक्ति ५

चेतनाहीन मूर्छित-सी

पृ० ६०, पंक्ति १४

गर्जे गम्भीर वज्रनाद-सा निनादकर
जैसे हो फटा वज्र,
गिरा अशनि

पृ० ६१, पंक्ति १-३

मूक सामंत, मंत्री, सभासद, सदस्य सभी

पृ० ६२, पंक्ति १

ऋण लेकर उधार

पृ० ६७, पंक्ति ३

आम्रकुञ्ज कानन से, वन से, उपवन से

पृ० ६७, पंक्ति ५

इनमें पुनरुक्तियाँ इतनी स्पष्ट हैं कि उनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। मैं केवल उन्हें मोटे अक्षरों में किए देता हूँ। दूसरी पंक्ति में द्विरुक्त 'चाहते' और 'दान' को अगर 'माँगते' और 'मान' से बदल दें तो अच्छा। भृकुटि का दान कोई नहीं चाहता, मान ही वहाँ सार्थक है। अन्य तीन पंक्तियों (दूसरी, तीसरी और आठवीं) में पुनरुक्ति तो नहीं, समानार्थ शब्द-बाहुल्य है, जिसके बिना काम चल सकता था। जैसे, तीसरी पंक्ति में या तो शुरू का शब्द 'कैसी' रखा जाए या अन्त का 'या'। इसी प्रकार चौथी में 'नितान्त' में 'ही' स्वयं काफी मात्रा में है, पृथक् 'ही' की आवश्यकता नहीं। आठवीं लाइन—स्वप्न था या कि सत्य—में 'या' और 'कि' में से किसी एक से काम बन जाएगा।

द्विवेदीजी ने मुहावरों का प्रयोग कुछ ख़ास गम्भीरता से किया है। जैसे :

आज्ञा दो देवि, करूँ—
मस्तक पर, आँखों पर,···

पृ० १३, पंक्ति १२-१३

गोद भर आज **मैं बनूँ** निहाल !

पृ० ३१, पंक्ति १५

शक्ति किसमें ?
जो सके बोल,
वाणी को सके खोल
एक असिघाट में उतारा जाय वह भी अभी

पृ० ६१, पंक्ति १८-२१

मुहावरों के प्रयोग में खास बात यह होती है कि वे जैसे हों वैसे ही उनका इस्तेमाल किया जाय। जैसे 'सिर आँखों पर' को 'मस्तक पर आँखों पर' नहीं लिख सकते। वैसे ही 'निहाल होना' मुहावरा है, 'निहाल बनना' नहीं। 'तलवार के घाट उतारना' एक बड़ा पुष्ट मुहावरा है, पर उसको हमारे कवि ने सुधार दिया है 'तलवार' को 'असि' से बदलकर। यहाँ संस्कृति की बात जो थी ! उसने एक नया मुहावरा भी गढ़ा है, खोल सकना, सुन्दर और गम्भीर—वाणी को सके खोल—बिलकुल नयी सूझ है। सारी 'वासवदत्ता' में इस महाकवि ने वाणी खोली है। पर वाणी खोलकर कवि ने जो एक अजीब पेंच से गाँठ दे दी है, उसका खुलना तो सचमुच ही कठिन है।

छन्दों, अलंकारों और विरामों पर भी कुछ लिखना चाहता था, परन्तु

समझता हूँ, ऐसा करना समय और कागज दोनों का अपव्यय होगा। अलंकार तो कुछ अजीब ही बहुलता में प्रयुक्त हुए हैं और विरामों के प्रति तो उनकी विशेष अनुरक्ति मालूम होती है। एक ही वाक्य तीन-तीन स्टैंज़ा (पद्यांश) तक चले जाते हैं, बिना विराम के, और उनमें क्रिया कहीं एक में है, कहीं दूसरे में। कहीं-कहीं तो एक पूरा स्टैंज़ा केवल एक शब्द 'क्योंकि' का बनता है जो दो के बीच त्रिशंकु-सा लटका रहता है, और छन्द? मुक्त काव्य में छन्द की बात क्या कही जाय? फिर द्विवेदीजी की इन स्वच्छन्द पंक्तियों की ध्वनि कुछ अपनी विशेषता लिये हुए है। दो लाइन सुन ही लीजिये:

एक दिवस रंग था,
नाटक प्रसंग था,

पृ० ४६, पंक्ति १-२

कुछ नौटंकीवाली ध्वनि-सी सुन पड़ती है। एक बार सुना था—सर्वांग दुखता है—किन्तु कहाँ? जवाब कहता है—[illegible] कहीं, कमर कहीं!

चलते-चलते एक बात अपने कवि से कह दूँ। दुनिया में प्रेसों की संख्या बहुत बढ़ गई है, जिससे जहाँ पुस्तकों की प्राप्ति आसान हो गई है, वहाँ एक दुर्भाग्य भी आ खड़ा हुआ है, वह है—छपे शब्दों का अत्याचार। इस विपत्ति से हमें बचाना बहुत-कुछ हमारे कवियों के हाथ है। यदि कुछ दुरुस्त चीज़ न दे सकें तो अपनी क़लम तोड़ दें, स्याही उलट दें, जिससे हम उनके क़हर से तो महफ़ूज़ रह सकें।

५

नदी के द्वीप

'नदी के द्वीप' दो बार पढ़ चुका हूँ। दोनों बार इलाहाबाद से हैदराबाद की राह में। पहली बार प्राय: साल-भर पहले, दूसरी बार अभी, पिछली रात। दोनों बार मुझ पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। दोनों बार मैं 'भींगा', गहरा 'भींगा'। इस बार तो इतना कि, यद्यपि 'कल्पना' के संपादक को प्राय: साल-भर पहले ही इसकी आलोचना लिखने का वचन दे चुका था, लिखे बगैर न रह सका यानी उसमें इतना 'भींगा'—'डूबा'। 'भींगा' शब्द विज्ञ पाठक समझेंगे, मेरा नहीं, श्री जैनेन्द्र का है, जो उन्होंने श्री शिवदानसिंह चौहान को पत्र में लिखा और जो उन्होंने स्वयं मुझसे भी कहा था। चौहानजी ने उसे 'आलोचना' (वर्ष १, अंक २, जनवरी, १९५२) में छापा था। उसे पहली बार मैंने अभी-अभी पढ़ा है।

'नदी के द्वीप' 'अज्ञेय' का दूसरा उपन्यास है। उनका पहला उपन्यास 'शेखर—एक जीवनी' मुझे बड़ा अच्छा लगा था, सिद्धांतत: भी, क्योंकि उसकी वैयक्तिकता का व्यास बड़ा व्यापक है। मैं 'अज्ञेय' के कृतित्व का, उनकी कला का क़ायल हूँ, उनके दृष्टिकोण का बेजोड़ विरोधी। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए। कृति के दो पक्ष होते हैं—कला पक्ष और सिद्धान्त पक्ष। साहित्य या कला में केवल सिद्धान्त पक्ष नहीं चलता, उसका आधार कला पक्ष है। पर सिद्धान्तविहीन कला पक्ष हो सकता है, चल सकता है, सिद्धान्त-विरोधी कला पक्ष भी। इसी दृष्टि से सिद्धान्तहीन अप्रगतिशील—प्रतिगामी तक—साहित्य (जैसे अतीत 'क्लासिक') की हम प्रशंसा करते हैं, उसमें रस लेते हैं। महान् साहित्य दोनों से बढ़कर है, वह जिसकी कलाकारिता का स्वर उदात्त कल्याणकर सामाजिक सिद्धान्त हो।

सिद्धान्त के पक्ष में, मेरे सामाजिक दृष्टिकोण से, 'अज्ञेय' में ह्रास हुआ है, कला के पक्ष में उत्तरोत्तर विकास। उनकी कला मँज गई है। कला की व्यवस्था प्रयोग-प्रधान है, रूपायित होकर ही विकसित होती है, मँजकर ही

प्रौढ़ होती है। उसमें 'मिनर्वा वार्न इन मोनोप्ली' का-सा कोई सिद्धान्त आचरित नहीं होता। 'शेखर—एक जीवनी' में दोनों पक्ष सबल हैं, वह कृति महान् है। पर सिद्धान्त पक्ष नगण्य अथवा विद्रूप होने के कारण 'नदी के द्वीप' महत्तर तो नहीं ही हो सका, उस स्तर से विप्रस्थित भी हो गया, च्युत। उसका कला पक्ष अधिक गठा है, अधिक कोमल, अधिक तरल, अधिक द्रव, अधिक मोहक है। यह मेरी 'प्रतिज्ञा' है। लेख का अगला भाग उसी की 'व्याप्ति' है, उसका निष्कर्ष उसी का 'निगमन'।

कला पक्ष क्यों? साहित्य क्या कला है? परंपरया दोनों कुछ भिन्न हैं—'साहित्यसंगीत कलाविहीनः' पद में तीनों के पृथकत्व का बोध है। क्योंकि तीनों की पृथक्-पृथक् भावसंपदा है, भिन्न-भिन्न रसबोध है, अनेकतम दर्शन है। भावसंपदा व्यंजना की वस्तु है, तीनों की अपनी-अपनी, रसबोध अंतरंग-ज्ञापन, प्रवाह प्रभाव, 'भींगने' की निष्पत्ति है अपनी-अपनी; दर्शन आकृति की है, कोरण-रूपयान की, छंद-राग वर्ण की, अपनी-अपनी। यही आकृति, दर्शन, रूपयान साहित्य और कला में, फिर दोनों की संगति में भी, सान्निध्य स्थापित करते हैं। इसी से साहित्यकार कलाकार भी हो जाता है, समाधिस्थ ('शिथिल-समाधिदोष'—देखिए 'मालविकाग्निमित्र' और 'शुक्रनीति'—विरहित, शुद्ध) सफल कलाकार।

'नदी के द्वीप' को दोनों दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न करूँगा, कला की दृष्टि से भी, सिद्धान्त की दृष्टि से भी, 'सत्य' और 'तथ्य' दोनों देखने का यत्न करूँगा यद्यपि आलोचक दोनों को सदा देख नहीं पाता। आलोचक है न—उसके पैर नहीं होते, और दौड़ना सिखाता है। आलोचक की खामियों का समाधान और पूर्ति एक ही प्रकार से हो सकती है—भारतीय आलोचक की शास्त्रीय पद्धति को यथासंभव अपनाकर। आलोचक 'जिज्ञासु' और 'सहृदय' होता है। जिज्ञासा की उसकी जागरूकता उसे मोहाविष्ट नहीं होने देती, उसकी चेतना को सजग रखती है, जिससे उसकी दृष्टि पंगु न हो जाए। 'सहृदयता' उसे पूर्वग्रह से आविष्ट नहीं होने देती, तादात्म्य स्थापित करने में सहायक होती है, तटस्थता की परुषता को संवेदना द्वारा स्निग्ध कर देती है। तादात्म्य और संवेदनशीलता उस साधारणीकरण के वाहन हैं, जिसके द्वारा साहित्य मात्रा की असमता के बावजूद स्वच्छंद वायु, चाँदनी, धूप, जल की भाँति प्रायः समान रूप से हमें सिक्त-आप्लावित करता है। साधारणीकरण साहित्य की व्यापक सत्ता का मानदंड है, उसकी परिधि का माप।

'नदी के द्वीप' में नदी कम है द्वीप अधिक है। नदी प्रवाह की प्रतीक है, अनंत जलकणों की एकस्वरता की, सम्मिलित एकस्थ एकांगिक अनेकता की, 'इंटिग्रेटेड' विविधता की। प्रवाहित जलराशि से कण उठाइए, प्रवाह-भिन्न अब

वह 'जीवन' नहीं रहा। उसकी अब व्यक्तिबोधक संज्ञा है, राशिभूत कणसंकुल परिवार से भिन्न, रसत्वहीन, जीवनहीन, क्योंकि प्रवाहहीन, गतिहीन, जड़। जनसंकुल संसार का असामाजिक नृतत्व, उद्दाम जीवन से विमुख एकांतखोजी 'मैनफ़ाइडे'। फिर द्वीप का अपरिमित भू-भाग, 'आइल' कि 'मेनलैंड' ?

उपन्यास के पात्र भी द्वीप हैं, कथा नदी की भाँति उनका स्पर्श कर उनकी संज्ञा सार्थक करती है, पर वे स्वयं उस प्रवाह के नहीं हैं, द्वीप की ही भाँति अमित जलराशि से, जनराशि से, उदासीन हैं, अंतर्निविष्ट, सावधि मिथुन, परस्पर बदलते मिथुन का द्वित्व कायम रखते, प्रायः कभी अपनी संख्या दो से तीन न होने देते—'द्वयणु' से 'त्रयणु' तक नहीं, क्योंकि अणुओं की परंपरा तब संसार का सृजन कर देगी। उपन्यास की आकृति का बाह्य रूप भी उसकी अंतश्चेष्टा का ही प्रतिबिंब है, द्वीपवत्। उसके खंड पात्रपरक हैं, चरित्रसंज्ञक—'भुवन', 'चंद्रमाधव', 'गौरा, 'रेखा', 'भुवन', 'चंद्रमाधव', 'रेखा', 'गौरा'। और व्यक्तियों के बीच का व्यवधान 'अंतराल' के सेतुओं से पूरित, एक 'गौरा' और 'रेखा' के बीच, दूसरा 'रेखा' और 'गौरा' के बीच, दोनों भुवन की प्रियाओं के ही बीच, समान इष्ट की ओर बहती दो धाराओं के बीच, और अप्रत्याशित नहीं, शायद सचेत आयोजित।

मिथुन की संपदा बाहर-भीतर सर्वत्र बिखरी है, भाव-प्रवाह में उपन्यास के कलेवर के भीतर, पुस्तक के ऊपर, आगे-पीछे, बाहर जहाँ उडीयमान, उन्मुख, स्रोत में निस्पन्दप्रवहमान हंस-मिथुन के चित्र अंकित हैं। युगल हंस, हंस मिथुन, जो अपने द्वित्त एकाकीपन में कहीं व्यभिचार नहीं होने देते, उस ध्वनि से परे जिससे साहित्य मुखर है, जो चित्र-फलक पर एकाकी विरही दुष्यन्त का साध्य भी है, आदिकवि की प्रेरणा का प्रतीक भी। पर ऐसा क्रौंच-मिथुन, जिसे क्रूर व्याध नहीं मारता, स्वयं लुब्धक दुष्यन्त मारता है—बाणविद्ध रेखा, हिंसायोग से अशौच भी, रस का संचार करती ही है।

उपन्यासकार की भावसंपदा का उद्घाटन उसकी अप्रतिम शब्द-शक्ति करती है। उसकी शब्द-संपदा इतनी व्यापक, इतनी संपन्न है कि अपनी कंगाल भाषा भी निहाल हो उठती है सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अभिव्यंजना शब्द-वैभव से मूर्तिमान हो उठती है, भावसनाथ, साकार। उसके कुछ अनुपम उदाहरण ये हैं—

"······उसने देखा था कि रेखा का हाथ अभी वैसा ही ऊपर उठा हुआ है, उँगलियों की स्थिति वैसी ही अनिश्चित है जैसे किसी एक क्रिया के पूरी होने के बाद दूसरी क्रिया के आरंभ होने से पहले होती है—संकल्प-शक्ति की उस जड़ अंतरावस्था में।" (पृ० ४०)

"रेखा सहसा खड़ी हो गई, यद्यपि अपने स्थान से हिली नहीं, न शेफाली की ओर से उसने मुँह फेरा। केवल उसका हाथ तनिक-सा मुड़कर ऊँचा हो गया,

उँगलियों में एक हल्का-सा निषेध या व्यंजना का भाव आ गया।" (पृ० ५३)

"कली का प्रस्फुटन उसकी (प्रेम के विकास की) ठीक उपमा नहीं है, जिसका क्रम-विकास हम अनुक्षण देख सकें। धीरे-धीरे रंग भरता है, पंखुड़ियाँ खिलती हैं, सौरभ संचित होता, और डोलती हवाएँ रूप को निखार देती जाती हैं। ठीक उपमा शायद साँझ का आकाश है: एक क्षण सूना, कि सहसा हम देखते हैं, अरे वह तारा! और जबतक हम चौंककर सोचें कि यह हमने क्षण-भर पहले क्यों न देखा—क्या तब नहीं था? तबतक इधर-उधर, आगे, ऊपर कितने ही तारे खिल आए, तारे ही नहीं, राशि-राशि नक्षत्र-मंडल, धूमिल उल्का कुल, मुक्त-प्रवाहिनी, नभ-पयस्विनी—अरे, आकाश सूना कहाँ है, यह तो भरा हुआ है रहस्यों से जो हमारे आगे उद्घाटित है। प्यार भी ऐसा ही है; एक समुन्नत ढलान नहीं, परिचित के, आध्यात्मिक स्पर्श के, नए-नए स्तरों का उन्मेष···उसकी गति तीव्र हो या मंद, प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, वांछित हो वांछातीत। आकाश चँदोवा नहीं है कि चाहे तो तान दें, वह है तो है, और है तो तारों-भरा है, नहीं है तो शून्य-शून्य ही है जो सब-कुछ को धारण करता हुआ रिक्त बना रहता है······" (पृ० ८७-८८)

"तीसरे पहर फिर घूमने, पहाड़ पर जाने की बात थी, शायद उस पार तक, पर दोपहर की संक्षिप्त नींद से उठकर उन्होंने देखा, बादल का एक बड़ा-सा सफ़ेद साँप झील के एक किनारे से उमड़कर आ रहा है और उसकी बेडौल गुंजलक धीरे-धीरे सारी झील पर फैली जा रही है, थोड़ी देर में वह सारी झील पर आकर बैठ जायगा, और फिर शायद उसका फन ऊपर पहाड़ की ओर बढ़ेगा······" (पृ० २०४)

"अवध की शामें मशहूर हैं, लेकिन हजरतगंज में शाम होती नहीं, दिन ढलता है तो रात होती है। या शाम अगर होती है तो अवध की नहीं होती—कहीं की भी नहीं होती, क्योंकि उसमें देश का, प्रकृति का, कोई स्थान नहीं होता, वह इन्सान की बनाई हुई होती है: रंगीन बत्तियाँ, चमकीले झीने कपड़े, प्लास्टिक के थैले-बटुए, किरमिची ओठ, कमान-सी मूँछों पर तिरछे टिके हुए और ऊपर से रिकाबी की तरह चपटे फ़ेल्ट हैट······और राह चलते आदमी जिनके सामने बौने लगने लगें, ऐसे बड़े-बड़े सिनेमाई पोस्टरों वाले चेहरे—कितना छोटा यथार्थ मानव, कितने बड़े-बड़े सिनेमाई हीरो—अगर लोग सिनेमा के छाया-रूपों के सुख-दुःख के सामने अपना सुख-दुःख भूल जाते हैं तो क्या अचम्भा, उन छाया-रूपों के स्रष्टा ऐक्टर-ऐक्ट्रेसों के सच्चे या कल्पित रूमानी प्रेम-वृत्तान्तों में अपनी यथार्थ परिधि के स्नेह-वात्सल्य की अनदेखी कर जाते हैं तो क्या दोष······यथार्थ है ही छोटा और फीका, और छाया कितनी बड़ी है, कितनी रंगीन, कितनी रसीली······" (पृ० २४१)

"किसी वेहया ने ठीक कहा है—अंतिम समय में मानव को अनुताप होता है, तो अपने किये हुए पाप पर नहीं ; पुण्य करने के अवसरों की चूक पर नहीं; अनुताप होता है किये हुए नीरस पुण्यों पर, रसीले पा कर सकने के खोए हुए अवसरों पर······" (पृ० २९०)

"नदी बहुत चढ़ आई थी और यद्यपि लोग उठे नहीं थे, वह मानों वहीं से उनके सहमे हुए भाव देख सकता था······उदास, मलिन, गन्दा, बदबूदार श्रीनगर, गंदली, मैला ढोने वाली नदी, उदास मैला आकाश, जैसे म्रियमाण आबादी पर पहले छाया हुआ कफन—भुवन ने ऊपर बायें को देखा, शंकराचार्य की पहाड़ी भी उतनी ही उदास, केवल उस धुँधले तोते के पिंजरे मंदिर के ऊपर की बत्ती टिमटिमा रही थी भोर के तारे की तरह धैर्यपूर्वक······" (पृ० ३०८)

"मैंने तुम्हारे साथ आकाश छुआ है, उसका व्यास नापा है······" (पृ० ३०९)

"वहाँ फूल थे, सुहावनी शारदीया धूप थी, और तुम थे। और मेरा दर्द था। यहाँ गरम, उद्गंध, बौखलाती हुई हरियाली है, धूप से देह चुनचुना उठती है: और तुम नहीं हो। और दर्द की बजाय एक सूनापन है जिसे मैं शान्ति मान लेती हूँ······" (पृ० ३२५)

ऐसे स्थल 'नदी के द्वीप' में अनेकानेक हैं। 'अज्ञेय' शब्दों के जादूगर हैं, जैसे भावों के भी। मैं उनके शब्द-वैभव का अभिनंदन करता हूँ।

पात्र—भुवन, रेखा, चन्द्रमाधव, गौरा—प्रधान; हेमेन्द्र, रमेशचन्द्र, गौरा का पिता, चन्द्रमाधव की पत्नी—गौण। हेमेन्द्र का व्यक्तित्व है, स्पष्ट; प्रायः उतना, जितना चन्द्रमाधव की पत्नी का। गौरा के पिता की पत्रमय छाया डोलती है, रमेशचन्द्र कथा के उपसंहार का अन्यत्र विराम मात्र है, हमें छूता नहीं, वैसे ही जैसे काश्मीर के बाद की कथा नहीं छूती।

भुवन ! गंभीर, विचारशील, शिष्ट, व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, कामुक, एकांत-प्रिय, कमजोर, लोकग्राही, असामाजिक। विचारशील पंडित है। जटिल प्रश्नों पर विचार करता है। सत्य-तथ्य के अन्तर का विवेचन करता है। स्थिति की यथार्थता को तथ्य मानता है, उसके प्रति रागात्मक सम्बन्ध को सत्य। शायद सत्य की एक और भी परिभाषा हो सकती थी—जो इंद्रियों से जाना जा सके या मस्तिष्क द्वारा अनुमित हो सके—और तथ्य उसी का आंशिक आवान्तर-प्रकारान्तर। भुवन अपने को लोकग्राही कहता है, पर रेखा के अभिनंदन में अपने को छोटा करके। परन्तु त्वचा हटा देने पर उसका यह रूप दीख जाता है। उसकी लोकग्राहिता ही उसे अन्ततः रेखा के प्रति उदासीन और प्रतिज्ञा-दुर्लभ कर देती है। सदा से उसे गौरा के प्रति एक पतिसम्मत तृष्णा है।

प्रजापत्य जैसा उनके प्रति आकर्षण है, जो अंत में विवाह में ही प्रकट होता है, यद्यपि विवाह के प्रति उपन्यास में दूर का संकेत मात्र है। चन्द्रमाधव उसे 'विराट् अनुभूति के प्रति खुले रहने का' श्रेय देता है, पर ऐसा है नहीं क्योंकि न तो उसमें संकीर्ण सामाजिकता से निकलकर वन्य विराटता में समा जाने की निर्भीकता है और न प्रकृति की सूक्ष्म अथवा स्थूल सत्ता को ही अपने आकाश में प्रविष्ट होने देता है, उसके नित्य सान्निध्य के बावजूद। औचित्य से तथ्यतः उदासीन होने के कारण ही खुली प्रकृति के प्रांगण में भी वह 'नैमिवृत्ति' से 'मास्टरजी' से क्रमशः 'भुवन मास्टरजी' होकर 'भुवन दा' हो गया था, और उससे भी आगे 'शिशु' और फिर वह जिसकी अपने स्वच्छन्दताभास में वह तृष्णा बनाए हुए है। वह कहता भी है—"मैं मानता हूँ कि जबतक कोई स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक 'केस' न हो, विवाह सहज धर्म है और है व्यक्ति की प्रगति और उत्तम अभिव्यक्ति की एक स्वाभाविक सीढ़ी।" निःसंदेह अवसर मिले भुवन स्वयं वह सीढ़ी चढ़ते नहीं चूकता। रेखा एक स्थल पर अपने दो पहलू बताती है—'एक चरित्रवान्, प्रच्छन्न, सुप्त ; एक सभ्य और चरित्रहीन'। वस्तुतः उसके पुरुष काउन्टरपार्ट भुवन के ये पहलू हैं—'सभ्य और चरित्रहीन'। वैसे इसी आधार पर चन्द्रमाधव है—असभ्य और चरित्रहीन, और गौरा सभ्य और चरित्रवान्। भुवन को वैज्ञानिक बताकर सर्वत्र उसकी कास्मिक रश्मि-सम्बन्धी खोजों की ओर संकेत है, पर एक स्थल पर भी उसके प्रति उसकी निष्ठा का सही उद्घाटन नहीं है। उसके इष्ट से यत्र-तत्र भुवन के जाने की बात कही गई है, पर सर्वत्र उसे रेखा अथवा गौरा परोक्ष या अपरोक्ष रूप से घेरे-घेरे फिरती है। लेखक के कहने मात्र से पाठक को आभास होता है कि भुवन खोजी है, पर कथा के घटनाक्रम से उसे कभी उसका ज्ञान नहीं होता। उससे तो वह शुरू से अंत तक अकेले और मिथुन रूप में सदा भावुक, यद्यपि एक समय एक के ही प्रति, ही लक्षित होता है। वस्तुतः उसका तत्त्व-तथ्य-विवेचन भी उसी इष्ट की तैयारी-सा लगता है, रेखा को प्रभावित करने के लिए। अनेक बार पाठक जैसे पूछ बैठता है—भुवन का इष्ट क्या है—रेखा (गौरा) या विज्ञान ? और उसका स्वाभाविक निर्णय पहले के पक्ष में होता है। सारे उपन्यास में रेखा के साथ उसकी एकांत चेतना सजग है—तुलसिया बाग में, जमुना के कछार में, नौकुछिया ताल के तट पर, कश्मीर की ऊँचाइयों पर, सर्वत्र उत्तरोत्तर कामुक। कहीं वह उसके गीले पलक चूमता है, कहीं होंठ, कहीं उन्मुख स्तनों की बीच की गहराई, और कहीं वह रेखा में न केवल डूब जाता है, वरन् लोककथा की पृष्ठ और अग्र-भूमि प्रस्तुत करता है। रेखा सही उसकी निश्छल ऋजुता के नीचे इतना भोला, इतना कौतुकप्रिय शिशु हृदय देखती है, पर वह सारा वस्तुतः 'सभ्य चरित्रहीनता' की तैयारी मात्र है।

उसका रेखा को स्टेशन पहुँचाने आना और सहसा, यद्यपि स्वाभाविक रूप से, मुरादावाद, नैनीताल, सप्तताल चला जाना कार्यशून्य व्यक्ति का उत्क्रम है। शायद इसलिए कि वहाँ न कुदसिया वाग के चौकीदार की आँख है, न नैनीताल के होटल वाले का रजिस्टर और न ही सभ्य संसार के नैतिक-अनैतिक अवरोध का भय। वहाँ उसका मादक आदिमउष्ण स्पर्श रेखा को 'रीयल' लगता है, यद्यपि उसकी कौन-सी संज्ञा सव-कुछ कर चुकने पर भी अन्त्य इष्ट को रोक देती है, समझ में नहीं आता, न उसका रो पड़ना ही (क्योंकि उसका रोना ग्लानि का नहीं है—उसकी निष्पत्ति तुलियन की क्रीड़ा में देखते हुए)। 'सुन्दर से सुन्दरतर' की रक्षा भी नहीं हो पाती, क्योंकि आगे तुलियन है। उसके रो पड़ने का निराकरण रेखा उसके अपौरुषाभास के प्रति संवेदनशील होकर करती है। 'माँगती है,' नहीं पाती है, भुवन स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है—यह इन्कार नहीं, प्रत्याख्यान नहीं है। और भुवन फिर उसे वहीं विकल छोड़कर भाग जाता है। असाधारण रेखा को भी उस निर्जन में छोड़ जाना, जाते समय उसके प्रवन्ध की वात तक भुवन का न पूछना कुछ अजव लगता है। अव वहाँ रेखा के अकेले रहने की वात स्वाभाविक नहीं है, कम-से-कम दोनों नैनीताल के होटल तक तो साथ आ ही सकते थे। और चूँकि फिर वहाँ ठहरना था इससे डवलवेडेड रूम सम्वन्धी असुविधाजनक प्रश्न का भी भय न था। फिर काश्मीर जहाँ 'ठिठुरे हाथ' हैं, 'अवश गरमाई है,' 'रोमांच' है, 'सिकुड़ते कुचाग्र' हैं, 'पर्पटियों का स्पंदन' है, 'उलझी हुई देहों का धाम' है, 'कानों में चुनचुनाते रक्त-प्रवाह का संगीत' है; विज्ञान के उपक्रम का आभास है, क्योंकि वह कामप्रवीण कोका का देश है। और जव गौरा से वह कहता है, 'हमारे प्रोफेसर कहते थे, विज्ञान से जिसकी शादी हो जाती है, उसे फिर और कुछ नहीं सोचना चाहिए। वह वड़ी कठोर स्वामिनी है', तव वह सर्वथा व्यंग्य-सा लगता है, विशेपकर पृष्ठ २६० की स्थिति के वाद। भुवन का रेखा के प्रति उदात्त शरीरजन्य सम्वन्ध होना ही चाहिए था, उसमें कुछ भी अस्वाभाविक, अनुचित नहीं, पर विज्ञान के इष्ट की सापेक्ष्य मात्रा में ही, वरन् प्रश्न तो यह हो जाता है कि क्या सचमुच भुवन के पक्ष में प्रसंग की सच्चाई उसके इस वक्तव्य में है कि 'विज्ञान वड़ी कठोर स्वामिनी है ?' शायद वह तो सर्वथा कोमल उपेक्षणीय है और स्वामिनी नहीं, ऐसी स्वकीया, जो विवाह होते ही उपेक्षित हो जाती है, जिसे 'खंडिता' कहलाने का भी सन्तोप नहीं। शिव का वह दृश्य, जो कालिदास ने 'कुमारसंभव' के आठवें सर्ग में उद्घाटित किया है, साथ ही उसका सती का निर्जीव देह को कंधों पर ढोए फिरना भी कुछ अनुचित, अस्वाभाविक नहीं, क्योंकि उसके नैतिक, सामाजिक, कल्याण-प्रधान जीवन का विस्तार उससे कहीं वड़ा है, अपेक्षाकृत अनंत, पर भुवन का उपन्यास-

गत सारा जीवन ही विज्ञान-विरहित रेखा-गौरा के कोमल-मादक मोह से अभिभूत है। कोई बेजा बात न थी, यदि अपनी खोज के श्रम से विकल भुवन रेखा की तरलता ढूँढ़ता और शिव की भाँति एक पद गंधमादन पर दूसरा कैलास पर रखता और अंतराल को रेखा की काम-स्पंदित देह से भर देता, उस कामवल्लरी के अंगांग में उस आदिम वनैलेपन से प्रविष्ट होता जो वस्तुतः मानवता की कोमलतम व्यंजना है, अकृत्रिम सभ्य की उस मूलभूत मानवता की जब तक याद, जो उसे क्षणभर 'प्रकृतिस्थ' कर देती है, जिसकी परम्परा में पुरूरवा और विश्वामित्र हैं, पवन और दुष्यन्त हैं, शिव और शांतनु, और जिसके पौरुष की परिणति है—ओजस्वी आयुस्, कोमल शकुन्तला, वीर्यवान् अंजनि-कुमार हनुमन्त, सिंहविक्रम भरत, देवसेनानी स्कंद, सत्यसंध भीष्म। शेष तो 'हरिणी खुरमात्रेण मोहितं सकलं जगत्'! भुवन के चरित का यह विज्ञानाभास ही उसकी अविकम्पित मूल उदात्त जिज्ञासा पर धुंध की भाँति छाकर 'मास्क' बन जाता है, एक झूठा चेहरा, जो उसके दोनों रूपों में प्रधान है।

भुवन रेखा का मुँह छूता है, उसके साथ विवाह की बात चलाता है, जो पाठक के गले नहीं उतरती। साफ़ लगता है, झूठ है। दूर की गौरा उस प्रश्न पर व्यंग्य बन उठती है। फिर जब वह रेखा से भागता है, उसके पत्रों का उत्तर तक न देकर अत्यन्त क्रूरता और कमज़ोरी का आचरण करता है, तब अपनी उदासीनता की सफ़ाई रेखा पर 'अजात' की हत्या का आरोप लगाकर देता है। बीच में भुवन को कभी उसकी सुधि न आई, आज एकाएक क्यों? और पिता का मोह 'अजात' से नहीं 'जात' से होता है। यह सर्वथा 'अस्वाभाविक' है। पुरुष से पूछो—उसे प्रिया पुत्र से प्रियतरा होती है। नारी से पूछो—उसे पुत्र प्रिय से प्रियतर होता है। सो यह हानि वस्तुतः माँ की है, रेखा की, भुवन की नहीं और भुवन का यह निःसंतति पितृत्व का आक्रोश सर्वथा पोला हो उठता है, झूठा, बचाव मात्र। पर उदार रेखा उसे भी सह लेती है। 'साझे अनुभवों का संपुंजन' ही, उनके बीच दीवार-सा कैसे खड़ा हो जाता है, समझ में नहीं आता, यदि हम यह न मान लें, कि—लेखक के ही शब्दों में—'भुवन की प्रवृत्ति पीछे देखने की नहीं थी, हठात् कभी अतीत की किरण मानस को आलोकित कर जाए, वह दूसरी बात है।' फिर भला भुवन उदीयमान गौरा को न देखकर रेखा को क्यों देखे? तुलियन की ओर पीठ कर मसूरी के निविड़ निशीथ के 'गर्भगृह' को क्यों न देखे, बंगलौर के लॉन को क्यों न देखे, जहाँ उसके समाजसम्मत प्राजापत्य का सफल प्रारम्भ है? इस झूठ से तो वही सच है, जो लेखक ने स्वयं प्रसंगवश अन्यत्र कह दिया है—'स्त्री होते हुए भी उसने (रेखा ने) वह साहस किया है जो शायद भुवन में नहीं है।' रेखा भुवन की उस कमज़ोरी को, गौरा के प्रति उसके साथ को देख लेती है। वह

उसके पृष्ठ ३५२ पर छपे पत्र में अभिव्यक्त है। और ३५७ पर प्रकाशित अपने पत्र में तो वह जैसे उसका प्रच्छन्न अंतरंग ही खोलकर रख देती है—"तुम्हारे जीवनपट का एक छोटा-सा फूल (हूँ।) मेरे बिना वह पैटर्न पूरा न होता, लेकिन मैं उस पैटर्न का अंत नहीं हूँ।" कैसे होओ जब आगे गौरा है और अभी अनबुने पट के विस्तार में जाने कौन-कौन ? भुवन के "भीतर तो कुछ बराबर भरता जा रहा है और कुछ नया उसके स्थान पर भरता जाता है जो स्वयं भी मरा है या जीता है (स्वयं भुवन को) नहीं मालूम।" वह अब गौरा के 'एक-एक उड़ते ढीठ बाल को आशीर्वाद-भरी दृष्टि से' गिनता है पर उसका यह 'अवलोकन बिलकुल नीरव' होता हुआ भी, उसके वक्तव्य के बावजूद, 'निराग्रह, निःसंपर्क' नहीं है। गौरा के साथ वह शायद अपने अन्तिम 'पड़ाव' तक पहुँच गया है। उसके साथ फिर एक बार पुराने 'शिशु' और 'जुगनू' के आलोड़-प्रत्यालोड़ करता है, यद्यपि रेखा के विवाद के बाद उसकी स्वाभाविकता वर्वर हो उठती है। परन्तु पृष्ठ ४३० पर उद्घाटित उसकी मनोवृत्ति उस मनोदशा को नंगी करती है, यद्यपि तर्क वचन के साथ (जो सर्वथा झीना है) कि भावुकता के अंतराल में दोनों एक साथ समा सकते हैं, रेखा भी, गौरा भी, और शायद और भी। 'क्या हम एक के बाद एक नहीं, एक साथ ही एकाधिक जीवन नहीं जीते ?' सही, पर हम उसे दो चेहरों का जीवन कहते हैं, जेकेल और हाइड का जीवन। फिर संयम क्या वस्तु है ? 'इलाही कैसी-कैसी सूरतें तूने बनाई हैं'······ मैं पूछता हूँ, फिर चन्द्रमाधव और भुवन में अन्तर क्या है ? एक असभ्य चरित्रहीन है, दूसरा सभ्य चरित्रहीन। हमारे समाज पर दोनों की कामोदर छाया है, एक की नंगी, जिससे हम सतर्क हैं, दूसरे की प्रच्छन्न, जिससे हम मुग्धवंचित हैं। कौन अधिक घातक है, क्या मुझे कहना होगा ?

रेखा गंभीर, विचारशीला, शिष्ट, व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, एकान्तप्रिय, साहसी, मनस्विनी, लीक की चुनौती, असामाजिक है, साधारण नारी नहीं है। समाज में उसे ढूँढ पाना सहज नहीं—यदि उसकी अस्वाभाविक स्वच्छन्दता, आभिजात्य, औदार्य मिल भी जाय तो उसका साहस न मिलेगा, न तप, न चिंतनशीलता, और सभी एकत्र तो शायद नहीं ही। विवाहिता परित्यक्ता है, शाश्वत खंडिता का परिताप। वह अभागिनी हिन्दू नारी की साधना से सहती है। कोमल हृदय है, कोमलांगी शकुंतला, उसी की भाँति विरहविधुरा 'वसने परिधूसरे वसाना, नियमक्षाममुखी धृतैकवेणी···शुद्ध शीला···दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति'। परन्तु उसके जीवन में दुष्यंत नहीं है। है, आया है, भुवन, पर वह महाभारत का दुष्यंत है कालिदास का नहीं, जो उसकी साधना का समानधर्मा हो सके, तप से सत्य को साधकर ऊपर का वक्तव्य कर सके, उसे प्रणत होकर अपना सके। रेखा उसे

सब-कुछ दे देती है। अपना स्वत्व तक नहीं माँगती, पर पात्र की अपात्रता उसके औदार्य पर व्यंग्य बन जाती है, उसकी साधना पंगु, वर-विरहित। वह सीपी में बन्द है, समाज की नहीं है, उच्च मध्यवर्ग की पुत्तलिका होकर भी उसमें उसका चांचल्य नहीं, स्वभाव का गांभीर्य है, चिंतन की शक्ति है, उस समाज का ओछापन, उसका छिछोरापन, फूहड़पन, आवरणमात्र से ढका कामुक भुक्खड़पन उसमें नहीं। वह सबको समझती है, चन्द्रमाधव को, गौरा को, भुवन तक को—एक की सक्रिय नीचता, दूसरी का आडंबरहीन शुद्ध अविकृत मानस, तीसरे का सौजन्य, उसका साधारण-भिन्न व्यक्तित्व, उसकी कमजोरी और साहसहीनता भी। वह जानती और कहती है—"···दाँव दोनों (पुरुष और स्त्री) खेलते हैं। लेकिन हम अपना जीवन लगाती हैं और आप—हमारा।" सत्य है, कम-से-कम रेखा के जीवन में तो निश्चय। उसका जीवन निरन्तर दाँव पर लगता रहा, दूसरों ने लगाया, पुरुष ने—पहले हेमेंद्र ने (जिसमें 'पुं०-प्रिय' की रूप-समता के कारण उसे व्याहा था), फिर भुवन ने (जिसकी क्षण की साधना की देन ने उसे यदि नष्ट न कर दिया तो निर्जीव तो कर ही दिया), और फिर रमेश के रूप में नियति ने (जिसने उसके व्यक्तिनिष्ठ व्यक्तित्व को आवरणहीन व्यक्तित्वहीन औदार्य की छाया दी)।

"···रेखा मानो एक शीतल आलोक से घिरी हुई, उसके आवेष्टन से सँची हुई, अलग, दूर और अस्पृश्य खड़ी है। उसके शब्दों में, उसकी वाणी में, चित्रों को उभारकर सामने रख देने की अद्भुत शक्ति है। जो रास्तेवाले (लीक-ग्राही) हैं उन्हें रास्ते से एक इंच भी इधर-उधर नहीं ले जाना चाहती। उसकी अपनी बात दूसरी है। कहती है, 'मेरे आगे रास्ता ही नहीं है।' सच है, वह लीकग्राहिणी नहीं है, उसके आगे रास्ता सचमुच नहीं है। एक बार एक पुरुष ने उसे खोला है, फिर बन्द कर दिया है, दूसरे ने खोला है और सामने 'दीवार' खड़ी कर दी है, तीसरे ने फिर खोला है पर वह मन को समझाने का रास्ता है, रास्ता नहीं है, पड़ाव है, जहाँ वह अब बैठ गई है, जीवन का अंतिम पड़ाव। उसने 'भविष्य मानना ही छोड़ दिया है। भविष्य है ही नहीं, एक निरन्तर विकासमान वर्तमान ही सब-कुछ है।···पानी के फव्वारे पर टिकी हुई गेंद··· बस जीवन वैसा ही, क्षणों की धारा पर उछलता हुआ। जब तक धारा है तब तक बिलकुल सुरक्षित, सुस्थापित, नहीं तो पानी पर टिके होने से अधिक बेपाया क्या चीज होगी!' चन्द्र के शब्दों में रेखा 'अत्यन्त रूपवती है, और उसका रूप एक सप्रभाव, तेजोमय पर्सनेलिटी के प्रकाश से दीप्त है, भले ही एक कड़ा रिजर्व उस प्रकाश को घेरे है।' सही रेखा रूपवती है, पर उसका चरित्र, उसका साहस, उसकी चुनौती—उसके रूप के आकर्षण से कहीं उज्ज्वल हैं। भुवन ने रेखा के लिए ठीक कहा है—"एक स्वाधीन व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व

प्रतिभा के सहज तेज से नहीं, दुःख की आँच से निखरा है। दुःख तोड़ता भी है पर जब नहीं तोड़ता या तोड़ पाता तब व्यक्ति को मुक्त करता है।" यह सिद्धान्त रेखा के जीवन के अधिकांश में सही है। काश, यह उसके अन्त को भी सार्थक कर सकता ! पर वस्तुतः वह अन्त रेखा के प्रकृत जीवन का है ही नहीं, लेखक का उस पर कलम है, रेखा के जीवन और चरित्र में वह नहीं पनप पाता। रेखा कहती है—"असल में मेरे भी दो पहलू हैं—एक चरित्रवान्, प्रकृत, मुक्त; एक सभ्य और चरित्रहीन।" पर उसका चरित्रहीन होना लेखक की अपनी स्थापना है, रेखा के स्वभाव, कथा के प्रमाण से अप्रमाणित। वह चरित्रहीन होती तो उसके जीवन में हेमेंद्र के अन्य मित्र होते, चन्द्रमाधव होता, कॉफ़ी हाउस के छैले होते, रियासतों के घिनौने श्रीमान् होते, समाज के पतित सभ्य होते, स्वयं रमेश होता। पर नहीं, उसके जीवन में इनमें कोई नहीं है, अव्यभिचारिणी निष्ठा के रूप में मात्र भुवन केवल उसी के स्पर्श से 'सकल मम देह—मन वीणा सम बाजे'···! वह चरित्रहीन नहीं, उसका बस एक पहलू है—'चरित्रवान्, प्रकृत, मुक्त, सभ्य।' शेष आरोपित है, प्रकृत नहीं। कहती है—"मैं क्षण से क्षण तक जीती हूँ न, इसलिए कुछ भी अपनी छाप मुझ पर नहीं छोड़ जाता। मैं जैसे हर क्षण अपने को पुनः जिला लेती हूँ।" काश, यह हो पाता ! प्रतिज्ञा सत्य न हो सकी। वह क्षण-क्षण नहीं जी पाती। प्रत्यक्ष यदि यह सत्य हो तो उन पात्रों का शब्द-शब्द झूठा है जो उसने कलकत्ते से भुवन को लिखे हैं। और वे पत्र अनेक हैं, थोड़े नहीं, और शब्द-बहुल हैं, व्यथित मथे अन्तरंग के वाहन। कहती है—"अब अगले महीने से श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाऊँगी···मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है,···मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, तुम्हारी दी हुई हूँ, और किसी की कभी नहीं, न कभी हो सकूँगी···।" यह चरित्रहीनता का प्रमाण नहीं है, न क्षण से क्षण तक जीने का अवसाद, वरन् शुद्ध आत्यंतिक अव्यभिचारी तप और साधना का अपराजित अज्ञेय विनिश्चय।

वह भुवन को भी पहचान लेती है पर उसका औदार्य उसे जैसे क्षमा कर देता है—"तुम सोओ। अपने स्वप्न के लिए तुम्हें नहीं जगाऊँगी। स्वप्न में मैंने तुम्हारे प्रिय किसी को देखा था,···वह तुम्हें बहुत प्रिय थी। उसे देखकर मेरे मन में स्नेह उमड़ आया—ईर्ष्या होनी चाहिए थी पर नहीं हुई। भुवन, मैं तुम्हारे जीवन में आऊँगी और चली जाऊँगी।" भुवन का उसके पूछने पर बार-बार कहना कि वह उसे पहले से भी अधिक चाहता है, इस तथ्यात्मक वक्तव्य अथवा रागात्मक सत्य से कितना विनिन्दित हो उठता है। आगे की कथा जैसे रेखा की नहीं किसी और की है। उसका ३६६-६८ पृष्ठ वाला पत्र सँभाल की बात करता है, न सत्य की न भावना की। और जब पृष्ठ ३६९ पर

वह कहती है—"मेरी सकत की दौड़ आगे नहीं है—पर तुम, तुम घूमो, महाराज, मुक्त विचरण करो, प्यार दो और पाओ, सौंदर्य का सर्जन करो, सुखी होओ, तुम्हारा कल्याण हो······" तब उसका वक्तव्य प्रखर व्यंग्य बन जाता है।

रेखा 'नदी के द्वीप' की अक्षत कीर्ति है। समाज की वह नहीं है, साधारण समाज की। परंतु जो शक्तिम है। दूसरा चरित्र उस-जैसा उपन्यास में खोजता हूँ तो नहीं याद आता—शायद इसलिए भी कि वह असामाजिक है, असामान्य है। पर एक बार जब उसका शक्तिम व्यक्तित्व ऊपर आता है तब जैसे उपन्यासकार उसे सँभाल नहीं पाता, उसकी शक्ति लेखनी पर वहन नहीं कर पाता। उसका तेज लेखक को अभिभूत कर लेता है। उसकी दृष्टि पर धुंध छा जाता है और वह जैसे दिनमणि का तेज अपने उत्तरीय से ढँक सकने के कारण उसे कूड़े पर फेंक देता है! रेखा का पिछला जीवन—कलकत्ते का रमेशवर्ती जीवन—उसी तेजोराशि का कूड़े पर फेंका जीवन है। एक हत्या रेखा ने 'अजात' को नष्ट करके की, दूसरी 'अज्ञेय' ने रेखा को मारकर की। साहित्य में इतने समर्थ चरित्र की इस अनिष्ट से कभी हत्या नहीं हुई, विशेषकर जब वह चरित्र खुलने को पुकार रहा हो। रेखा को भुवन ने नहीं, 'अज्ञेय' ने मारा, 'नदी के द्वीप' के लेखक ने, रेखा के स्रष्टा ने।

चंद्रमाधव। असभ्य, चरित्रहीन, विषयी, वंचक, आचारहीन, कम्युनिस्ट, क्रूर। 'चंद्रमाधव ने सनसनी खोजी है। असल में उसने जीवन खोजा है, तीव्र बहता हुआ प्लावनकारी जीवन······उसे मिली हैं ये छोटी-छोटी टुच्ची अनुभूतियाँ, चुटकियाँ और चिकोटियाँ···प्यार नहीं, बीवी-बच्चे। स्वातंत्र्य नहीं, तनख्वाह। जीवनानन्द नहीं सहूलियत, घर, जेबखर्च, सिनेमा, पान-सिगरेट, मित्रों की हिर्स···। आज के अपने समाज के साधारण मानव के सभी लक्षण।' 'प्यार नहीं, बीवी-बच्चे' तो अपने समाज की साधारण स्थिति हैं, अकेले चंद्रमाधव की नहीं। वह 'एक्स्टेसी का जीवन' पसंद करता है, वह 'क्षणिक भी हो तो उसे ग्राह्य' है—'उस पर सौ सेक्योर जीवन निछावर हैं।' रेखा को जीतने के लिए उस पर अहसान लादना चाहता है, जब उसकी रुझान भुवन की ओर देखता है तब ईर्ष्यावश गौरा को लिखकर, वस्तुतः सभी को एक-दूसरे के विरुद्ध लिखकर, अपनी तुष्टि करना चाहता है। इयागो की मूर्ति बन जाता है। रेखा नहीं मिलती, गौरा की ओर झुकता है, वह नहीं मिलती तो हेमेंद्र को रेखा के विरुद्ध उभारता है, फिर अपनी गृहस्थी सँभालना चाहता है और जब उसमें भी कामयाब नहीं होता तो रेखा को फिर जीतना चाहता है। पर सर्वत्र उसकी हार है। इतना नीच है कि नौकरानी तक को छेड़ सकता है। उधर अपनी पत्नी के प्रति इतना क्रूर है, बच्चों के प्रति इतना उदासीन। जर्नलिस्ट है, सनसनी की खोज उसका पेशा है। ढोंगी, शब्द-बहुल कम्युनिस्ट है। उनके ही

प्रतीक शब्दों का उचित-अनुचित प्रयोग करता है। उसे किसी प्रकार का नैतिक अवरोध (स्क्रुपुल) नहीं है। झूठा, विनिन्दक, स्वार्थी है। 'जितना थोड़ा-सा सुख मिलता है उतना ही आतुर और कृतज्ञ करों से लें लेने' को तैयार है। कायर है। जब भुवन के विरोधी पत्र का समुचित उत्तर गौरा दे देती है तब वह घुटने टेक देता है। अपनी ही पत्नी का कन्यादान तक दे देने की बात पत्र में लिख सकता है।

परंतु चंद्र सामाजिक है। उसका संबंध सबसे है। उसका चरित्र साधारण 'विलेन' पात्र के रूप में तो कुछ बुरा नहीं है। पर जिस सिद्धांत की हँसी उड़ाने को उसका उपन्यासकार ने सृजन किया वह उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है। प्रगतिशील और कम्युनिस्ट दोनों 'अज्ञेय' के ही साथ उस पर हँस सकते हैं क्योंकि ऐसे व्यक्ति साम्यवाद और प्रगतिवाद के 'वल्गराइज़र' (फ़ूड बनाने वाले) होने के कारण दोनों के शत्रु हैं। पृ० २४६-४७ और ३३२-३३ पर 'अज्ञेय' ने साम्यवाद और प्रगतिवाद पर पार्टिज़न का-सा प्रहार किया है जो स्वयं हास्यास्पद हो उठा है। इन विचारों के शत्रुओं का ही साम्यवाद और प्रगतिवाद के दल में भेजा हुआ चंद्र भेदिया है, संहारक, जिसे वह दल स्वीकार नहीं करता। अच्छा होता यदि, 'अज्ञेय' ने उन पर प्रहार उनके सिद्धांतों के माध्यम से किया होता, यदि साम्यवादियों के त्याग, तप, साधना, विचारसरणि, लोकचेतना, लोकहित पर 'अज्ञेय' ने आघात किया होता। इससे उस शक्ति का केशलुंचन तक न होगा, ऐसा मेरा विश्वास है, फिर वह शिथिल अपेक्षाकृत फूहड़ आक्रोश उस सफल कृति की मर्यादा की ओर उँगली उठाएगा, मुझे डर है, क्योंकि मैं 'अज्ञेय' के साथ भड़ैती या फूहड़पन का संबंध नहीं कर सकता। इससे मुझे पीड़ा तो होगी ही, जानता हूँ कि यह उसके स्वभाव में है भी नहीं। मैं विशेषतः यह कह देना चाहता हूँ कि कम्युनिज़्म की अपनी एक पाज़िटिव प्रेरणा है, उस फ़िलिस्टिनिज़्म का वह शत्रु है जिसका उद्घाटन पृष्ठ ४ पर हुआ है। चंद्र का वह चरित्र जो पृ० २४० पर उद्घाटित है अपने ऊपर ही व्यंग्य बन गया है क्योंकि कम्युनिस्ट राष्ट्रों की नारी-संबंधी चेतना के अंचल तक का स्पर्श उनसे इतर राष्ट्रों ने नहीं किया। यहाँ नारी को चंद्र गालियाँ देता है। स्वयं प्रगतिशील इतना उदार है कि वह जापानी युद्ध-संबंधी लेखक की पृ० ३७०-७१ पर प्रकटित स्थापना को स्वीकार करेगा। पर प्रश्न यह है कि क्या इस सुविधानुकूल स्वानुष्ठित साम्यवादी चंद्रमाधव और सीपीबद्ध रेखा-भुवन के बीच कोई दुनिया नहीं है? चंद्र की पत्नी और गौरा के पिता का कोई संसार नहीं है? मैं कहना चाहता हूँ कि उपन्यास पर छाया संसार कोने-कतरे का संसार है, संसार है ही नहीं, द्वीपमात्र है। उपन्यास में कहीं संकेत तक नहीं मिलता कि इनसे परे भी कोई दुनिया है।

गौरा। सभ्य, चरित्रवान्, सिद्धांतप्रिय, सुन्दर। पवित्र, धीर, शुद्ध प्राजापत्य की आकांक्षिणी, भावबंधन प्रेम जिसका मार्ग है, प्रिय का अखंडित प्रेम जिसका लक्ष्य। रूप जो छलता नहीं, गिराता नहीं। देखने वाले को ऊपर उठाता है। संयम और सीमा उसमें साकार हुई हैं। वह पोटेन्शल का कौमार्य है जैसे अतीत पोटेन्शल भविष्य का। 'उसका व्यक्तित्व बहुत कोमल है, बहुत सम्पन्न भी।' भुवन मानता है कि 'वह आदमी बहुत भाग्यवान होगा जिसे गौरा जैसी पत्नी मिलेगी।' उसमें साहस भी है और वह असम्मत विवाह को अस्वीकार कर देती है। वह रेखा और चंद्र की पत्नी दोनों से गुणतः भिन्न है। एक के उन्मुक्त स्वातंत्र्य को उसने संयम से बाँधा है, दूसरी की अमर्यादा वह अपने लिए नहीं सोच सकती। पर इस दूसरी का तप भी कुछ कम नहीं। वस्तुतः उपन्यास का नारी पक्ष उसके पुरुष पक्ष से कहीं सफल है।

यहाँ हम अब थोड़ा उपन्यास के सिद्धांत पक्ष पर विचार करेंगे। इस पक्ष की ओर ऊपर यत्र-तत्र हम संकेत कर आए हैं। लेखक ने अपने सिद्धातों को स्वाभाविक ही अपने पात्रों की जबानी रखा है। उसके प्रकाशन के लिए वस्तुतः उसने ध्वनि और संकेत का भी सहारा नहीं लिया है, वरन् स्पष्टतया क्षण और द्वीप के प्रतीकों के रूप में रखा है। 'काल का प्रवाह नहीं, क्षण और क्षण और क्षण···क्षण सनातन है···छोटे-छोटे ओएसिस···सम्पृक्त क्षण···नदी के द्वीप··· जो काल-परंपरा नहीं मानता, वह वास्तव में काल-कारण-परंपरा नहीं मानता तभी वह परिणामों के प्रति इतनी उपेक्षा रख सकता है—एक तरह से अनुत्तरदायी है···पर इससे क्या ? उत्तर माँगने वाला कोई दूसरा है ही कौन ? मैं ही तो मुझसे उत्तर माँग सकता हूँ। और अगर मैं अपने सामने अनुत्तरदायी हूँ, तो उसका फल मैं भोगूंगा, यानी अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तरदायी मैं हूँ···' (पृ० १८०)। 'हम जीवन की नदी के अलग-अलग द्वीप हैं—ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते, नदी निरंतर उसका भाग्य गढ़ती चलती है; द्वीप अलग-अलग होकर भी निरंतर घुलते और पुनः बनते रहते हैं—नया घोल, नए अणुओं का मिश्रण, नई तलछट, एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर जमते हुए, नए द्वीप···' (पृ० ४१६)। 'एक और दूसरा एक'···'संपूर्ण मेरे लिए केवल युक्ति सत्य है—अपने-आपमें कुछ नहीं, केवल एक और एक की अंतहीन आवृत्ति से पाया हुआ एक काल्पनिक योगफल।' (पृ० २०) 'मेरे लिए काल का प्रवाह भी प्रवाह नहीं, केवल क्षण और क्षण और क्षण का योगफल है—मानवता की तरह ही काल-प्रवाह भी मेरे लिए युक्ति-सत्य है, वास्तविकता सत्य की ही है। क्षण सनातन है'। (पृ० ३९)

दृष्टि असामाजिक है, कहना न होगा। और उसके बचाव में लेखक कोई सफ़ाई नहीं पेश करता, उसे सत्य मानकर साहस के साथ निरूपित करता है।

निवेदन यह है कि स्थापना दोनों रूप से ग़लत है—तथ्य की सत्यता में भी, व्यावहारिक परिणाम में भी। और यही सिद्धान्त जो उपन्यास का भाव-कलेवर गढ़ता है उसे अकेला, अर्थविहीन, उद्देश्यहीन कर देता है, अप्रयुक्त स्वर्णखण्ड की तरह। 'काल का प्रवाह नहीं, क्षण और क्षण और क्षण······क्षण सनातन ······सम्पृक्त क्षण।' क्या काल-प्रवाह से भिन्न क्षण का बोध है ? क्या काल-प्रवाह से भिन्न क्षण का अस्तित्व है ? क्या स्वयं क्षण सत्यतः विश्लेषणतः इकाई (यूनिट) है ? क्या उसके भीतर भी, आकार धारण करते ही, दृष्टिबोध के पूर्व से ही अनंत संघात-संपदा नहीं है ? क्या संघात के रूप में क्षण (अपनी अणोरणीयाम् इकाइयों में) के भीतर ही महतोमहीयाम् की संगति नहीं है ? करणों का संघात अपने महतोमहीयाम् रूप में सृष्टि की संज्ञा (विश्व की) अर्जित करता है और यही विश्व अनंत की यूनिट है, महतोमहीयाम् का अणोरणीयाम्। उसी प्रकार वह यूनिट भी, वह कण भी, वह अणु भी, वह क्षण भी, अपने संघात रूप में, अणोरणीयाम् का महान् अथवा महतोमहीयाम् रूप है, परन्तु अपने भीतर भी वह अपने यूनिट के रूप में अणोरणीयाम् को निहित रखता है, यानी यदि हम संघात (दृष्टि-परोक्ष)—महतोमहीयाम् का दर्शन करें (चाक्षुष अथवा मानस), तो उसमें अणोरणीयाम् की संज्ञा निहित होगी और अविभाज्य रूप में। सम्पूर्ण की स्थिति अणु से है पर बोधरूप मात्र में, संपृक्त से अलग नहीं, विश्लेषणमात्र के लिए अलग। क्षण काल-प्रवाह से अलग नहीं, उसकी सर्जक शक्तिप्रवाह से भिन्न नहीं, उसका बोध भी वहीं है, प्रवाह में। प्रवाह का सावधित्व क्षण है, क्षणों की अनंत संपृक्त संज्ञा प्रवाह है, पर सम्पृक्त संज्ञा—एक और एक और एक का जोड़ नहीं—एक का कारण एक, एक का कार्य एक, दूसरा एक पहले एक का कार्य, दूसरा स्वयं अगले एक का कारण, पहला एक पिछले एक का कार्य। दोनों कारण और कार्य, दोनों कार्य और कारण, कारणों की अटूट परम्परा एक इसलिए कि दूसरा, दूसरा इसलिए कि एक। मानव अकेला परिणाम, स्वयं परिणाम का कारण, जनक, मानव-श्रृंखला से अभिन्न ; श्रृंखला स्वयं ऐसी अनन्त प्राणवान्, सापेक्ष्य प्राणवान्, अप्राणवान् श्रृंखलाओं के समानान्तर, संकर, ओतप्रोत, उनका अभिसृष्ट और सर्जक, इससे एकस्थ सम्पदा का परिचायक। और जहाँ क्षण, अणु, कण, मानव काल-प्रवाह, संघात, जलप्रवाह, समाज से भिन्न, वहाँ उसकी मृत्यु, सत्ता का अंत, अस्तित्व की अगोचरता। पर यह भिन्नता की स्थिति क्या सम्भव भी है ? ऊपर संकेत कर चुका हूँ, नहीं। मानव अकेला कैसा ? वह प्रकृतिसिद्ध जलवायु का यथेच्छ सेवन करने में स्वतन्त्र है पर मानवसिद्ध अभिसृष्टियों के सेवन में नहीं, 'इकनामिक नीड्स'—आवश्यकताओं की पूर्ति में नहीं क्योंकि आविष्कृत वस्तु-सम्पदा समाज की समवेत क्रियाशक्ति का परिणाम है। अकेला

मानव काल-प्रवाह का क्षण, नदी का द्वीप वैसे ही निस्पंद है जैसे मानव के स्वतन्त्र अवयव, अवयवों की स्वतन्त्र रचना, मज्जा, अस्थियाँ और उनके अपने-अपने स्वतन्त्र अणु। प्रकाश की भाँति समाज में मानव की इकाई है और जैसे प्रकाश का अणु प्रकाश की संज्ञा सार्थक नहीं कर सकता, द्वीप-मानव भी समाज का नहीं। वैसे वह केवल जमुना के कछार में 'सैनफ्रान्टे' बनकर बालू के घर-मात्र बना सकता है, पलकें मात्र ही चूम सकता है। पर उन पलकों को जीवित रखने के लिए भी उसे उन स्वान्त अकाल्पनिक उद्यमसाध्य समवेत समाजक्रिया-जनित आवश्यकतापूरक वस्तुओं की ओर देखना होगा, कॉफ़ी हाउस तक के लिए, कुदसियाबाग तक के लिए, नौकुछियाताल तक के लिए, तुलियन तक के लिए, मसूरी, बर्मा, इण्डोनेशिया, बंगलौर तक के लिए भी, और उस विज्ञान की तो बात ही अलग है जिसका उपन्यास में आभासमात्र मिलता है। आश्चर्य तो यह है कि उपन्यास का सिद्धान्त रेखा के भ्रूण-विसर्जन और उसके परिणाम से रक्षा के लिए सर्वथा अवैयक्तिक निःशेष सामाजिक चिकित्सा का उपयोग तो कर लेता है पर उसके प्रति अपने उत्तरदायित्व को नहीं सोचता। यह कृतघ्नता है। बालक से पूछिए, क्या खाते हो? कहेगा, रोटी। पूछिए, रोटी कहाँ से आती है? कहेगा, गेहूँ से, जो बाजार से आता है, पिता के कमाये रुपयों से। पूछिए, पिता कहाँ से कमाते हैं? कहेगा, कमाते हैं, बस कमाते हैं। सत्, बालक उत्तरदायी नहीं है; पर पिता है, क्योंकि सक्रिय समाज का वह अंग है, उस समाज का जिसके समवेत उद्योग की लब्धि पिता की कमाई है। उसके प्रति अनेक प्रकार से वह उत्तरदायी भी है और उसके अनुत्तरदायित्व की वह उससे कैफ़ियत भी माँग सकता है। इससे जमुना के कछार और उसकी तुलियन में परिणति की सम्भावना सिद्ध करने वाला समाज कहेगा कि हम उसके पृष्ठ पर हैं, हम उसके कारण हैं और तुम बालक नहीं हो, तुम्हें अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तर देना होगा। आखिर 'अज्ञेय' को बताना न होगा, चेरवान्तिस और डेनिस्लरिफो भी अकेले नहीं हैं, उनके पीछे भी एक विस्तृत 'संपृक्त' समाज है।

दृष्टिकोण की यह खामी ही उपन्यासगत पात्रों-परिस्थितियों को असामाजिक और स्वार्थपर बना देती है। रेखा कहती है, "हम दोनों ऐसे आत्मनिर्भर, स्वतःसम्पूर्ण हैं कि सहज ही बहकर, सिमटकर अलग हो जा सकते हैं—अपनी-अपनी सीपियों में बन्द, अंतरंग अनुभूति के छोटे द्वीप और इस प्रकार बरसों जीते रह सकते हैं, मौन, शांत, लेकिन एकाकी······" (पृ० ३१०) यह लोटस-ईटर की प्रसादपूर्ण निष्क्रिय स्थिति किसे ग्राह्य हो सकती है? और इसमें 'बहने' का भाव तो द्वीपस्थता के समक्ष कोई अर्थ ही नहीं रखता क्योंकि, उसे यदि बहना हम कह भी सकें तो वह भँवर की तरह है, प्रवाह के भँवर की

तरह, जो प्रवाह को गति तो नहीं देता, उसमें प्रवाह वाहित है। हाँ उसके अनिष्ट के रूप में पास आई हुई चीज़ों को उदरस्थ अवश्य करता जाता है, प्रवाह से अपना इष्ट वेशर्मी से खींचता जाता है, और स्वार्थ-परिणति, क्षण-सुख, काम-निष्पत्ति को 'फुलिफ़लमेंट' (पृ० २०७-२१२) मानता है।

समाज-विमुख 'सीपीवद्ध' मानव अपने से वाहर की सत्ता स्वीकार नहीं करता और अपने फुलिफ़लमेंट के लिए एकांत ढूँढ़ता है। उपन्यास एकांत-खोज की एक अटूट शृंखला उपस्थित करता है। और यह एकांत मिथुन का है। एकांत में मिथुन की पारस्परिक अनुचेतना मैथुन की अभिसृष्टि करती है। कारण कि उन्हें अपने से वाहर तृतीय का वोध नहीं। जिसकी चेतना सामाजिक नहीं वह एकांत में 'डेविल्स वर्कशाप' का अनुष्ठान करता है, और मिथुन सामाजिक सक्रियता से विमुख एक-दूसरे की ओर देखता है, उसी में अपनी इयत्ता मान, लक्ष्य के अभाव में एक-दूसरे पर प्रहार करता है, वह अन्योन्य रागाचरण करता है जिसे मैथुन कहते हैं। क्योंकि वहाँ तप नहीं है, केवल विलास है, परिणाम में रेखा है जो, यद्यपि अद्भुत रसपुंजमात्र है, बिखरी जाती है। और जहाँ तप है, सामाजिक रूप है (चाहे सीमित अलक्ष्य रूप में ही क्यों नहीं), वहाँ व्यवस्थित गौरा का प्रादुर्भाव होता है जो उदीयमान है, सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक इकाई है, जो आधार की ईंट वन जाती है।

एकांत का विलास उपन्यास में इतना व्यापक हो उठा है कि लगता है यत्र-तत्र दार्शनिक विवेचना भी उसी की पुष्टि, उसी के वचाव के लिए है। अमित खुले विलास का विस्तार पुस्तक में आद्योपांत है। विलास जीवन का कारण, उसकी कोमलता का परिचायक है, पर मात्रा में। अमर्यादित होकर वह 'विपय' और 'व्यसन' वन जाता है। स्वच्छन्द साहित्य के पोपकों के लिए चाहे वह काम का पेटूपन ग्राह्य हो, पर समाजचेता साहित्यिक उसे अशिव ही मानेगा। आदि से अन्त तक उस विलास की उपन्यास में प्यास है। उसी का वीज, उसी का अंकुरण-पोपण, उसी का पाक-पचन। विलासांध भुवन नौकुछिया के ताल में भी लखनऊ के वाजिदअली के तालाव के जलप्रच्छन्न कक्षों की भाँति 'नौ कक्ष' ढूँढता है (पृ० १६७), अश्लील होते भी उसे देर नहीं लगती। तुलियन में रसाप्लावन के वाद रेखा जब चाँदनी में बैठती है तव उसे भुवन देखता है और तव वह लजा जाती है। पर खेमे में लौटकर कोक पंडित की कथा कहते वह नहीं लजाती। यह अस्वाभाविक तो है ही, अश्लील भी है। मैं विलास की व्यापक सत्ता मानकर उसकी नंगी-से-नंगी स्थिति भी स्वीकार कर सकता हूँ, पर कोक पंडित की कहानी में जिस स्थिति की ओर संकेत है उसे मैं अश्लील मानूँगा। इसे और स्पष्ट करने के लिए कह देना चाहूँगा कि मैं पुस्तक की वाकी

सारी विलाससंपदा को अश्लील नहीं मानता यद्यपि 'अज्ञेय' की अश्लीलता की परिभाषा मुझे स्वीकार नहीं—(जो) 'जीवन को उभारती है उसे अश्लीलता नहीं कहना चाहिए' (पृ० २८६), पर जीवन-भर जो जीवन, यानी विलास, को उभारता रहे, उसे क्या कहेंगे ? और पुस्तक-भर में जीवन का दूसरा रूप तो प्रस्तुत है नहीं। विलास की यह मात्रा वस्तुतः इतनी बढ़ जाती है कि भुवन और रेखा पर 'धुंध' छा जाता है। वे डूबते सूरज का पीछा करते हैं, लय होते दिन का। ऋषि के शब्दों में पुकार उठने की इच्छा होती है, देखना, कहीं पाश्चात्यता (नाश की संज्ञा, मरीचिका, अंधकार) में न गिर जाना ! मा मा प्रापत्प्रतीचिका ! वरन् आगे रात है। 'धुंध की दीवार : कहीं कोई दिशा नहीं, क्षितिज नहीं, दोनों धुंध में खो गए, केवल वे दोनों (निश्चय केवल वे दोनों) तंबू का चंदोवा, और धुंध, धुंध, व्यापक धुंध······'(पृ० २०५)।

अकेले-अकेले मिथुन बढ़ते जाते हैं, द्वीप से, खुले संसार में अकेले, कॉफ़ी-हाउस में अकेले, कुदसियाबाग में अकेले, जमुना की कछार में अकेले, नौकुछिया-ताल में अकेले, तुलियन में अकेले, सर्वत्र अकेले, पानी के फव्वारे पर अपनी गेंद टिका निर्माण की संभावना असंभव करते। और यह स्थिति कितनी ही बार तो इतनी बेजा हो उठती है कि भरे स्टेशन पर रेखा, चाहे जितना धीरे-धीरे, गाने लग जाती है।

द्वीप-द्वीप, मिथुन-मिथुन उपन्यास बढ़ता है। विराट् प्रकृति भी, तुलियन और नौकुछिया में भी, उनके भरे मन में प्रवेश नहीं कर पाती, उद्दीपक, साधक मात्र बनकर रह जाती है। खुली प्रकृति के प्रशस्त प्रांगण में भी जैसे उच्चमध्य-वर्ग का यह द्वीप, यह सीपीबद्ध जीवन जा पहुँचता है। जहाँ-तहाँ जब-तब इक्के-दुक्के जीव सीपी की राह में टकरा जाते हैं, पर वे उसके नहीं हैं, वह उनकी नहीं है, 'शेखर : एक जीवनी' इससे कितना भिन्न है ? ट्रेन की भीड़, कांग्रेस का अधिवेशन, जेल का कमरा, शेखर, शारदा, शशि, विद्याभूषण, सदाशिव, दादा, सभी संसार के जीवित प्राणी हैं, प्रवाह के कण, उसके भँवर नहीं। 'नदी के द्वीप' में भुवन और रेखा संसार से दूर हट, समाज की सीमा-कारिणी मर्यादा-तर्जनी की पहुँच से दूर, उसका सब-कुछ त्याग अपना नंगा विलास उसे दिखाते हैं। और उसका अन्त है नैराश्य। रेखा क्या कहती है ? —'विद्रोह मुझमें नहीं है, संपूर्ण नैराश्य ही है, इतना संपूर्ण कि अब उसकी दुहाई कभी नहीं दूँगी······' (पृ० ३५६)। नैराश्य उस समाज-विमुख एकांध 'धुंध' का सहज निगमन है।

कलकत्ते की चिट्ठियों के बाद 'नदी के द्वीप' समाप्त हो जाना चाहिए था। बाद की कथा उपसंहारमात्र है, नीरस। उपन्यासकार को यह जान लेना चाहिए कि कृति में स्थिर कुछ नहीं, कथा में यदि कोई प्रसंग-रस को बढ़ाता

नहीं तो उसे वह घटाता ज़रूर है। वह अंश रेखा के चरित्र का विरोधी भी है। वस्तुतः इसी समय उसका सशक्त मांसल चित्रण माँगता है। सुंदर होता यदि उपन्यासकार ने उसके नए संघर्ष का चित्र खींचा होता, गौरा के आडंबरहीन कल्याणकर गार्हस्थ्य का भी, चंद्रमाधव की पत्नी के धीर तपशील उपेक्षित जीवन का भी।

कुछ लोगों को 'अज्ञेय' की शैली में अवतरणों का वाहुल्य शायद खटके, मुझे नहीं खटकता। अवतरण वोलने वालों की अनुभूति के अंग वन गए हैं, उनके मानस का उद्घाटन करते हैं। काश, लारेंस का विद्रोही भी कहीं होता—'लेडी चेस्टर्लीज़ लवर' की सामाजिक भूमि का।

'नदी के द्वीप' की कला, जैसा पहले कह चुका हूँ, सफल है, उसका सिद्धांत समाज-विरोधी, ग़लत। उपन्यास के रूप में उसका-सा अपने साहित्य में कुछ नहीं है। मैं उसे हिंदी के छह सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गिनता हूँ, जिनमें दो 'अज्ञेय' के ही हैं। व्यंजना और वौद्धिक वारीकी उसमें गहरी है। भापा की वारीकी, उसका सहज विन्यास साहित्य की सुईकारी है। पर अफ़सोस कि उपन्यास पढ़कर 'सत्यनारायण' की कथा याद आ जाती है—सुंदर पके फल में कीड़े!

६

अज्ञेय के उपन्यास

संसार में ऐसे उपन्यासकारों की संख्या स्वल्प है जिन्होंने केवल एक उपन्यास लिखकर व्यापक यश कमाया है। हिन्दी के उपन्यासकार 'अज्ञेय' इन्हीं कतिपय भाग्यवानों में हैं। 'शेखर—एक जीवनी' उनकी वह प्रौढ़ कृति है जिसने उन्हें हिन्दी उपन्यासकारों की अगली पंक्ति में बैठा दिया है। और उस पंक्ति में भी प्रकार-वैचित्र्य में वे सर्वथा अकेले हैं। उपन्यास उन्होंने केवल दो लिखे हैं—'शेखर—एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप'। यदि वे केवल 'शेखर—एक जीवनी' ही लिखकर कलम धर देते तो उनकी ख्याति कुछ कम न होती।

'शेखर—एक जीवनी' प्रायः सर्वांगसुन्दर कृति है। अधिकतर सृजनशील साहित्यकारों की कृतियाँ उनके निजी विकास की द्योतक होती हैं। उनके उत्तरोत्तर क्रम से उनकी क्रमिक मंजिलों का पता चलता है। परन्तु अज्ञेय ने इस दिशा में अपने अध्येताओं को सर्वथा चकित कर दिया है क्योंकि 'नदी के द्वीप' के सालों पहले उनकी केवल एक कृति आलोचकों के सामने रही है जिससे उपन्यासों के अनुक्रमण द्वारा उनका अध्ययन असम्भव रहा है। 'शेखर—एक जीवनी' वस्तुतः ग्रीकों की देवी मिनर्वा की भाँति अपने विकास के स्तर प्रस्तुत नहीं करता, सर्वथा प्रौढ़ असाधारण सुगठित रूप में हमारे सामने आता है।

इस उपन्यास में घटना और चिन्तन, क्रांति और कल्पना, वैयक्तिकता और सामाजिक संवेदना, बौद्धिकता और रोमैंटिक भावावेश सभी एक साथ विशाल चित्रपट पर अवतरित होते हैं। घटनाएँ वेग से देश और काल के विस्तृत कैनवस पर एक के बाद एक सरकती चली जाती हैं पर विस्तृत हो जाने के लिए नहीं, हमारे हृदय की गहराइयों में पैठती हुई। और उनका अंकन उनका अविरल विघटन कुछ इस अनायास सचेत चेष्टा से हुआ है कि छोटी-बड़ी सभी घटनाएँ अपनी-अपनी स्थिति में अपने-अपने स्थल पर अत्यन्त मार्मिक हो उठती हैं। जेलम की बाढ़, पटने का आंदोलन, रोगिणी का अनुराग, अप्राकृतिक भावुक

आकर्षण, फाँसी की कोठरी नभी एक 'पिच' पर है, समान मात्रा में चोट करते हैं। और उनका अंकन जिस कुशलता से हुआ है, वह साहित्य में अपना सानी नहीं रखता।

जब मैं साहस की बात कहता हूँ तब मेरी प्रति में समाज की वे सारी रूढ़ियाँ, वे सारी काल और तर्क-विरोधी कुरीतियाँ हैं जिनका वर्णन करते समय साहित्यकार अधिकतर सहम जाता है, मोह या भयवश उन्हें सराहने लगता है, गैलरी में बैठे दर्शकों की प्रतिक्रियाओं के प्रति आत्मसमर्पण कर बैठता है। 'अज्ञेय' इस सम्बन्ध में सर्वथा निर्बंध हैं, नितांत निर्भीक।

उपन्यास में बराबर ऐसे प्रसंग आते हैं जिन्हें निरावरण प्रस्तुत करने का साहस संसारचेता कलाकार को न होता, परन्तु वहीं 'अज्ञेय' जैसे कहते है—इसे तुम्हारे मुँह पर फेंकता हूँ, पहचानो और हिम्मत हो तो कह दो यह तुम्हारा नहीं है। वहीं 'अज्ञेय' की अन्य उपन्यासकारों से भिन्नता है। वहीं उनकी असाधारण वैयक्तिकता है जो क्रांति का नेतृत्व करती है, जो अनन्य होकर भी, और उस अनन्यता के प्रति सचेत न होने से ही, व्यापक समाज को ढक लेती है। अनुभूति—वेदना, मुखरित अनुभूति—अपनी वेदना से ही 'अज्ञेय' के ही शब्दों में, शक्ति पाती है। शक्ति से दृष्टि, फिर उसी दृष्टि के खुलने से घटनाओं की यथार्थता रूप धारण करती है जो उन्नतांश मानव की कल्याणबुद्धि का आधार है, प्रगति की नींव।

सही, उपन्यास का नायक शेखर बुद्धिवादी है, पर अनायास, प्रकृतितः सचेत नहीं। अपनी वैयक्तिकता का साधन वह किसी को नहीं बनाता, बनाने के उपक्रम नहीं करता। अपने सामाजिक धर्म में उसकी निष्ठा है। उसके प्रति वह विनयशील है, उसके नियंत्रणों से बँधा, जिससे वह फाँसी की रस्सी के निकट पहुँचने से भी इन्कार नहीं करता।

बुद्धिवादी होकर भी, बुद्धिवादी इसलिए कि जिस मानवीय दाय का वह उत्तराधिकारी है बुद्धि उसकी संचित पूंजी है, उसकी शक्ति का रहस्य, इससे बुद्धिवादी होकर भी वह समाज के शहीदों की श्रेणी में खड़ा है, जेल की काल-कोठरियों में बन्द दंडित या दंड्य जवानों से उसकी मति भिन्न नहीं।

यदि वह उनसे अधिक सोच लेता है तो वह केवल उसकी सतर्कता का निजत्व है, समाजभिन्न इकाई का विद्रोह नहीं। शेखर की कर्मठता अपने घटना-बाहुल्य में आयोजित व्यक्तित्व की महत्त्वाकांक्षा की चोटी नहीं प्रस्तुत करती, केवल समाज की वह उर्वर इकाई स्तंभित करती है जिसकी समाज के साथ इतनी गहरी समानधर्मिता है कि वह अपना निजत्व ही नहीं देख पाता।

घटनाओं के वर्णन की अज्ञेय में असाधारण क्षमता है। इस उपन्यास की

सबसे बड़ी शक्ति उपन्यासकार की अपनी सार्वजनिकता है। नायक जैसे उनकी कर्मठता, उसी की अदम्य जागरूकता की छाया है। उपन्यासकार और उसके नायक शेखर की जीवनविधि, कार्यसरणि एक हो गई है।

लखनऊ का संग्रहालय, कश्मीर का प्रवास, मद्रास में अध्ययन, लाहौर की कांग्रेस, विद्याभूषण, भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के प्राण 'दादा' चन्द्रशेखर 'आजाद', रावी के तट पर बम विस्फोट से छिन्न-भिन्न किसी का शरीर—संभवतः भगवतीचरण का—क्या जीवन के यथार्थ अंगांग नहीं ? क्या उनकी स्थिति स्वयं अज्ञेय के घटनाबाहुल्यगत जीवन से अभिन्न नहीं ? फिर क्या हम यह नहीं कह सकते कि साहित्यकार की कृति पर उसका अपना ऐतिह्य, अपना कर्तृत्व छाया हुआ है ?

परन्तु क्या इससे हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि उपन्यास जब तक अपनी भावना का, अपने ही जीवन के विघटित ऐतिह्य का प्रतीक हो उठता है, यानी क्या एक ही कृतिकार के जीवन में ऐसा हो सकता है कि जब वह कर्मठ और समाजचेता प्राणी हो तब उसकी कृति में समाज का प्रवहमान गतिशील जीवन चित्रित हो उठे और जब वह उस ओर से उदासीन अंतर्निविष्ट आत्मकेन्द्रीय हो तो उसकी कृति भी उसी प्रवृत्ति के अनुकूल समाजविमुख और आत्मलीन हो जाय ?

बात यही है और इस दिशा में अज्ञेय स्वयं अपने जीवन और कृतियों में अद्भुत सामंजस्य उपस्थित करते हैं। उनके 'शेखर—एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' इस सत्य को जिस मात्रा में घोषित करते हैं, मेरे जानते अन्य किसी साहित्यकार की परस्पर-विरोधी कृतियाँ नहीं करतीं। 'अज्ञेय' के अद्यावधि जीवन को यदि हम पूर्व और उत्तर दो काल भागों में बाँट सकें तो निश्चय उनका पूर्वकाल समाजविह्वल है जिसकी तालिका 'शेखर—एक जीवनी' में खुल पड़ती है। उनका उत्तरकाल सर्वथा वैयक्तिक समाजविमुख-सा है। संभव है वह कोई साधना कर रहे हों, पर उसकी व्याप्ति हम तक नहीं पहुँच पाती।

गांधी की साधना और अरविंद की साधना में अन्तर है। अरविंद की साधना व्यक्ति के भीतर दंडवत् ऊँची हो सकती है। परंतु उसका साधारणीकरण संभव नहीं, गांधी की साधना चाक्षुप हो सकने के कारण हमें सब ओर से छू लेती है। 'शेखर—एक जीवनी' का स्रष्टा, जैसे अपने भौतिक जीवन में भी, गांधी की साधना का एक कण उपस्थित करता है। 'नदी के द्वीप' का उपन्यासकार जैसे फिर 'अज्ञेय' अपने जीवन के उत्तरकालीन आत्मकेंद्रित यथार्थ का उद्घाटन करता है। पहला उसके समाज, अभिमत संसार की इकाइयों का अटूट ऊहापोह विस्तार है, प्रवहमान बूँदों का तरल संघात, दूसरा उसके कूर्मवत आचरण से प्रजनित ब्रह्माण्ड को बूँद में देखने का प्रयास है।

सही 'शेखर—एक जीवनी' में भी उद्देश्य के दर्शन नहीं होते परंतु तत्कालीन समाज का बहुमुखी यथातथ्य निरूपण उसमें निश्चय हुआ है। कुछ अजब नहीं कि उसके अगले खंड में पहले दोनों खंडों की यह त्रुटि भी सँभल जाय, यद्यपि अभाग्यवश उस प्रत्याशित तीसरे खंड और पहले दोनों के बीच जो यह 'नदी के द्वीप' का व्यवधान आ गया है, उससे उसका प्रणयन भी विपाक्त न हो जाय, उसका तर्क जो भी हो, हम 'शेखर—एक जीवनी' के अंतिम खंड की प्रतीक्षा बड़ी उत्कंठा से कर रहे हैं।

'अज्ञेय' का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' आज प्रायः दो वर्ष हुए प्रकाशित हुआ। यशस्वी कृतिकार के उस उपन्यास ने तत्काल अपने प्रेमियों को आकृष्ट किया। इस बीच हिंदी साहित्यकारों में जो सिद्धांतमूलक व्यवधान आगया था उससे एक विचार के आलोचकों और साहित्यजिज्ञासुओं में अज्ञेय की नई कृति के भावतत्व से उत्साहित होने की संभावना कम थी, परंतु उन्होंने इस दूसरे उपन्यास की भी उपेक्षा किसी मात्रा में न की।

फिर भी जैसा अभी कह चुका हूँ, 'अज्ञेय' अब ब्रह्माण्ड को बूँद में देखने-खोजने लगे थे। समाज के प्रशस्त राजमार्ग को छोड़ वह एकांतिक निर्जन दलदल में जा रमे थे। ऐसा नहीं कि उनमें अपनी इस नई प्रवृत्ति के प्रति रति न हो। रति है और गहरी, इतनी कि वह नगर के जीवन से दूर, समाज के हंगामे से दूर, फ्राइडेमैन की भाँति जमुना के कछार में, कुदसिया बाग में, सात ताल के तट पर, कश्मीर की नीरवता में उसकी एकाग्र साधना करते हैं।

अब उपन्यासकार की एकांत रति आत्मतुष्टि में है, आत्मतुष्टि जो विज्ञान और खोज की आड़ लेकर कोका का दामन पकड़ती है जिसके स्वार्थ पर नग्न यौनोपासन का वज्रयानी तंत्रनिष्ठा रेखा का असामान्य सुघड़ नारीत्व शिकार हो जाता है। अब 'शेखर' का सान्निध्य विद्याभूषण या दादा से नहीं हो सकता, सामाजिक कल्याण की वेदी पर बलि हो जाने की निष्ठा वाले युवकों के प्रति भयान्वित विचारकों को अब 'शेखर' की उदात्त वृत्ति के कुछ कर गुजरने का डर नहीं, अब फाँसी की डोरी का डर नहीं। न शशि के प्रति कर्तव्यचेतना से शक्तिलब्ध नायक में संसार को चुनौती देने की ही क्षमता अवशिष्ट है, न अब वह सुकुमार सहपाठी के मृदुसौंदर्य को चूम अपनी भूख की ही सच्ची सहज अभिव्यक्ति कर सकता है।

अब वह केवल व्यक्तिचित्ती है, कोमलांग कर्षण का भावुक, जिसे कर्षण के बाद कोमलांग की आवश्यकता उतनी ही है जितनी आम चूसने वाले को गुठली की। यह क्यों? क्योंकि शेखर अब शेखर नहीं भुवन है। व्यक्तिमात्र ही उसका बोध है, विश्वव्यंजक भुवन अब व्यक्तिव्यंजक 'भुवन' में समा गया

है और वह भुवन सर्वथा निर्बंध है, समाजनिर्बंध, नियमनिर्बंध, जो ऐलानियाँ किसी के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं मानता।

निश्चय उपन्यासकार भौतिक जीवन में भी चालीस पास कर चला है और इस अगली दशा में मनुष्य अत्यंत स्मरसाध्य मारमना हो जाता है। एकांत और नारीसंयुत एकांत-द्वीपगत मियुनप्रधान जीवन—उसका दिनोदिन नैतिक ह्रास करता है जबतक कि वह परिस्थितियों के प्रति सावधान न रहे। निश्चय शेखर अब भुवन है।

परंतु क्या फैले संसार को बूँद से समेट लेना कलाकार को अधिक क्षमता-संपन्न नहीं कर देता? कर देता है। जो उसके सामने प्रवहमान था, उसके चाक्षुप प्रयत्न का आश्चर्यमात्र था, वह अब सिमटकर उसकी लेखनी के नीचे आ गया है, तक्षक की छेनी के नीचे काष्ठ की भाँति, चितेरे की तूलिका के नीचे चित्रफलक की भाँति। निस्संदेह उसकी प्रज्ञा अब केंद्रस्थ है और वह शिथिलसमाधि का दोषी नहीं हो सकती। एकाग्रबुद्धि अपनी एकस्थ केंद्रित मेधा का वह कलावंत विंदु मात्र पर वर्पण कर रहा है। उसकी इस रीतिनिविष्ट वृत्ति की सफलता अनिवार्य है। इसी से 'शेखर—एक जीवनी' के फैले कथानक से, उसके गतिमान घटनाबहुल संसार से कहीं अधिक सिमटी कहीं अधिक गठी इस 'नदी के द्वीप' की वस्तुसंपदा है।

'नदी के द्वीप' में हम 'शेखर—एक जीवनी' का व्यापक संसार खो बैठते हैं। कश्मीर से कुमारी, गुजरात से सुपूर्व तक का वह शेखर का संसार अब कॉफ़ी हाउस में बन्द है, ताल के निविड़ एकांत में, मानववर्जित उपत्यका में। घटनाप्रधान मंच अब भावप्रधान हो गया है। उपन्यासकार अब स्थितियों की सहज सँभाल से दूर स्वनिर्मित एकांत की आड़ में आजाता है। अब वह अपने अन्तर से पात्र गढ़ता है, अपने ही दर्शन से पुष्ट अपने ही शोध से प्रतिशुद्ध अनंत शक्तिमान अतिमानव भीमकाय फ्रैंकेन्स्टाइन।

'नदी के द्वीप' के पात्रों को हम पहचान नहीं पाते, क्योंकि समाज में हम उन्हें नहीं देखते। वे मानवजनित मानव नहीं, उपन्यासकार की भावसत्ता से, उसके जादू से उठ खड़े हुए हैं और जब हम उपन्यास पढ़कर उसे बंद कर देते हैं तब जैसे उस स्वप्न से जग पड़ते हैं जिसका लेशमात्र अवशेप भी अब हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। 'शेखर—एक जीवनी' पढ़कर हम दर्शकविशेप के ऐतिहासिक सामाजिक जीवन से साक्षात् करते हैं, पूछते हैं—क्या हुआ विद्याभूपण का? 'दादा' के उस आपज्जनक संगठन का? उस सहज कर्मठ साहसी शेखर का? लगता है, जैसे यशपाल के 'सिंहावलोकन' के कुछ कोने सहसा प्रकाश में आ गए हों।

अज्ञेय शैली के अनुपम स्रष्टा हैं। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक व्यक्त करने की उनमें असाधारण शक्ति है। कृति के 'कंटेंट' की ही भाँति उसका 'फ़ार्म' भी उनके लिये समान महत्त्व रखता है। उनके पात्रों में शायद ही कोई निर्जीव हो, सभी संस्कृत और सबल हैं। परंतु खेद है कि उनका अभियान दंडी की ओर नहीं, पांडिचेरी की ओर भी नहीं, वज्रयानी तांत्रिकों के 'श्रीवर्धन' की ओर है।

७

गर्म राख

'गर्म राख' उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का, जहाँ तक मैं जानता हूँ, दूसरा उपन्यास है। उनके पहले उपन्यास, 'गिरती दीवारें' का हिन्दी-जगत् में अच्छा स्वागत हुआ था। 'गर्म राख' मेरे विचार में उससे कहीं चुस्त, कहीं प्रौढ़ और कहीं व्यापक कृति है।

'अश्क' की प्रेरणा विशेषतः नाटकीय है, इसी से नाटक के क्षेत्र में उनका स्थान काफ़ी ऊँचा है। मैं उन्हें हिन्दी का सर्वोत्तम एकांकीकार मानता हूँ। रंगमंच के अनुकूल उनकी-सी सुन्दर भाषा लिखने वाला, निःसंदेह दूसरा नहीं है। प्रसाद गुण का इतना वैभव कम लोगों में है। भाषा निर्मल जल की भाँति अविरल बहती है, आम-फ़हम, जिसका जादू विशेषकर रंगमंच पर गजब ढाने लगता है। उसी भाषा का चमत्कार 'अश्क' के उपन्यासों में भी है, 'गर्म राख' में विशेष।

पुस्तक के आरम्भ में उपन्यासकार ने अपने पाठकों के कुछ वर्ग बनाये हैं। उन्हें उसने कुछ सलाह दी है, जो इस प्रकार है :

"आम पाठक से प्रार्थना है कि वह नाम के चक्कर में न पड़े। उपन्यास को एक बार पढ़ जाए, निश्चय ही वह उसमें पर्याप्त मनोरंजन पाएगा।

"गम्भीर पाठक से वांछा है कि वह इसे कम-से-कम दो बार, साल-छह महीने के अन्तर से, पढ़े। उसे अपना श्रम बेकार न मालूम होगा।"

"काट कर ही अपनी सत्ता सिद्ध करने वाले छिद्रान्वेषी आलोचक के हितार्थ पर्याप्त सामग्री इस उपन्यास में है, वह अपने दाँत शौक़ से तेज़ करे।

"स्नेही और सृजनशील आलोचक के परामर्श लेखक के सिर-आँखों पर। उनकी बाट वह उत्सुकता से देखेगा।"

पता नहीं, प्रस्तुत उपन्यासकार मुझे किस वर्ग में रखेगा, वैसे पाठक मैं गम्भीर हूँ और 'गर्म राख' को प्रायः 'साल-छह महीने के अन्तर से' आद्योपान्त दो बार पढ़ चुका हूँ; इस दूसरी बार, अभी हाल, विशेषतः उसपर लिखने के

लिए। 'अश्क' ने पाठकों की ही भाँति आलोचकों के भी दो वर्ग किये हैं, एक वे, जो छिद्रान्वेषी हैं, दूसरे वे, जो सहृदय और सृजनशील हैं। प्रकट है कि जिस प्रकार आलोचक साहित्यकार का मूल्यांकन करता है, साहित्यकार पर भी उसके 'आलोचन' की प्रतिक्रिया होती है। आलोचक के एक वर्ग के प्रति 'अश्क' को कुछ झल्लाहट है। सलाह में फलतः कुछ आक्रोश, कुछ चुनौती भी है। पर मेरा विचार है कि मूल्यांकन का एक अंग अथवा 'प्रासेस' छिद्र या रन्ध्र को ढूँढ निकालना भी है। आखिर वह आलोचन-आलोकन क्या, जिसके आलोक-प्रक्षेपण द्वारा साहित्य-प्रासाद के छिद्र अथवा रन्ध्र उल्वण न हो उठें, प्रकाश में न आ जाएँ ? हाँ, जो सृजन सर्वथा छिद्रान्वेषण की प्रक्रिया से ही प्रेरित है, उसके प्रति उपन्यासकार का यह आक्रोश अथवा सुझाव अन्यथा नहीं। वैसे आलोचक साधारणतः अपना काम जानता है, वैसे ही, जैसे उपन्यासकार थोड़ा-बहुत अपना।

'गर्म राख' सामाजिक प्रेरणा से लिखी कृति है, यद्यपि समाज की विषमताएँ उसमें खुलकर नहीं आतीं। हाँ, समाज का निम्न मध्यवर्ग, अपनी संकीर्ण-घिनौनी प्रवृत्तियों के साथ, निश्चय, स्पष्ट खुल पड़ा है। उस दृष्टि से इस उपन्यास का रचयिता कैमारा-मैन है, सफल फोटोग्राफर, जो समाज के कोनों-कतरों को साफ़ झलका देता है। परन्तु, प्रकट है कि कैमरा-मैन स्थिति को यथातथ्य फ़िल्म पर झलका देने के सिवा प्रेरणा अथवा सुझाव के रूप में कुछ नहीं दे पाता। 'गर्म राख' के रचयिता का यह सामाजिक 'आलोचन' घृणित और अशिव का 'छिद्रान्वेषण' मात्र है या 'सृजनशील' निर्माण-प्रेरक भी, उसकी बात मैं फिर करूँगा, यहाँ अभी इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उपन्यास के स्थल, उसके पात्र आदि जाने-पहचाने-से हैं। उनका चित्रण इतना सजीव इतना निकट का है कि लगता है, हम उन्हें जानते हैं और अनायास उनके अनेक मांसल 'मोटिफ़', जीवन में पहचाने-से, आँखों के सामने उठ आते हैं, इतने कि यदि उन मांसल पर्यायों की कोई भंगिमा उपन्यास के चरित्र-विशेष में नहीं घटती, तो उपन्यासकार पर जैसे जी खीझ उठता है। उपन्यास-दर्पण में समाज को प्रतिबिम्बित करने में 'अश्क' आंशिक रूप में बाल्ज़क और ज़ोला की भाँति सफल हुए हैं।

उपन्यास भी साहित्य के अन्य कलेवरों की ही भाँति जीवन का दर्पण है। कहानी का विस्तार उसमें प्रवहमान् जीवन को प्रकट करता है। कहानी के उस विस्तार में कला की दृष्टि से रस का संचरण और परिपाक होता है। घटनाचक्र की एकता, या अनेकमुखी जीवन-धारा का एकस्थ विलयन ही उसका पाक है। घटनाचक्र की एकता वस्तु-गठन के रूप में, उपन्यास के रस को कलत्व प्रदान करती है। इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य-कला के रूप में, अन्य कलाओं की ही

भाँति, उपन्यास भी अपने रस के प्रभाव से उपास्य होता है। परन्तु रस संचरण-शील है, प्रवहमान्; इससे प्रवाह-भिन्नता उसका मारक ग्रह है। रस का व्यभिचार उसकी प्रवाह-शक्ति को नष्ट करता है, यानी कि घटना-शृङ्खला की कमजोर कड़ी कला के क्षेत्र में केवल शृङ्खला को कमजोर ही नहीं करती, उसे निरर्थक कर देती है। यह याद रखने की बात है कि कला या साहित्य के गठन में जो घटना या भाव उसके रस का वर्धन नहीं करता, वह, निश्चय, निश्चेष्ट नहीं रह पाता, वरन् रस को घटाता है। उपन्यास या कहानी की कथा-वस्तु में इसका ध्यान उपन्यासकार या कहानीकार को सदा रखना चाहिए। कहानी में तो उसका संयुंजन और भी गठा, और भी केन्द्रित होना चाहिए, यद्यपि उपन्यास की व्यापकता विपुल होने के कारण कथा अनेक धाराओं में बह सकती है। पर उसकी कथा-वस्तु को भी, धार-बहुलता के बावजूद, प्रवाह की रीढ़ से स्वतन्त्र नहीं होना है, वरना मरु में भटकती नदी की भाँति उपन्यास की सोद्देश्यता नष्ट हो जाएगी, उसकी प्रखरता अनेक दिशाओं में बँटकर बिखर जाने के कारण शक्तिहीन हो जाएगी। इस दृष्टि से 'गर्म राख' पर नजर डालने से सर्वथा सन्तोष नहीं होता।

'गर्म राख' की कहानी इस प्रकार है। सत्या अपनी ही चलायी कन्या-पाठशाला की अध्यापिका है, गम्भीर, समझदार और साधारण सुन्दर। उसके प्रति प्रकट-अप्रकट रूप से अनेक पुरुष अनुरक्त हैं। एक पत्रिका में छपे उसके चित्र से आकृष्ट होकर, कवि 'चातक' 'संस्कृति-समाज' की स्थापना करते हैं, जिसका एक-मात्र उद्देश्य पहले सत्या, फिर अन्य नारियों को अपनी ओर खींचना है। उसकी बैठक में सत्या तरुण कवि जगमोहन से मिलती है। जगमोहन उसकी ओर आकृष्ट होता है। आकर्षण के जादू का वस्तुतः दोनों के सम्बन्ध में अभाव ही है, यद्यपि उसका भावात्मक प्रभाव जगमोहन पर अधिक प्रकट है। सत्या द्रष्टा-स्रष्टा की भाँति उस बढ़ते हुए असर को जैसे देखती है, जागरूक होकर उसका विधान करती है। पर जगमोहन का राग मोह में परिणत नहीं हो पाता और शीघ्र अपने ऊपर डाला हुआ पाश वह तोड़ देता है। दोनों बार-बार मिलते हैं, एक से अधिक बार राग भावबन्ध की परिधि तोड़ स्थूल कायिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, पर जगमोहन चाहे परिस्थितियों का शिकार क्यों न हो, सत्या उन परिस्थितियों की सचेत संघटयित्री है। उनको न केवल वह जानती है, बल्कि वही उनका प्रादुर्भाव कराती है। उसकी संतुलित आचार-वृत्ति जगमोहन की सब प्रकार सहायता करती है, उसके भाई-भाभी की भी, जिससे राग नहीं, तो कम-से-कम कृतज्ञता उससे उसे बाँध रखे। और उसी सहायता के क्रम में मजबूत कर देने वाली परिस्थितियों में बार-बार आत्मसमर्पण कर, उसे रागबद्ध रखती है। पर वस्तुतः जगमोहन कभी समय-

समय के कायिक सम्बन्ध के अतिरिक्त, सत्या से भावबन्धन नहीं रख पाता, और एक दिन अपनी प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर, स्पष्ट कह देता है कि उसका सत्या से प्रेम नहीं है। उसके आदर और प्रेमाभास को विच्छिन्न करने में दुरो के प्रति उसकी सहज अनुरक्ति भी सहायक होती है। वह एक दिन स्पष्टतः अपनी भावस्थिति पत्र में लिख कर सत्या को दे देता है। उधर सत्या के कांग्रेसमना पिता के कानों में कन्या की असंयत अनुरक्ति की खबर पहुँचती रहती है, जिससे उसका विवाह कर देने वे लाहौर आ पहुँचते हैं। एक धनी मेजर का विवाह-विज्ञापन समाचार-पत्र में पढ़कर, वे सत्या से उस दिशा में स्वीकृति माँगते हैं। जगमोहन की उदासीनता से सत्या पहले से ही कुछ उद्विग्न है, फिर तभी उसका वह असंस्कृत पत्र भी पहुँच जाता है, जिसमें वह सत्या के प्रति अपने प्रेम के अभाव की घोषणा तो करता ही है, उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना भी स्वीकार करता है, उसका अपने यहाँ आना वर्जित करता है। सत्या खीज कर अफ्रीकावासी भोंडे, काले, कुरूप, अर्धान्ध मेजर से विवाह कर, अफ्रीका चली जाती है। जगमोहन से अन्त में जाते समय स्टेशन पर छोड़ने का अनुरोध करती है। जगमोहन वहाँ जाना अस्वीकार तो कर देता है, पर जाता है, यद्यपि मिलता नहीं, प्लैटफार्म पर इधर-उधर छुपा फिरता है। उदासीन सत्या इधर-उधर उसे ढूँढती है, फिर दिल में चोट लिये चुपचाप अफ्रीका चली जाती है।

'गर्म राख' की यह मूल कथा-धारा है, पर उसके अतिरिक्त उपन्यास में अनेक स्वतन्त्र और परवर्ती धाराएँ हैं, जैसे दुरो-हरीश का कथा-प्रसंग, 'येलो बस'-यूनियन-आन्दोलन, धर्मदेव विद्यालंकार और प्रो० ज्योतिस्वरूप की उपकथा, वसंत-सरला का प्रसंग, सरदार गुलब्रहारसिंह, उनके पिता डा० टेकचन्द-खान का पहेली-समस्या-प्रयास आदि। इन प्रसंगों में दुरो-हरीश का कथा-प्रसंग, निश्चय, मूल कथा-धारा, यानी सत्या-जगमोहन की कथा-धारा से नाम-मात्र को प्रभावित है। प्रगतिशील तत्त्व—साहित्य, श्रमान्दोलन आदि—उसी से अधिकतर सम्बन्धित हैं। दुरो और हरीश के चरित्र (विशेषकर दुरो का चरित्र), इतने सशक्त और महत्त्व के हैं कि कुछ अजब नहीं कि अनेक लोगों को वे ही दोनों (या कम-से-कम दुरो) उपन्यास के प्रधान चरित्र या नायक-नायिका लगे। कम-से-कम से उनकी कथा मूल कथा-धारा की समानान्तर धारा है, वस्तुतः अपनी भूमि पर है, मूल-धारा की सहायक के रूप में अनभिसृष्ट। धर्म और स्वरूप की कथाएँ, निश्चय, परवर्ती हैं, इतनी परवर्ती कि उनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। मूल कथा की सहायता उनसे भी नहीं हो पाती। उनके चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उनकी पुरानी इतिवृत्ति आवश्यक हो सकती है, पर उसकी ओर संकेत-मात्र पर्याप्त था। इसी प्रकार शायद 'येलो बस' के प्रोप्राइटर

चोपड़ा के हिस्सेदार रौशनलाल और हरनामसिंह के इतिहास का विस्तरण, यद्यपि अत्यन्त हृदयग्राही है, मूल कथा को शिथिल कर देता है। इसी प्रकार यद्यपि वसंत का उपयोग एक-आध स्थल पर हुआ है, वसंत और सरला का प्रसंग उपन्यास का अंग नहीं जान पड़ता, यानी कि अगर वह प्रसंग कथा से हटा दिया जाए, तो कथा में कहीं रस-भंग नहीं होगा। सरदारों, टेकचन्द और खान की पहेली-समस्या भी इसी तरह उपन्यास की कथा-वस्तु की दृष्टि से अनावश्यक है। ये सारे प्रसंग यद्यपि स्वयं अत्यन्त मनोरंजक और समाज की वस्तु-स्थिति खोलकर रख देने वाले हैं, उनसे किसी प्रकार, किसी मात्रा में, मूल कथा को सहायता नहीं मिलती। कवि चातक स्वयं तो मूल कथा का प्रबल उद्वाहक है, पर पत्रकार कर्मा और मिसेज कर्मा का प्रसंग, चातक के चरित्र को उत्तेजित और स्पष्ट करते हुए भी, उपन्यास के लिए प्रकारान्तर ही है।

इस दृष्टि से देखने पर प्रकट है कि 'गर्म राख' की कहानी की एकनिष्ठा या समान केन्द्रीयता इन प्रकारान्तर प्रसंगों से नष्ट हो गयी है। लगता है, जैसे समाज के अनेक अंग, विविध कथानक, एकत्र कर दिये गये हैं, जिनमें स्वाभाविक अंगांगीय (आर्गेनिक) सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ उपन्यासकारिता की समस्या पर एक प्रश्न हो सकता है—क्या वजह है कि कथा-वस्तु की एकता या एकनिष्ठा बरक़रार रखी जाए? यह प्रश्न यद्यपि आलोचकों के सामने अब तक नहीं आया है, पर है यह अहम प्रश्न, क्योंकि आज तक के उपन्यास-शास्त्र का दर्शन कथा-वस्तु की एकाग्रता को एकमात्र या प्रधान साध्य मानता आया है। अब प्रश्न है, जो उपन्यासकार—प्रस्तुत स्थिति में 'अश्क'—पूछ सकता है कि जीवन जब इतना बहुमुखी हो गया है कि कथा-वट के एक तने में नहीं समा पाता, तो क्यों नहीं वट और पर्कटी पर अनायास फूट पड़ने वाले भिन्न जातीय वृक्षांकुरों की भाँति उपन्यास की प्रधान कथा के साथ अनेक उपकथाएँ ऐसी गूँथ दी जाएँ, जिनका मूल से अपेक्षाकृत सामंजस्य बना रहे, यद्यपि वे उसके विकास के अर्थ न लिखी गयी हों, बल्कि समाज के विविध अंगांगों और कोनों-कतरों को आलोकित करने के लिए प्रस्तुत हुई हों?

वस्तुतः 'अश्क' का यह उपन्यास अद्यावधि अंगीकृत शास्त्रीय आलोचना को चुनौती है। और यहाँ मैं आलोचकों का ध्यान प्रस्तुत आलोचना के माध्यम से, इस नवीन दिशा की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। हाँ, चुनौती यह अवश्य तभी हो सकती है, जब यह प्रयास सचेत हुआ हो। यदि ऐसा नहीं, तो निश्चय, यह उपन्यासकारिता की एक 'फ़ेलिंग' (कमज़ोरी) ही होगी। प्रयास यह

सचेत है या नहीं, यह बग़ैर व्यक्ति-उपन्यासकार से पूछे, हम उसकी सृजित कथा-वस्तु से भी प्रश्नतः जान सकते हैं, यानी कि अगर उपन्यास के इन विभिन्न अपेक्षाकृत स्वतन्त्र अंगांगों की कल्यता स्तुत्य है, यदि उनका चित्रण, अंकन-चरित्रांकन-वस्तु अपने दायरे में स्वतन्त्र रूप से भी मुखर और सफल हैं, तो हम उन्हें 'फ़ेलिंग' नहीं कह सकते। तब यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उपन्यासकार, यदि चाहता, उनसे अपनी प्रधान कथा-धारा को बचा सकता था, यानी कि उसने उनको 'विघ्न', 'कण्टक' या 'रन्ध्र' न मानकर, मूल के अलंकार भी न मानकर, समाज के उन अनेक अंगों का सूचक (इन्डेक्स) माना है, जिनका बोध कराने में उपन्यास की प्रधान कथा-वस्तु अक्षम होती है, पर जिनका बोध सर्वथा विषयान्तर नहीं, वरन् 'समवाय सम्बन्ध' से पाठक के लिए अनिवार्य होना चाहिए। इस स्थिति को मान लेने पर यहाँ उन विविध तथाकथित प्रसंगों की चर्चा स्वाभाविक हो जाती है। और उन प्रसंगों का कथा या वस्तु-भाग, एकाध को छोड़, इतने महत्त्व का नहीं, जितने महत्त्व का उनके पात्रों का चित्रण है। इसलिए उनके प्रसंग और भाव-चित्रण के साथ प्रधानतः हम उनके पात्रों के चित्रण पर विचार करेंगे।

'गर्म राख': उपन्यास चूंकि समाज की अनेक भूमियों का समाहित क्षेत्र प्रस्तुत करता है, उसके पात्रों की संख्या भी बड़ी है, असामान्य। संख्या का आधिक्य अधिकतर साहित्य में एक प्रकार की कमज़ोरी ही माना जाता है, पर चूंकि इसका सीधा सम्बन्ध उस अहम प्रश्न से है, जो हमने पिछले पैराग्राफों में उठाया है, यहाँ हम इस तथाकथित कमज़ोरी पर विचार न करेंगे। आरम्भ में ही यह कह देना उचित है कि पात्रों का चित्रण 'अश्क' ने ग़ज़ब की खूबी से किया है। अपने पात्रों को जीवन में जैसे वह नंगा जानता है, जिससे उनके बाह्यान्तर स्पष्ट झलक जाते हैं। उसके गम्भीर, परुष हास्यास्पद पात्र अपने सहज आधार से उठते और अपने वृत्त-व्यास में सहजाकार होते हैं। इतना मांसल इतना स्वाभाविक, जहाँ-तहाँ इतना प्लैस्टिक मूर्तन उनका होता है कि कम-से-कम हँसी के प्रसंग में हँसी रुकती नहीं। भाव और भाषा के सान्निध्य से प्रसंग चमक उठते हैं और हम उपन्यासकार के आभास-जगत् से अलग, जीवित संसार में उतर पड़ते हैं।

सत्या का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वह संसार-चतुर नारी है। जगमोहन को अपनी सहायता और गुणों से जीतकर अपना भविष्य बनाना चाहती है। इस बीच जब मौक़ा आता है, उसे बताने या स्थिति से प्रभावित करने के प्रयत्न में भी वह नहीं चूकती कि उसके पिता ने मार्गभ्रष्ट हो जाने पर भी मानवीय कर्तव्य को ईमानदारी से निबाहा था और अविवाहिता, इनके समाजतः अवैध सम्बन्ध से प्रसूत सत्या का पालन भी किया था। वह प्रयोग जैसे जगमोहन

पर लगता नहीं। सत्या में निष्ठा है, बुद्धि है, क्रियात्मकता है, निर्णय है, अभिमान है। अभिमान की रक्षा के लिए वह नितान्त भोंडे अग्राह्य पति को स्वीकार करने में भी पीछे नहीं हटती, यद्यपि ऐसा करना उसके लिए अत्यन्त दारुण हो उठता है।

जगमोहन मुझे तो गँवार-सा लगा। उसी की स्थिति का वर्णन उससे कहीं सतर्क है। जगमोहन पात्रत्व की दृष्टि से काफ़ी कमज़ोर है। उपन्यास में उसकी सत्ता प्रायः एकान्त होने पर भी, उसमें निर्णय और व्यक्तित्व, दोनों की कमी है। वह कभी हमें प्रभावित नहीं करता सिवा शायद उस प्रसंग के, जब वह शुक्लाजी या भगतराम के सामने होता है। सत्या के सामने एकान्त में उसे परिस्थितियाँ और भी कमजोर कर देती हैं और सत्या के अफ्रीका जाते समय उसका उसके सामने न आना तो खल जाता है। नायक की कमजोरी चित्रण की कमजोरी से भी हो सकती है और उपन्यासकार के सचेत प्रयास से भी। जगमोहन के चित्रण में यह प्रयास सचेत नहीं जान पड़ता।

उपन्यास का सबसे स्वाभाविक और शक्तिम पात्र दुर्गो है; कर्मठ और कर्तव्यनिष्ठ, अपने और समाज को यथातथ्य पहचानने वाली, जीवित प्राणी, जो जैसे को तैसा दे सकती है और अपने व्यक्तित्व को किसी छाया से आवृत्त नहीं होने देती। पं० रघुनाथ या दाताराम उसके पास फटक तक नहीं पाते, जगमोहन उसके सामने अत्यन्त हीन और हेय है। उसके योग्य वही हरीश है, जिसकी वह कामना करती है, जो स्वयं उसे पहचानता है; पर दुर्गो उसके या अपने कर्तव्य के बीच वैयक्तिक प्यार को नहीं आने देती। दुर्गो में संघर्ष की आग है, सामाजिक अनीति के प्रति रोष और प्रतिकार की क्षमता है। वही उपन्यास की सही नायिका होने का सामर्थ्य रखती है। पर उसके लिए 'गर्म राख' का शायद अगला (एक दूसरा) भाग लिखना होगा। हरीश का उदात्त रूप उपन्यास में स्पष्ट है, पर संघर्ष का नेतृत्व इसलिए नहीं खुल पाया कि संघर्ष पुस्तक में दूर तक नहीं खुला, और जिस प्रकार उसमें उसकी भूमिका-मात्र सूचित हुई, हरीश की क्रियमाणता भी भूमिका से आगे नहीं बढ़ी।

मजे की बात यह है कि उपन्यास में मुख्य-पात्रों से कहीं बढ़कर उपपात्रों का चित्रण सफल हुआ है। चानकजी इनमें प्रधान हैं। अनेकांश में वे हमारे जाने हुए कवि-समाज के प्रतिनिधि हैं। यहाँ उनके चारित्र्य की व्याख्या न कर, हमने संकेत-मात्र कर दिया है। शुक्लाजी उसी वर्ग के हीन पात्र हैं, जिनकी स्थिति अपने शिक्षित समाज में अलक्षित नहीं है। पं० रघुनाथ और दाताराम पानी में रहने वाले खतरनाक घड़ियाल हैं, जो पिता-भाई के दोस्त बनकर समाज में भयानक कारनामे करते हैं, पर पानी के नीचे ही नीचे कितना पानी

पी लेते हैं, इसका पता उनकी बनावट से जल्द नहीं चलता। इनका 'अश्क' ने अच्छा पर्दा फ़ाश किया है। यहाँ यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक पात्र की शल्य-क्रिया की जाए। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि हरीश से नूरा तक; सत्या से दुरो और चातकजी की पत्नी तक; चातक, शुक्ला, धर्म, स्वरूप, भगतराम, सरदार आदि सभी समाज के जीवित फड़कते अंग हैं और उनके चित्रण में उपन्यासकार सर्वथा सफल हुआ है।

पर प्रश्न इतना पात्रत्व या चित्रण का नहीं है। इनकी अपनी-अपनी अकेली शक्ति नहीं है, हो भी नहीं सकती। इनके अपने-अपने वर्ग हैं। अपने-अपने स्तर, जिन पर वे स्वयं भासमान हैं और अपने घिनौने आचरण से अपनी पृष्ठभूमि को भासमान करते हैं। हमारी साहित्यिक परिधि का स्पष्ट 'आर्क' (वृत्तखण्ड) ऐसों से निर्मित है, जिनमें नीरव, चातक, शुक्ला आदि प्रधान हैं। उनकी घिनौनी स्वार्थरति से जिस वस्तुस्थिति पर प्रकाश पड़ता है, वह उपन्यास की मूल कथा न होकर भी दर्शनीय है। उनके बनाये संस्कृति-समाज और दुरो-हरीश की गोष्ठी में कितना प्रकारतः, गुणतः अन्तर है, यह कहना न होगा। इसी प्रकार स्पष्ट है कि धर्मजी का व्यक्तित्व भी आज के साहित्य-व्यवसाय की किस हद तक कुञ्जी है। ईमानदार, पर 'स्टैंडर्ड ऑव् लिविंग' की मान-मर्यादा बचाते हुए, अनेक अनैतिक कृत्यों के दोषी ज्योतिस्वरूप स्वयं समाज के एक अंग के प्रतिबिम्ब हैं। वैसे ही आज की पहेली-दुनिया का भी यथार्थ सरदार पिता-पुत्रों और टेकचन्द-थानेदार की बातचीत में खुल पड़ा है। 'अश्क' ने जो यह दावा किया है : "आम पाठक से प्रार्थना है कि वह नाम के चक्कर में न पड़े उपन्यास को एक बार पढ़ जाए, निश्चय ही वह उसमें पर्याप्त मनोरंजन पाएगा।" अन्यथा नहीं है, क्योंकि उपन्यास में मनोरंजन की भूमि अनेकतः और प्रायः सर्वत्र प्रस्तुत की गयी है। इस दृष्टि से उपन्यासकार सफल हुआ है। परन्तु उपन्यास का उद्देश्य क्या बस यही है?

उपन्यास क्या समस्याओं का हल नहीं देता? यह सही है कि 'गर्म राख' के विभिन्न प्रसंग अपनी स्वतन्त्र व्यंजना लिये प्रस्तुत हुए हैं, उनमें वे सफल भी हुए हैं। जहाँ तक हमारे समाज के घिनौने स्तरों को खोलकर रख देने की बात है, उपन्यासकार, निश्चय, अपने मन्तव्य में सफल हुआ है; पर इसके आगे वह हमें नहीं ले जा पाता। सत्या किनारे लग गयी है। पर दुरो और हरीश के संघर्ष-अध्यवसाय अविकसित रह जाते हैं। यही वस्तुतः उनकी सफलता की कसौटी भी होता। हमारे घिनौने सामाजिक रूप खुलकर अवश्य सामने आये हैं, पर उनका हल क्या है, यह नहीं तय हो पाया। दुरो और हरीश का आन्दोलन आगे बढ़कर जो अपने विविध रूपों में फूल पाता, तो नारी

समस्याओं का समाधान शायद मिल जाता। मार्क्सीय दृष्टिकोण इतना सार्वभौम दृष्टिकोण है, कि वह अपने अर्थाधार पर टिके समाज के साहित्यादि सभी प्रकरणों का हल माँगता और देता है। वह आन्दोलन सर्वतोमुखी समष्टि का है। उसे आगे बढ़ाना था। काश कि उपन्यासकार उस मुद्दे को अनवगुंठित कर पाता! हम आशा करते हैं कि 'अश्क' 'गर्म राख' के उत्तरार्द्ध के रूप में इसका अगला भाग लिखेंगे, जिसमें अपने विकृत समाज की कल्याणान्वेषणा की ओर भी संकेत होगा।

८

'दिव्या' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यशपाल हिन्दी के यशस्वी लेखक हैं। प्रगतिशील साहित्य-जगत् में उन्होंने अपना साका चलाया है। हिन्दी के कहानीकारों में उनका स्थान मेरी दृष्टि में वहुत ऊँचा है। इधर उपन्यास-क्षेत्र में भी उन्होंने लेखनी उठायी है और उसमें वे काफी सफल भी हुए हैं। 'दादा कामरेड' वहुत कुछ 'आपवीती' होकर भी शरत् वावू की पृष्ठभूमि से उठा था और उसकी गठन में जैनेन्द्रजी की 'सुनीता' का भी कुछ हाथ था। परन्तु 'देशद्रोही' लेकर जब वे हमारे सामने आये तब हमें वे अत्यन्त सुघड़ लगे। यद्यपि उस कृति के आरम्भिक परिच्छेदों पर 'काकेशस का क़ैदी' की प्रचुर छाया है, फिर भी उसमें यशपालजी की अपनी कला भी खूब निखर आयी है। उसके दोषों को न भूलते हुए भी मैंने उसको सराहा था, कितनी ही बार श्री यशपाल को मैंने भारत का शयोलोखाव कहा था। उसके वाद ही उनकी 'दिव्या' का प्रादुर्भाव हुआ।

दिव्या का जगत् दूसरा है। दूर का अतीत—धुँधला-धुँधला, ईसापूर्व दूसरी सदी का। 'दादा कामरेड' आज का भारत, निकट-भूत की राजनीतिक पृष्ठभूमि लिये आया। 'देशद्रोही' अपनी भौगोलिक सीमाएँ संकुचित न रख सका। अन्तर्राष्ट्र और अन्तर्जाति की श्रृंखला में भारत की भी एक कड़ी उसमें झंकृत हुई। 'दिव्या' ने अपना रंगस्थल नितान्त नया चुना, सुदूर का, अनजाना, कल्पनापरक। यशपाल का इतिहास का अध्ययन शायद इस सृष्टि का कारण था। प्रगतिशील आलोचक प्रगतिशील साहित्यकार में उद्देश्यपरक प्रयत्न ढूँढता है। हमने भी 'दिव्या' में कुछ इस प्रकार का निर्माण पाने की लालसा की। लेखक ने स्वयं अपने 'प्राक्कथन' में हमारी इस उत्कण्ठा को जगाया—'अपने अतीत का मनन और मन्थन हम भविष्य के लिए संकेत पाने के प्रयोजन से ही करते हैं।' इतिहासप्रणयन का प्रेमी निश्चय इस प्रतिज्ञा से आकृष्ट होगा। मैं भी हुआ और भली प्रकार मैंने 'दिव्या' पढ़ा-समझा। फिर 'दिव्या' के 'महाभूतों' का विश्लेपण भी कुछ सोच-समझकर, कुछ सावधान होकर ही करना

था। चतुर लेखक ने आरम्भ में ही आगाह कर दिया था—'दिव्या' इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पनामात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। कला के प्रति अनुराग से लेखक ने काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है। इसलिए इसमें निश्चय हम इतिहास नहीं ढूंढ सकते। इतिहास ढूंढना लेखक के प्रति अन्याय होगा। हाँ, प्रस्तुत उपन्यास की 'ऐतिहासिक कल्पना' का तथ्य आँका जा सकता है; 'ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का' जो चित्र है उसमें समाज और उसकी इकाई व्यक्ति को ढूंढा जा सकता है; फिर 'कला के प्रति अनुराग से लेखक ने काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का' जो रंग देने का प्रयत्न किया है वह कहाँ तक यथार्थ है और वर्णलेखन में चित्रकार कहाँ तक सफल हुआ है इसके समझने का यदि हम प्रयत्न करें तो वह सार्थक और उचित होगा। सतर्क लेखक की यह गर्वोक्ति है।

इस प्रकार 'दिव्या' के तीन प्रधान अंग हैं—१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि; २. इस पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्रण और ३. काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न। और इस अनुशीलन और चित्रण का कारण था लेखक का 'कला के प्रति अनुराग।'

'दिव्या' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि गहन अंधकार में छिपी है। चलने के मार्ग निरपवाद पृष्ठवीथियाँ हैं, राजपथ नहीं। अँधेरी गलियों में चलनेवालों को जितनी और जिस प्रकार की असुविधाएँ हो सकती हैं वे सब 'दिव्या' के पढ़ने वालों को होंगी। जब तक कि इतिहास का और वह भी पुरातत्त्वपरक भारतीय इतिहास का वह पंडित न हो, 'दिव्या' का पाठक उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को नहीं देख सकता। इसका कारण केवल यही नहीं है कि वृत्तान्त सुदूर अतीत का है। वास्तविक कारण यह है कि इस ऐतिहासिक उपन्यास में प्रकाशस्तम्भ की भाँति जहाँ-तहाँ भी आलोक-रश्मियाँ नहीं मिलतीं। शायद इस कारण कि लेखक स्वयं उस पृष्ठभूमि से अनभिज्ञ है। एकाध स्थल पर वह निःसंदेह पुष्यमित्र, पतञ्जलि और मिलिन्द के नाम ले लेता है परन्तु निविड़ अंधकार में जैसे दुर्बल प्रकाशरेखा तम की घनता को और बढ़ा देती है उसी प्रकार ये नाम हमें काल की अस्पष्ट परम्परा में खो देते हैं। इन नामों की सार्थकता तक हमारी समझ में नहीं आती। इनके बीच की भूमि तक लेखक नहीं भरता और अँधेरे में गड्ढों की परम्परा के बीच चलना सुचतुर पथिक के बस का भी नहीं। इन नामों से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि कथा कदाचित् पुष्यमित्र के समय यानी ईसापूर्व द्वितीय शती की है। और वह मद्र

की राजधानी शाकल (पालि, सागल) में उद्‌घटित होती है। यदि ऐसा है तो प्रश्न उठता है कि शाकल पुष्यमित्र शुङ्ग के समय में क्या स्वतन्त्र था? प्लूतार्क के अनुसार मिलिन्द गंगा की घाटी में लड़ता हुआ मरा। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' के अनुसार (अरुणद् यवन: साकेतं, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्) मिलिन्द साकेत (अयोध्या) तक बढ़ आया था। 'गार्गीसंहिता' के युगपुराण के अनुसार भी पुष्यमित्र ने मिलिन्द को हराकर संभवतः मार डाला। उसके बाद उसने अश्वमेध किया। पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध किये। एक बार बौद्ध मौर्यकुल का ध्वंस करके, दूसरी बार बौद्ध ग्रीक मिलिन्द का नाश कर। वह अतिब्राह्मण था, मौर्यकुल का पुरोहित और सेनापति। पतंजलि उसके ऋत्विज् थे। पुष्यमित्र ने अपने विचार से अब्राह्मण बौद्ध राजाओं का नाश कर पृथ्वी का उद्धार किया। इस उपलक्ष्य में उसने अपना पहला अश्वमेध किया। बौद्ध लोग भड़क उठे। शाकल (स्यालकोट) का ग्रीक राजा मिलिन्द बौद्ध धर्म में दीक्षित हो चुका था। बौद्ध उसे मगध पर चढ़ा लाये। परन्तु गंगा की तलेटी में पुष्यमित्र ने उसे धूल चटा दी। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने दूसरा अश्वमेध किया और उसके अश्व के रक्षक वसुमित्र ने ग्रीकों को सिन्धुनद के उस पार भगाकर उनकी कमर तोड़ दी। कुछ काल तक किसी कोने में मिलिन्द के दूध-मुँहे बच्चे को लिये उसकी विधवा राजसुख की लौ लगाये पड़ी रही। एक छोटे भाग पर सुत्राता प्रथम और सुत्राता द्वितीय क़ाबिज़ रहे परन्तु शाकल पर पुष्यमित्र का अधिकार हो गया। चूँकि बौद्धों के ही षड्यन्त्र से मिलिन्द का विदेशी आक्रमण हुआ था, पुष्यमित्र उनसे इतना अप्रसन्न हुआ कि उसने पाटलिपुत्र से जलन्धर तक के सारे बौद्ध-विहार जला डाले (दिव्यावदान)। मिलिन्द की राजधानी स्वयं शाकल में पुष्यमित्र ने घोषणा की—यो मे श्रमण-शिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यमि—जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सोने के सौ सिक्के दूंगा (दिव्यावदान)। पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष राज किया और उसका दूसरा अश्वमेध निश्चय उसके बुढ़ापे और राज्यकाल के अन्त में हुआ होगा क्योंकि उस यज्ञ में अश्व का 'गोप्ता' उसका पौत्र वसुमित्र था। इस 'घोर' कार्य के लिए वसुमित्र युवावस्था में ही मनोनीत हो सकता था। अतः वह कम-से-कम २० वर्ष का अवश्य हो चुका होगा। निस्सन्देह तब तक उसका पितामह पुष्यमित्र वृद्ध हो चुका था। इस प्रकार अपने मृत्युकाल तक पुष्यमित्र को शाकल का अधिकारी होना चाहिए। फिर उसके जीते जी, जैसा पृष्ठ १५२, ८१ और ७४ से स्पष्ट है, शाकल में गणतन्त्र कैसे स्थापित हो गया, यह समझ में नहीं आता। यदि लेखक दोनों सुत्रातों को भी वहाँ रखता तो किसी प्रकार बात समझ ली जाती। फिर भी इतनी बातें इशारे से तो समझ में आती नहीं। इन्हें 'प्राक्कथन' में इतिहास सम्बन्धी निबन्ध में दे देना चाहिए था।

ऊपर ही (टाइटिल पेज पर) 'दिव्या' का स्पष्टीकरण है—'बौद्धकालीन इतिहास'। 'बौद्धकालीन इतिहास' का कोई अर्थ नहीं होता। भारतीय इतिहास में ऐसा कोई काल नहीं आया जिसे हम 'बौद्ध-काल' कह सकें। ईसापूर्व छठी सदी में जब शाक्यसिंह दहाड़ रहा था, तभी महावीर जिन 'कैवल्य' की घोषणा कर रहा था। तभी बुद्ध के मित्र अपने पिता बिम्बिसार का खून कर उस पाप से त्राण पाने के लिए एक लाख पशुओं को अपनी यज्ञशाला में बाँधे अजातशत्रु वेदी में अग्निसंचार कर रहा था। तभी, जब पुत्र बोधी तथागत के वचन सुन रहा था, पिता उदयन पद्मावती और वासवदत्ता के प्रणय-इतिहास को यमुनावर्ती कौशाम्बी में सिरज रहा था जिसकी रोमांचक गाथा भास और सुबन्धु, कालिदास और हर्ष ने गायी। तभी, जब पिता प्रसेनजित् बुद्ध के धर्मोपदेश सुन रहे थे, दस्युराज अंगुलिमाल कोसल को उजाड़ रहा था और पुत्र विडूडभ शाक्यों के कपिलवस्तु को अग्नि को अर्पण कर रहा था। क्या इस काल को बौद्ध-काल कहेंगे? अशोक के राज्यकाल को शायद कुछ इस प्रकार कह भी सकें परन्तु अशोक का काल, 'दिव्या' का काल तो नहीं। हर्ष का काल भी बौद्ध-काल नहीं कहा जा सकता। उसके सामने ही शशांक ने बोधगया के बोधिवृक्ष की जड़ काटकर उसपर अग्नि के अंगार रख दिये थे जिससे वह फिर पनप न सके। सो वह भी बौद्ध-काल नहीं हो सकता। वास्तव में इस प्रकार का कोई काल-विशेष भारत का इतिहास नहीं जानता।

यशपालजी ने चन्द्रगुप्त मौर्य के कुल को नापितों का कुल माना है। उन्नीसवीं सदी में कुछ लोगों का ऐसा विचार अवश्य था परन्तु आज भी कोई इसे मानता है इसमें सन्देह है। ऐतिहासिक अनिर्वचनीयता 'दिव्या' का प्राण है। 'परमभट्टारक' जो विशिष्ट अर्थ में गुप्त सम्राटों ने प्रयुक्त किया, वह यशपालजी ने उनसे लगभग सात सौ वर्ष पूर्व ही प्रचलित कर दिया! और वह भी गणपति के सम्बन्ध में! (पृ० ७३, ११०, १६६, १६७, १६८, आदि)। यशपालजी ने अलिन्दों में भी प्रहरियों का इन्तजाम कर दिया है। अलिन्द कहते हैं बारजे अथवा खिड़की से बाहर निकले हुए भाग को। फिर क्या है जो द्वार पर द्वारपाल हों और बारजे पर प्रहरी न हों? (पृ० ७६)। और आपकी सृजन-शक्ति ने भयंकर सृष्टि की है। ग्रीकों के एक देवता को आपने देवी कर दिया है। इतिहास की विशेषज्ञता साधारण ज्ञान की शायद दुश्मन है, इसीलिए यशपालजी का आधार यहाँ निकम्मा सिद्ध हो गया है। गौतम ने इन्द्र को स्त्री कर दिया फिर यशपालजी ग्रीकों के फ़ादर ज़्यूस को 'यवन देवी' क्यों न बना दें, 'देवी ज़्यूस के मन्दिर में अश्वबलि का समारोह' क्यों न करायें (पृ० ६५ और १०२)! क्या मैं निवेदन करूँ कि ग्रीकों के 'ज़्यूस', रोमनों के 'जुपिटर' और प्राचीन हिन्दुओं के 'प्रजापति' (द्यौस्)

की भाँति प्राणिमात्र के जनक थे ? अगर आत्मा में विश्वास करते हों तो आगे त्राण नहीं है । ज्रीयुस, जुपिटर और प्रजापति चाहे यहाँ मर चुके हों पर वहाँ नास्तिकों से बदला लेने के लिए उधार खाये बैठे हैं । फिर यह 'जन' का प्रयोग (पृ० ७४, ७५) जाति के अर्थ में कैसा ? 'जन' का इस प्रकार प्रयोग तो वैदिक-काल में ही हुआ है, शुङ्गकाल में कैसे हो गया ? इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के दर्शन का फल तब तक न होगा जब तक हम 'कालविरुद्धदूषण' का एक अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण न पा लें । 'आस्थानागार के मुखद्वार के तोरण से पिंजरे में लटकी वाचाल सारिका बोल उठी—न्यायात् पथः पदं प्रविचलन्ति धीरा' पृ० २७ (श्लोकांश इस प्रकार है—न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदन्न धीराः) । यशपालजी शायद स्थिर नहीं कर सके कि धीरों के चरणों की बात है अथवा गीता आदि के प्रवचनों के पदों की बात । पर एक बात है कि जहाँ देववाणी बोलने वाला मेधावी मनुष्य ग़लती कर सकता है वहाँ भला बेचारी सारिका की क्या बिसात ? परन्तु शब्दाडंबर में हम क्यों पड़ें ? हमें तो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही केवल देखनी है । सही, पर क्या मंडनमिश्र के अतिरिक्त और किसी के द्वार पर इस प्रकार की सारिका उद्घोष नहीं कर सकती ? पर टेढ़ी खीर और है, यह नहीं । यह उक्ति किसकी है ? कविवर भर्तृहरि की । नीतिशतककार ईसवी सातवीं सदी के भर्तृहरि की ! फिर क्या हुआ, पुष्यमित्र शुंग के काल में, भर्तृहरि से लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व, उस कविवर का कोई पूर्वावतरण नहीं हो सकता ? और यह 'अंगरखा' (पृ० ६५ ६६, ६७) क्या बला थी ? लेखक ने शायद इसे 'अंगरक्ष' से बना लिया है, लगता भी है संस्कृत-सा और आजकल अंगरखा चलता भी तो है, पर एक बात, क्या तब भी चलता था ? पुराविद् लोग तो कहते हैं कि अंगरखे का प्रचार कुषाणों ने भारत में किया और उनका आगमन यहाँ ईसा की पहली सदी में हुआ, फिर उससे तीन सौ वर्ष पूर्व भारत में उसका प्रचार क्योंकर हो गया, और वह भी सबमें आमतौर से ? शाण्डेय भी तो उसे पहनता है । अन्दाज़ है शायद ग्रीकों ने चलाया हो । पर ख़ुद ग्रीक तो उसे पहनते नहीं थे, फिर भारतीयों में कैसे चलाया । रोमनों में 'तोगा' ज़रूर चलता था जिससे चोग़ा और अंगरखा बने, परन्तु रोमनों का तब भारत से क्या सम्बन्ध ? ग्रीक स्वयं तो घुटने तक का ('ह्यूनिक' छितोन, एक प्रकार का कुर्त्ता) पहनते थे । होगा, पुराविदों को तो एक रोग है पुरानी बातों का हवाला देकर आज के लेखकों में त्रुटियाँ निकालने का । कहने दो उन्हें कि कुषाणों के पूर्व (अर्थात् प्रथम सदी ईसवी) के संग्रहालयों में संगृहीत सहस्रों मूर्तियों में एक भी ऐसी नहीं जिसको अंगरखा पहनने का शऊर हो, नंगी खड़ी हैं ।

यह तो हुई 'दिव्या' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि । अब ज़रा इस पृष्ठभूमि

पर 'व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्रण' तो देखें। व्यक्तित्व तो इस उपन्यास में है ही नहीं। व्यक्ति बहुत हैं पर उनकी आकृतियाँ अत्यन्त अस्पष्ट हैं। 'दिव्या' पढ़ लेने पर शायद दिव्या का ही नाम याद रह सके। चरित्रचित्रण तो इस उपन्यास में कहीं देखने को नहीं मिलता। व्यक्ति समाज में एक-दूसरे से इस प्रकार निःशब्द निर्जीव से टकराते हैं जैसे नाबदान के कीड़े। व्यक्तियों के स्थान पर जैसे उनकी छायाएँ घूमती टकराती हैं। समाज, शब्दों की जटिलता और वाक्यगठन की असमर्थता में खो गया है। कहीं-कहीं वेश्याओं की बस्ती अथवा शराब की भट्ठी में उसके दर्शन हो जाते हैं। कहीं संघर्ष का नाम नहीं। बौद्ध-ब्राह्मणसंघर्ष ही यदि उचित रीति से दिखाया जा सका होता तो बहुत-कुछ सम्पन्न हो जाता परन्तु यहाँ तो जान पड़ता है, स्वयं लेखक ही अभी निश्चय नहीं कर सका कि उसका साध्य विषय क्या है। इतना प्रयास करके भी वह न तो राजनीतिक संघर्ष ही उपस्थित कर सका न सामाजिक ही। पुष्यमित्र की ही विध्वंसनीति अथवा 'मनुस्मृति' की ब्राह्मण-प्रधान धर्मपद्धति दिखायी जा सकती थी। दासों और चाण्डालों तथा नारियों का पददलित जीवन, तक्षशिला के बाजारों में पिताओं द्वारा लड़कियों का बेचा जाना, ग्रीकराज मिलिन्द और बौद्ध दार्शनिक नागसेन के समक्ष तर्क आदि अनेक स्थल ऐसे थे जो संघर्ष उपस्थित कर सकते थे। परन्तु यहाँ तो उपन्यासकार दिव्या के छलने से ही नहीं उबर सका। उसने इतने दिखाया केवल इतना कि दिव्या वेश्या तो हो सकती है पर कला की अधिष्ठात्री नहीं हो सकती। इसे भी स्वीकार करना कठिन है। उन्हीं दिनों लिच्छवियों में नगर की सबसे सुन्दर स्त्री, को चाहे वह ब्राह्मणी ही क्यों न हो, उसी पद पर बिठाने की प्रथा थी जिसपर दिव्या को प्रतिष्ठित करने का उन्होंने निष्फल प्रयत्न किया है। दिव्या के कथाकाल में ही शाकल के पड़ोसी कठों में ही स्वयंवर की प्रथा थी जहाँ ग्रीक-हिन्दू तक का विचार न था। इस सामाजिक चित्रण में भी यशपाल ने बड़ी भूलें की हैं। जैसे उत्तर भारत में भोजपत्र की हस्तलिखित पुस्तकों की जगह वे ताड़पत्र की पुस्तकों का हवाला देते हैं (पृ० ५३, १४६)। वास्तव में ताड़पत्र दक्षिण-भारत में अधिकतर प्रयुक्त होते थे और भोजपत्र उत्तर भारत में। इसी प्रकार नागरिक परिधान में जो उन्होंने 'अन्तर्वासक' का प्रयोग धोती के लिए किया है वह अशुद्ध है (पृ० ११, ४३, ७६, १३६, १४८)। 'अन्तर्वासक' गृहस्थों की धोती के लिए शायद कभी प्रयुक्त नहीं हुआ। उनकी धोती के लिए 'अधोवस्त्र' का प्रयोग हुआ है। 'अन्तर्वासक' बौद्ध भिक्षुओं के त्रिचीवर (उत्तरासंग, अन्तर्वासक और संघाटी) में से एक था, नीचे का वस्त्र। इसी प्रकार 'हुसेन और कबीर' नामक परिच्छेद में लेखक ने जो नृत्य का दृश्य खींचा है वह किसी प्रकार उस समय के भारत का नहीं हो सकता।

ग्रीस देश का भी नहीं। वहाँ तो तब भारत से कहीं बुरा परदा था। ग्रीक नाटककार मिनान्दर का एक पात्र कहता है—A Good woman is one who never peeps out of the street door. She is like a good coin which people hoard while a bad woman is like a bad coin that circulates in the market.[1] इस प्रकार के नाच न तो ग्रीकों में उस समय होते थे और न स्पार्ता में ही। इन पृष्ठों में जिस नाच का दृश्य बड़े आडम्बर और शिक्षित रूप में खींचा गया है, वास्तव में वह सर्वथा आधुनिक है—बाल-डान्स का। यह यथार्थतः ज़माने का जादू है, लेखक के सिर पर चढ़-कर बोल रहा है। यह है 'दिव्या' में 'व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्रण'!

हमने देखा कि यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि कितनी काल्पनिक है इसका वातावरण बिलकुल ही ऐतिहासिक न रहा जिसके 'आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न' किया जा सकता। ऐतिहासिक वातावरण अशुद्ध और अस्पष्ट होने के कारण 'रंग' फीका हो गया, प्रयत्न निष्फल।

'अपनी न्यूनता जानकर भी लेखक ने कल्पना का आधार उसी समय को बनाया'—इसका कारण क्या था? उसके ही शब्दों में 'उस समय के चित्रमय ऐतिहासिक काल के प्रति लेखक का मोह'। फलतः उसकी इस कृति में वे सारे दोष आ गए जो मोह से आच्छन्न मस्तिष्क के प्रयास में सदा आ जाया करते हैं—साध्य की अस्पष्ट रूपरेखा, वस्तुकथा का बोझिल आकृतिहीन वितन्वन, उद्देश्यहीनता।

इस बात को यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उपन्यासकार इतिहास नहीं लिखता, लिखता वह उपन्यास ही है। इसलिए इतिहास उसका प्रतिपाद्य विषय नहीं हो सकता। परन्तु जो उपन्यासकार इतिहासपरक अथवा ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपरक उपन्यास लिखता है उसे इतिहास की आधारभूत घटनाओं के सम्बन्ध में तो कम-से-कम भद्दी भूलें नहीं करनी चाहिएँ। आलेजांद्र दुमा के 'तीन तिलंगे' अथवा 'मान्ती क्रिस्तो' इतिहास नहीं, ऐतिहासिक उपन्यास तक नहीं हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ उनमें वस्तु-कथाकालिक ऐतिहासिक आकाश खुलता है वहाँ-वहाँ हम उसे स्पष्ट सच्चे रूप से देख तो लेते हैं। अनातोल फ्रांस की 'तायां' (थेईस) इतिहास की पुस्तक नहीं है परन्तु उसके मार्कस, अरीलियसकालीन

---

१. स्मृति से उद्धृत कर रहा हूँ, गलती हो सकती है। "भली औरत वह है जो घर से बाहर नहीं झांकती। वह उस अच्छे सिक्के की भांति है, जिसे लोग घर में गाड़कर रखते हैं; बुरी औरत खोटे सिक्के की तरह है : जो बाजार में चलती है।"

(अंग्रेज़ी अनुवाद से)

मिस्र और अन्तियोक के ऐतिहासिक वातावरण में कोई दोष तो नहीं आता, अन्तर तो नहीं पड़ता। 'स्पार्टकस' आदि के अमर लेखक हावर्ड फ़ास्ट और 'तीन नगर' के अद्वितीय लेखक शोलेम ऐश ने भी तो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि उपन्यासकार इतिहास की इकाइयों के सर्वथा अनुकूल ही हो परन्तु कम-से-कम उसे इतिहास की स्वीकृत परिस्थितियों पर अकारण तो स्याही नहीं फेरनी चाहिए। और जो तत्कालीन समाज का वातावरण हमारे सामने रखने का साहस करे उसे स्वयं तो उस प्राचीन परिस्थिति को स्पष्टतया प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए।

यह अन्तिम प्रश्न हमारे सामने एक और विषय प्रस्तुत करता है—कला के प्रति अनुराग—जिससे प्रेरित होकर लेखक ने 'दिव्या' लिखने के लिए लेखनी उठायी। 'शुक्रनीति' ने कलाकार को एक अत्यन्त सुन्दर राय दी है। जब चित्रकार अथवा तक्षक मूर्तिकार, उसका का वक्तव्य है, प्रतिपाद्य वस्तु को सम्पन्न करने बैठे तब पहले उसे समाधिस्थ होना चाहिए। ध्यान-समाधि की अवस्था में जब वह अपने साध्य की रूपरेखा पूर्णतया हृदयंगम और प्रत्यक्ष कर ले तभी वह फलक पर रेखाएँ अंकित करना अथवा मूर्ति खोदना आरम्भ करे, वरना वह 'शिथिल-समाधिदोष' उपस्थित करेगा। 'मालविकाग्निमित्र' में कलावन्तशिरोमणि कालिदास ने इसी दोष को स्पष्ट करते हुए चित्रित और वास्तविक व्यक्ति (मालविका) की एकरूपता खण्डन को 'समाधिशैथिल्य' से दूषित कहा है। यशपाल भी शिथिलसमाधि के दोषी हैं क्योंकि वे ईसापूर्व द्वितीय शती की पृष्ठभूमि उपस्थित नहीं कर सके और इस कारण उस समाज का वातावरण उनके काल्पनिक नेत्रों के सामने उठ न सका। वह उनके बस की बात न थी और उन्हें इस दिशा में अनधिकारचेष्टा करनी उचित न थी। वे इस विषय में अनधिकारी सिद्ध हुए, असमर्थ।

कला के विचार से 'दिव्या' और भी दूषित सिद्ध होगी। ऊपर बताया जा चुका है कि इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण अत्यन्त दुर्बल है। आकृतियाँ अस्पष्ट छायाओं की भाँति हिलती हैं। उनमें न रूप है, न शक्ति। पुस्तक पढ़ने के बाद केवल दो ही व्यक्ति याद आते हैं, मारिश और दिव्या। शायद इस कारण कि दोनों पुस्तक के अन्त में हमारे साथ हैं, शायद इसलिए कि मारिश लोकायत असाधारण पुरुष है, शायद इसलिए कि 'दिव्या' उपन्यास की नायिका और उसका नाम है। दिव्या निर्जीव है, इसलिए नहीं कि उपन्यासकार ने उसे उस प्रकार चित्रित किया है, वरन् इसलिए कि उसमें शक्ति नहीं। कोई कारण नहीं कि दिव्या मद्र में उन्हीं कुरीतियों के प्रति माथा टेक दे जिनको उसकी पार्श्ववर्तिनी कठ-प्रदेश की बहनों ने ठोकर मारकर दूर-दूर कर दिया था। चूँकि व्यक्ति अपनी भावनाओं और वैयक्तिक दुर्बलताओं के साथ हमारे सामने नहीं उठते,

उनमें संघर्ष दिखायी नहीं पड़ता और समाज हमारी आँखों के सम्मुख स्पष्ट नहीं हो पाता। लेखक का उद्देश्य इसी कारण असफल हो जाता है और उसका प्रयास व्यर्थ। कथानक में कहीं चढ़ाव-उतार नहीं, वह निष्प्राण-सा दिखता है।

प्राचीनता की ध्वनि बनाये रखने के लिए 'दिव्या' के लेखक ने लाक्षणिक शब्दों का उचित-अनुचित प्रयोग किया है। इनके प्रयोग का अनौचित्य दिखाने के लिए समय और विस्तार दोनों की आवश्यकता होगी। पुस्तक पढ़कर जान पड़ता है कि लेखक ने पहले इन लाक्षणिक संकेतों को अपनी नोटबुक में लिख लिया है फिर उनका उसने प्रयोग किया है। और सबका ही करना था क्योंकि वे उसकी नोटबुक में थे। उनका प्रयोग सही हो या ग़लत, इससे उसको कोई सरोकार न था! उसने ध्वनि खड़ी कर दी। ध्वनि को उसने संगीत समझा और अभागे कुरंग की भाँति मारा गया। किसी क्यूरियो (अजायब) की दुकान में जायें तो अत्यन्त प्राचीनकाल की वस्तुएँ अर्वाचीन वस्तुओं के साथ मिली पायेंगे। डीलर प्रत्येक वस्तु को महत्त्वपूर्ण और अमूल्य समझेगा। वास्तव में डीलर पुराविद् नहीं है और अपनी वस्तुओं की समझ उसे अभी प्राप्त करनी है। पुराविद्-कलाकार की अवस्था तो तीसरी है, अभी दूर की।

प्लाट की अस्पष्टता, भाषा की जटिलता और सांकेतिक शब्दों के अनुचित प्रयोग ने कुछ ऐसा षड्यन्त्र किया है कि कथा का प्रवाह अत्यन्त दुरूह और कृत्रिम हो गया है। इसी कारण आपसे पुस्तक समाप्त करने के तुरन्त बाद भी यदि उसकी कथा दोहराने को कहा जाय तो, मेरा दावा है, आप उसे दोहरा न सकेंगे। अतः उपन्यास का एक उद्देश्य जो मनोरंजन है वह हमें लभ्य नहीं होता। भाषा की कृत्रिमता ने उसे बिलकुल बोझिल कर दिया है और अनेक शब्दों का अक्षरविन्यास (हिज्जे) निरन्तर ग़लत हुआ है।

नीचे कुछ जटिल अथवा असुन्दर वाक्य दिये जाते हैं। केवल कुछ ही:

"मण्डप कलशों, कदलीस्तम्भों, तोरणों, वसंत आरम्भ ये पल्लवित आम्र पत्र के वन्दनवारों और मंजरियों से सुसज्जित था।" (पृ० ९)

"सूर्य के क्षितिज से उतर जाने पर सुश्री, सबल अश्वों से जुते मद्रगण के रथ और द्रुतगामी, सुन्दर वस्त्र धारण किये शिविका वाहकों के कंधों पर शिविकाएँ और अश्व जनप्रवाह के बीच सुरक्षित रखे गये मार्ग से मण्डप की ओर आने लगे।" (पृ० १०)

"मस्तक, कान, कण्ठ, बाहूमूल, कलाई और अंगुलियाँ चन्द्रिका, तूलिका-लेखन, कुण्डल, हार, माला, अंगद, वलय और अँगूठियों से पूर्ण थे।" (पृ० ११)

ये क्या साहित्य के वाक्य हैं? इस भरती के बिना क्या इन आभूषणों का निर्देश नहीं हो सकता था? 'कला के प्रति लेखक का मोह' इस पंसारी के बीजक

को कैसे गले से उतार गया ?

"ऊपर पुष्ट वक्ष और नीचे नितम्ब।" (पृ० ११)

स्त्रियों के प्रसाधन के वर्णन के बीच यह एक वाक्य मिलता है। परन्तु क्या यशपालजी इस वाक्य में बतायी अवस्था विशेष के विरुद्ध किसी अन्य रूप की भी, कल्पना कर सकते हैं—जैसे 'ऊपर नितम्ब और नीचे पुष्ट वक्ष' ?

"उसकी पीठ पीछे खड़ी दासी उसके आजाने (अजाने ?) में ही व्यजन से मन्द वातास कर कक्ष की ऊष्मा और पावस में उत्पन्न मच्छरों को दूर किये थी।" (पृ० ७१)

"ज्येष्ठ प्रबुद्ध तात की उदारता से प्रश्रय पा, मुण्डी धर्म के प्रति अपनी प्रवृत्ति के कारण कुमारी की उच्छृंखलता को प्रोत्साहित किये हैं।" (पृ० ८७)

"वयोवृद्ध धर्मस्थ के स्वर्गीय ज्येष्ठ पुत्र के, एकमात्र पुत्र की, एकमात्र कन्या सभी की दुलारी थी।" (पृ० ३१)

"वह धर्मस्थ के अग्रज पुत्र, अग्रज पौत्र और अग्रज प्रपौत्री सभी की प्रतिनिधि बन, विशेष आदर की पात्र थी।" (पृ० ३७)

"उस समय महा पितृव्यों, पितृव्यों, मातामहि और पितृव्याओं, भाइयों और बहनों का स्नेह बोझ-सा जान पड़ने लगता।" (पृ० ३८)

"दिव्या के सिसकने के शद्ब (शब्द ?) से विचारतन्द्रा से जाग पृथुसेन ने उसे कटि से अपने बाहुपाश में समेट, आलिङ्गन में हृदय पर ले लिया।" (पृ० ६१)

"चिन्ता रूपी कलिका-पल्लवों से अवरुद्ध दिव्या के हृदय का पुष्प अभी अपने पटलों को प्रस्फुटित नहीं कर पाया था कि दूसरी चिन्ता की घाम से वह कुम्हलाने लगा।" (पृ० ८९)

"सीरो की उपस्थिति और उसका निषेध पृथुसेन को बलात् उसके अंक से छीना था।" (पृ० १०४)

..."पुरोहित का आसन, मल्लिका के अनुरोध से, धर्म के व्यवस्थापक, गणपरिषद् के महाअमात्य, महापण्डित, महाआचार्य रुद्रधीर ने ग्रहण किया।" (पृ० २६८)

ऐसे स्थलों की 'दिव्या' में भरमार है। कुछ अनुचित स्थल और देखें। संबोधन की परम्परा कई बार साधारण वक्तव्य में भी जा घुसी है, जैसे—'आर्ये मोक्षा (आर्या मोक्षा ?) की चिन्ताजनक अवस्था के कारण...' (पृ० ११८), 'आर्ये (आर्या) अमिता सुविधा से सुने जाने योग्य...' (पृ० ११९), 'आर्ये अमिता के शब्द उसके कानों में गए' (पृ० वही), 'आर्ये, मोक्षा के कक्ष में... आर्ये अमिता ने सबको सुनाकर कहा' (पृ० १२०), आदि। कई स्थानों पर प्रयोग है—'उदयभानु को (का) सम्बोधन किया' (पृ० ५९)। और देखिए पृ० ६७,

८६, १६३, १६८, १६६ आदि। पृ० २७० पर यशपालजी लिखते हैं—'...क्षण भर आचार्य की ओर निष्पलक देखती रही।' क्षण भर तो निष्पलक आदमी देखता ही है। एक पलक से दूसरे पलक के गिरने तक जो काल है वह पल या क्षण है फिर उसने एक क्षण तक निष्पलक कैसे देखा ? पृ० ६ पर एक पद इस प्रकार है—'सागल के विशाल ताल पुष्करणी' विशाल का अर्थ है ताल वृक्ष की भाँति ऊँचा। सरोवर के विस्तार के लिए उसका प्रयोग अनुचित है। पृ० ४६-४७ पर पृथुसेन दिव्या को 'भद्रे' आदि कहकर ही उसका संबोधन करता है, पर दूसरी ही बार मिलने पर 'प्रिये' और 'तुम' वेभाव के पड़ने लगते हैं।

विस्तार भय के कारण बिना उन्हें शुद्ध किए नीचे उन अशुद्ध शब्दों को दे रहा हूँ जो केवल प्रतीक रूप से समझने चाहिएँ क्योंकि उनका विस्तार प्रचुर है—

'स्पर्ष' (पृ० १०, ११, १२, ६१, ७०, ७२, तीन बार ६५, १०३, १०४, १०६, १०८, १२६, १५५, १६०, १८८, १६४, २२३, २४०, २४१, २६६); 'पत्नि' (पृ० २६, ६२ दो बार, १११, ११२, ११८, १३६, १४६ तीन बार, १४७, दो बार, १५३, २१६, दो बार, २१७, दो बार, २२३, २३८ दो बार); श्राप (पृ० २६); दुश्कर्म (पृ० २६); निसत्व (पृ० ३३); निसंकोच (पृ० ४०, २१०); सहस्त्रों (पृ० ४६, ५५, ५६, ८०, ८३, ८४ दो बार); परामर्ष (पृ० ५६ दो बार, ६७, १३४); त्रितियांश (पृ० ५६); शद्‌व (पृ० ६१, ७०, ७२, ८३ दो बार, ६८, १०५ पटने में अरमूद खाते हैं, ग्वालियर में चोर कपड़ते हैं और पंजाब में कानू से काटते हैं, फिर यशपालजी शब्द को शद्‌व और मध्याह्न को मध्यान्ह पृ० ८८ क्यों न लिखें ?); दृष्य (पृ० ६३, ६८ दो बार); अदृष्य (पृ० २६६); ततकाल (पृ० ६६); म्लेच्छ-मदनी (पृ० ८५); पुष्कर्णी (पृ० ६, ६०, ६३, ११५, ११८); पुष्कर्णी (पृ० २६८); परिणित (पृ० ६८, १०४, १४८); अर्धागनी (पृ० ६७); अर्धांगी (पृ० २२२); निश्वास (पृ० ७६, ८२, १६५, २५६); निश्प्रयोजन (पृ० ६१, २१०); दुष्कल्पना (पृ० ६३, १०५); निश्पलक (पृ० १२०, १२२, १५५, १६० दो बार, २७० दो बार, २७४); निश्प्राण (पृ० १६५); निश्प्रभ (पृ० २६१); वाश्प (पृ० १०४); विश्टर (पृ० ६१, १६७); अन्तश्कक्ष (पृ० १६१); अन्तश्कक्ष (पृ० वही), शुश्क (पृ० १६२); दुश्प्राप्य (पृ० २३६); बहिश्कित (पृ० २३३); निश्क्रिय (पृ० २५१); निश्क (पृ० १४६ दो बार); उष्णीश-धारी (पृ० १६७); अन्तसवृत्ति (पृ० १७६); अभिशेक (पृ० १०५); सुदूर (पृ० १०१); दुरुह (पृ० ८८); निरूत्साह (पृ० ८८, १४७); गुरू (पृ० १७२, २६५); गुरूदेवी (पृ० १७२, २६४); गुरूपूजा (पृ० २०७); गुरू-

भार (पृ० १०४); कुलवधु (पृ० १७५ दो बार, १७८, २०६, २१५, २२२, २७४ तीन बार); पुत्रि (पृ० २२२); पृथ्वि (पृ० २६५); सुश्रुप्त (पृ० ५२२); मूशिक (पृ० २४५, २४८); सप्तऋपियों (पृ० २४३); वयः वृद्ध (पृ० १८१); नारित्व (पृ० १६६, २०४, २४२); समाप्ती (पृ० २०७); आक्षेप (पृ० २०३ दो बार); कृप (पृ० १६५); सित्का (सिकता ? पृ० १४६); हिंस्त्रक (पृ० १२५); हिंस्त्र (पृ० १२६ दो बार); समर्थ्य (पृ० २७२); शिंखिर (पृ० ६६, १५८ दो बार); पीठीका (पृ० ६६)। मत् (राय के अर्थ में पृ० २३); प्रणाम् (पृ० २४४) और तात् (अनेक स्थलों पर) तो हलन्त के साथ परन्तु अलम (पृ० ४०); आशिप (पृ० ४२); परिपद (पृ० ७५ तीन बार, ७८, ७६) और स्वयम (पृ० ७१, १२१, १७६, १७६, १८०, १६७, २२४, २२६, २६२) आदि बिना हलन्त के प्रयुक्त हुए हैं—एक उद्धरण है—आत्मानं सततं रक्षयेत (रक्षेत्) दरैरपि (दारैरपि) धनैरपि (पृ० १११)।

'दिव्या' प्राचीनकाल का असुन्दर अयथार्थ चित्रण है। इस कारण यशपाल की जो वर्तमान को चित्रित करने की सहज प्रतिभा है वह भी इसमें नहीं मिलती। वास्तव में हम सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं जिन्हें जान लेना श्रेयस्कार ही नहीं नितान्त आवश्यक है। जितना ही शीघ्र साहित्यकार अपनी मेधा का प्राकृतिक मार्ग और अपनी सीमाएँ पहचान लेगा, सफलता उतना ही शीघ्र उसकी अनुयायिनी होगी। कवि, लेखक, कलाकार आदि सब-कुछ बन जाने की जो दुर्बलता है वह साहित्यकार को हानि ही नहीं पहुँचाती, उसकी प्रतिभा का सर्वथा अन्त भी कर डालती है। अनधिकार-चेष्टा से बचना चाहिए। यशपाल निश्चय ही इस ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में अनधिकारी हैं।

प्रतिभाशाली यशस्वी लेखक को आधार से गिरते ही देखकर उसे सावधान करने के लिए मुझे लिखना पड़ा वरना यशपाल का स्थान, हिन्दी में कहानी और उपन्यास दोनों ही क्षेत्रों में अगली पंक्ति में होगा। हमारी कामना है कि हमारे शोलेम ऐश[1] बनें।

---

१. प्रसिद्ध यहूदी उपन्यासकार —यिद्दिश में 'तीन नगर' का लेखक।

९

तीन उपन्यास

हिन्दी के हाल के लिखे तीन उपन्यास हमारे सामने हैं। तीनों जाने हुए लेखकों द्वारा लिखे और जाने हुए प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित। तीनों ही ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं और पिछले दोनों तो भारतीय सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष को आज के अत्यन्त निकट खींच लाते हैं। इनमें से अन्तिम तो पिछली मई तक की घटनाओं का उद्घाटन करता है। तीनों ही बड़ी सूझ और आस्था से लिखे गए हैं और तीनों की पकड़ समाज और उसकी राजनीति की गहरी और मज़बूत है। निःसन्देह तीनों का प्रायः एक साथ एक साल के भीतर, उसके उत्तरार्द्ध में ही, प्रकाशन अप्रत्याशित है। इनसे हिन्दी का गौरव बढ़ा है।

शतरंज के मोहरे—अमृतलाल नागर हास्य के सुमधुर लेखक हैं, मानवीय कहानियों और उपन्यासों के लिखने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। प्रस्तुत उपन्यास उनके कृतित्व में चार चाँद लगाता है और अपने मुखर सौंदर्य द्वारा उन्हें उपन्यास-लेखन के राजमार्ग पर आरूढ करता है। वस्तुतः शतरंज के मोहरे वह प्रतिज्ञा प्रस्तुत करता है जो आगे आनेवाली समानधर्मा रचनाओं की सूचक है। प्रस्तुत उपन्यास मधुर और मनोरंजक है, लेखक के व्यक्तित्व की ही भाँति मधुर और मनोरंजक।

अन्य दोनों उपन्यासों—'भूले विसरे चित्र' और 'सत्ती मैया का चौरा'—के विपरीत 'शतरंज के मोहरे' का आयाम छोटा है, प्रायः आधा, पर उन दोनों से इसका कथानक कहीं गठा हुआ है। दोनों के आवरणों के बीच की घटनाओं का दौर कुछ ज़्यादा नहीं, अधिक-से-अधिक दो पीढ़ियों के प्रायः मध्यकाल का है, पर घटनाओं की ताज़गी और तेज़ी आँखों के सामने निरन्तर चलते चित्र में फेंकती चली जाती है और दृश्यों का एक 'पैनोरमा' गुज़र जाता है। परिणामतः उपन्यास के पात्रों की संख्या भी प्रभूत है, सांकेतिक रूप से तो प्रायः अनन्त, अवध के नवाबी दरबार की ही भाँति अनेकशः विभिन्न, व्यक्ति-

बहुल चरित्रबहुल। अनेक बार तो लगता है कि पात्रों के अपने-अपने वर्ग हैं, उन वर्गों के अपने-अपने साँचे हैं, जिनमें अपनी-अपनी शख्सियत के साथ व्यक्ति ढलते चले गये हैं। फिर भी वर्गों के प्रधान पात्र उपन्यासकार के रूपायन द्वारा स्पष्ट उभरते चले गए हैं, और कहीं-कहीं तो उनका आकलन इतना मांसल, इतना वस्तुप्रधान, इतना एकांतिक हो उठा है कि वे कुशल कलावंत द्वारा कोरी मूरतों की तरह, परन्तु कार्यातुर और व्यग्र हो उठे हैं। शतरंज के मोहरों की ही तरह, और अब लगने लगता है कि उमर खैयाम की निम्नलिखित पंक्तियां (फिट्जेराल्ड द्वारा अनूदित) बस यहीं के लिए लिखी गई थीं—

'टिज़ ए चेकरबोर्ड ऑव नाइट्स् एण्ड डेज़,
व्हेयर डेस्टिनी विथ मेन फ़ॉर पीसेज़ प्लेज़,
हिदर एण्ड दिदर मूव्ज़, एण्ड मेट्स् एण्ड स्लेज़,
एण्ड वन बाई वन इन द क्लोसेट लेज़ !

उपन्यास की ज़बान में ग़ज़ब की रवानी, ग़ज़ब की चुस्ती है, ज़बान जो जीवित है, आमफ़हम, लखनऊ की रोज़मर्रा की। अवध की नवाबी की दरबारी दुनिया के सांकेतिक और लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग उपन्यास की भाषा में भरपूर हुआ है जिससे कथानक की पृष्ठभूमि खूब खुलकर भाव और भाषा के सही संयोग से आँखों पर छा जाती है। ज़माने की परिस्थिति को ज़माने की ज़बान ही व्यक्त करेगी, ऐसा कुछ नहीं, क्योंकि अगर अकबर के ज़माने के बाद, अकबरी दरबार की कैफ़ियत उसी की ज़बान में उपन्यास में रखी जाय तो शायद तुर्की में पात्रों को बोलना पड़े। फिर भी अवध की आज की ज़बान और नवाबों की ज़बान में कोई ख़ास फ़रक नहीं है और उसका मुनासिब उपयोग कथा में जान डाल देता है, वर्णन जैसे अनायास पक्षी के परों पर उड़ता चला जाता है।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और नासिरुद्दीन हैदर की नवाबी का ज़िक्र उपन्यास में खुलकर हुआ है। जहाँ तक मुझे मालूम है हरमसरा की साज़िशों का इतना सही और सफल निरूपण हिन्दी के उपन्यास में नहीं किया गया। पर्ल बक के सफल और प्रसिद्ध उपन्यास 'इंपीरियल वूमेन' का हरम जैसे अपने समूचे राज के साथ शतरंज के मोहरे की लखनवी हरमसरा में खुल पड़ा है। कुस्तुन-तुनिया के ख़लीफ़ाओं के तुर्की महलों में जिन साज़िशों के परिणामस्वरूप सुल्तान और ख़लीफ़ा सहसा बदल जाया करते थे उनका कुछ आभास लखनऊ के हरम की गतिविधि से पाठक को मिल जाता है। ऐतिहासिक तथ्य का इतना सजीव चित्रण अन्यत्र कम हुआ है। लगता है जैसे उस दरबार में, जिसकी चाबी वस्तुतः हरम की ख़वासों के पास है। जो निष्क्रिय है वह खड़ा नहीं रह सकता, सबको शतरंज के मोहरों की तरह चलते रहना पड़ता है, जो खड़ा

रहा वह मरा, जो प्रहार न कर सका वह मरा; जो सफल प्रहार कर सकता है, जो निरन्तर गतिमान रहता है वही जीता है, जी पाता है। किस प्रकार अवध के नवाबों की समूची राजनीति हरम के भीतर सँवरती थी, किस प्रकार वहाँ घात-प्रतिघात चलते थे और किस प्रकार हरम की बाँदियों को अपने मोहरे बना नवाब के दीवान और वज़ीर जुआ के दाँव खेलते थे, किस प्रकार जब-तक उन वजीरों को ही अपने मोहरे बना कम्पनी के गवर्नर-जनरल और रेज़ीडेन्ट बादशाह और उसकी बादशाहत को ज़िच कर देते थे, उपन्यास के परिवेश में पढ़िए।

'शतरंज के मोहरे' के कथानक में बड़ी गति है, उसकी ज़बान की ही भाँति। कथानक पात्रों के संचरण की धारा है और उस धारा में उनका सतत उत्थान-पतन, उन्नयन-विलयन होता रहता है। बाँदी आई, हरमसरा में दाखिल हुई, अपनी चाटुकारिता से बेगम की प्रियपात्र बनी, सौंदर्य से बादशाह को आकृष्ट किया और धीरे-धीरे उसकी प्रिया बन गई। यही कहानी है जो अवध के हरमों की कहानी है, इस उपन्यास की भी कहानी है। और वही बाँदी फिर जैसे-जैसे सूत्र खींचती है वैसे ही वैसे उस परिधि में घूमने वाली पुतलियों का संचरण होता है, वैसे ही वैसे घटनाएँ आकार पातीं और छीजती जाती हैं। अमीर उमरा, नाज़िर दीवान सभी हरम की ओर ही आँख लगाए रहते हैं, कान लगाए रहते हैं, और उनकी ज़बान वही भाषा बोलती है जो हरम के भीतर उठती हुई सत्ता के अनुकूल होती है।

'शतरंज के मोहरे' नवाबी ज़माने की एक झाँकी नज़र के सामने खोल जैसे आँखों से गुज़र जाता है, उसी गुज़री हुई दुनिया की तरह, यानी कि बस एक बड़ा मीठा-मीठा, अत्यन्त आकर्षक संसार दिलो-दिमाग़ पर छा जाता है। पर अगर सच पूछो तो कोई विशिष्ट पात्र अपनी पात्रता से हमें मुग्ध नहीं कर पाता, उसका स्थायी महत्त्व हमपर अपना चिरस्थायी प्रभाव नहीं डाल पाता। कारण कि उपन्यास में महान् पात्र नहीं है। बस एक पात्र की महनीयता की झलक ज़रूर दिग्विजयसिंह की आकृति में मिलती है, पर वह भी अन्य पात्रों की क्षुद्रता में खो जाता है और वह प्रतिज्ञा भी सहसा लुप्त हो जाती है। पर इसमें दोष कुछ उपन्यासकार का नहीं है। नवाबी दरबार की ज़िन्दगी, बादशाह तक की, हरम की ज़िन्दगी है, क्षण-क्षण जी जाने वाली ज़िन्दगी, कि जिसमें जितने क्षण इन्सान जी सका, उतना ही हासिल हुआ। क्षण बाद का जीवन है वह, और उसके विन्यास और वर्णन की सफलता उसकी अनिवार्य क्षणिकता को ही अभिव्यक्त कर देने में है।

उपन्यास की रोचकता असाधारण है। इस दृष्टि से और अपने सावधि संसार को प्रत्यक्ष कर देने में, उपन्यास अत्यन्त सफल हुआ है।

भूले बिसरे चित्र : भगवतीचरण वर्मा ने अनेक उपन्यास लिखे हैं, परन्तु सामाजिक सत्य के इतना निकट उनका दूसरा कोई उपन्यास नहीं आ सका। तीन-तीन पीढ़ियाँ, एक के बाद एक, एक से एक निकलती-उभरती आँखों के सामने चली आती हैं, पीढ़ियाँ जिनमें टूटते सामंत-युग की गिरती दीवारें हैं, भूत और भविष्य का अनिश्चित रहस्य है, जिसमें भावी की, चाहे हारी हुई संदिग्ध ही सही, सूचना है। सन् '५७ के ग़दर के बाद का टूटा हुआ जीवन, प्रायः अंग्रेजों द्वारा ही स्थापित, कांग्रेस की राष्ट्रीयता का सहारा पाता है, जब १८८५ में देशव्यापी संघर्ष करने वाली कांग्रेस की नींव रखी जाती है, और उपन्यास अदम्य गति से जनांदोलनों के उठते-गिरते पायों पर पग रखता १९३० तक चला आता है। समाज का प्रायः आधी सदी का राजनीतिक जीवन संघर्ष-गति से खुल चलता है। सही, आरम्भ सामंती समाज की परम्परा के ऊपर अवलंबित है जिसे पश्चिम का लोकतान्त्रिक न्याय मिला है यद्यपि यह समाज चरित्र की दुर्बलता के कारण उस लोकतान्त्रिक न्याय का लाभ उठा नहीं पाता, वस्तुतः उसे भी वह अपने राग और दुर्वृत्ति से कलुषित कर देता है। मुंशी शिवलाल उसी धरातल से उठते हैं, जिसपर गाँवों के पटवारी अदम्य साहस से असत्य का प्रतिपालन करते हैं, और जब उनके झूठ के साहस से अंग्रेज शासक पुलकित हो उठता है, जो अपने विधाता के औदार्य से आश्रितों का भाग्य निर्मित करता है, शिवलाल को उसके बेटे ज्वालाप्रसाद को नायब तहसीलदार बना रोमांच गद्‌गद् कर देता है। नयी पीढ़ी का ज्वालाप्रसाद नैतिकता की भूमि पर खड़ा हो स्वार्थ को पीछे रख परिवार का कष्ट झेलता है, और पारिवारिक ईहा अपने समूचे परिवेश के साथ खुल जाती है। चाचाओं, चचेरे भाइयों और उनकी पत्नियों का सम्मिलित परिवार कमाऊ बेटे के संयम के बाँध को किस प्रकार तोड़ दे सकता है, यह ज्वालाप्रसाद के जीवन से प्रकट है। किस प्रकार बहुएँ परम्परा के बोझ से निर्वैयक्तिक होती जाती हैं, किस प्रकार और किस हद तक सामाजिक आचार उनके जीवन में घुटन पैदा करता है, यह बड़े मंद विस्तार से उपन्यास के पहले तीन भागों में लेखक ने व्यक्त किया है। ताल्लुकदारों और ज़मींदारों का गैरज़िम्मेदार ऐशपसंद आपानकबहुल जीवन, निचले ओहदेदारों का ऊपरले पदाधिकारियों के प्रति श्वानवत् आचरण, इसके विपरीत निम्नवर्गीयों का उदार ज़िम्मेदार फ़र्मांबरदार जीवन सामाजिक ऊहापोह में अनेक रंग फेंकता जाता है, और तब सहसा देश में एक लहर दौड़ जाती है। वह लहर राजनीतिक आंदोलनों की है।

इन आंदोलनों के पहले कथा की धारा सामाजिक आयाम के अनुवर्ती ही विस्तृत होने के कारण धीरे बहती है, नितान्त मंद, पर जब दिल्ली का दरबार होता है और प्रायः उसके साथ ही सदी के नए दूसरे दशक का आरम्भ होता

है तब जैसे समाज को एक नई गति मिलती है, राजनीतिवर्ती गति। चौथे और पाँचवें भाग निःसंदेह उसी नई गति के कारण सहसा जानदार हो उठते हैं और कथानक तेज़ी से बढ़ चलता है। स्पष्टतः पिछले समाज और सावधि समाज में गुणतः अन्तर पड़ जाता है यद्यपि हम गतिवाही शक्तियों को प्रत्यक्ष देख नहीं पाते, उपन्यासकार मात्र उनकी ओर दबा अत्यन्त शिथिल संकेत करता है। पंजाब के रौलट ऐक्ट के शिकार बंगाल, स्वदेशी आंदोलन, वंगभंग आदि से प्रादुर्भूत तूफ़ान की अनेक लहरें तब देश के आकाश पर छा गई थीं। पूना और सूरत, सूरत और लखनऊ, लखनऊ और अमृतसर, अमृतसर और कलकत्ता, कलकत्ता और लाहौर तब विचल हो उठे थे, जब बाल, पाल, और लाल की त्रिमूर्ति भारतीय राजनीति की बागडोर थामे हुए व्यापक डग भर रही थी, जब ह्यूम द्वारा कृपया निर्मित कांग्रेस का शासन गोखले की मेधा सम्हाल रही थी, पर जब मांडले तक आज़ादी के दीवानों का बलिदान तप रहा था—उन सबका चित्रण इस 'भूले बिसरे चित्र' में नहीं मिलता, कम-से-कम खुलकर सामने नहीं आता।

विपरीत इसके दिल्ली दरबार का विस्तृत वर्णन मिलता है, यद्यपि उसमें भी बड़ौदा और मेवाड़ के आचरण प्रतिबिंबित किए जा सकते थे, निज़ाम और बीकानेर के राज खोले जा सकते थे। यह वही युग था जब काशी के साहित्यकारों का दल साथ लिये भारतेन्दु शक्तिम शब्दों में भारत की दुर्दशा को धिक्कार रहे थे, जब जहाँ-तहाँ बम फूट रहे थे और अनेकानेक युवक अंडमंड के कालेपानी की भूमिका देश में रच रहे थे। ज्वालाप्रसाद के बेटे गंगाप्रसाद में मुंशी शिवलाल के सामंती अरमानों की परिणति सम्भवतः प्रदर्शित है, यद्यपि दोनों के राग में कोई अन्तर नहीं। बल्कि जहाँ मुंशी शिवलाल में अपने बिखरे परिवार के प्रति गहरी सहानुभूति है, उसके लिए दुख सहने की प्रवृत्ति है, गंगाप्रसाद में व्यक्ति की वैयक्तिकता के प्रति गहरी सहानुभूति है, उसके लिए दुख सहने की प्रवृत्ति है। गंगाप्रसाद में वैयक्तिकता पारिवारिक औदार्य से हटकर व्यक्ति-केन्द्रित हो जाती है और संभवतः दोनों के बीच की पीढ़ी कड़ी बनकर ज्वाला-प्रसाद के नैतिक विश्वास का उपहास करती है। आश्चर्य है कि गंगाप्रसाद दादा से तीन पीढ़ी बाद होकर भी, पिता की नैतिक पृष्ठभूमि से उठकर भी, वस्तुतः समूह के प्रति उत्तरदायी नहीं हो पाता। जैसे दादा ने रखैल रखी वैसे ही वह तवायफ़ रखता है। संभवतः यह इसलिए कि टूटते हुए पारिवारिक बंधन से दूर हटते व्यक्ति पर मध्यवर्गीय तृष्णा हावी थी और उस तृष्णा की महत्त्वाकांक्षा को अंग्रेज़ सरकार बल देती थी। अंग्रेज़ी सत्ता का देशी पदाधिकारी अंग्रेज हाकिमों का मुखापेक्षी था, अपनी मान-मर्यादा के उन्नयन के लिए। गंगाप्रसाद, लाल रिपुदमनसिंह, दिल्ली-कलकत्ते के जौहरी श्रीकिशन—राधाकिशन सामाजिक

त्रिवर्ग के स्वरूप होते हुए भी जैसे एक ही सत्ता के शिकार हैं, अपने ओछे जीवन को जैसे-तैसे जी लेने वाले, और उसे जीकर उसी में इयत्ता की इति मानने वाले मकोड़े।

आश्चर्य होता है, श्रीकिशन और राधाकिशन की पत्नियों के चरित्र किस उद्देश्य से चित्रित किए गए। जौहरी-वर्ग में इस प्रकार के घिनौने व्यक्तित्व सम्भव हो सकते रहे हों, सम्भव है, आज भी हो सकते हैं, परन्तु उसका समूचा नारी-परिवार ही इस प्रकार घृणित हो सकता है यह स्वीकार करना कठिन है, चाहे वह परिवार १६१० का ही क्यों न हो। संतो और कैलासो का उपन्यास-गत आचरण सम्भावना की दृष्टि से समुचित नहीं जान पड़ता। रेल में संतो का गंगाप्रसाद के प्रति व्यवहार इतनी जल्दी रागात्मक रूप से खुल पड़ता है कि दैनंदिन जीवन में आज आधी सदी बाद भी उस प्रकार का आचरण कहीं दिखाई नहीं पड़ता। इन दोनों पात्रों के चरित्र को संभवतः धीरे-धीरे उभारने की आवश्यकता थी।

हाँ, उपन्यास में दो-तीन पात्र सचमुच समाज के बदलते हुए रूप के भी परिचायक हैं, भविष्य के प्रति आस्थावान, भविष्य के निर्माण के प्रति कर्मठ, ज्ञानप्रकाश और मलका के चरित्र, नवल और उसकी बहिन के, छिनकी और उसके बेटे भीखू का औदार्य अपने वर्ग से ऊपर उठकर मध्यवर्ग की घिनौनी नैतिकता का उपहास कर उठते हैं। ज्वालाप्रसाद और जयदेई निश्चय मध्य-वर्ग की आस्था के आंशिक रक्षक हैं, अपनी कमजोरियों के बावजूद।

उपन्यास लम्बा है, बहुत लम्बा, यद्यपि तीन पीढ़ी का आधी सदी का जीवन अभिव्यक्त करने वाला उपन्यास लम्बा होकर ही रहेगा। पर निःसंदेह विस्तार की खामियों से भी न बच सकेगा। परिणामस्वरूप 'भूले बिसरे चित्र' के कथानक की गठन में ढिलाई आ गई है, भाषा में भी चुस्ती नहीं आ पाई और जैसे-जैसे पाठक आगे की घटनाएँ पढ़ता जाता है पीछे की घटनाएँ वैसे-वैसे भूलती-बिसरती जाती हैं। फिर भी लेखक बधाई का पात्र है, समाज का औपन्यासिक इतिहास लिखकर उसने साहित्य को भरा-पूरा है। काश कि उसकी जबान में वह रवानी होती जो शतरंज के मोहरें की जबान में है!

सत्ती मैया का चौरा : उपन्यास चार भागों में समाप्त हुआ है, करीब साढ़े सात सौ पृष्ठों में, लम्बा है। 'भूले बिसरे चित्र' और 'सत्ती मैया का चौरा' हिन्दी के आकार में सबसे बड़े उपन्यासों में से हैं। इनसे बड़ा संभवतः केवल सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती' उपन्यास है। यशपाल का उपन्यास 'झूठा सच' संभवतः दो भागों में सम्पन्न हुआ है, इनसे बड़ा हो सकता है, पर मैंने उसे अभी देखा नहीं है। 'सत्ती मैया का चौरा' उपन्यास बड़ा है, पर उसका 'स्वीप' इतना बड़ा नहीं है। वस्तुतः परिमाण उसका छोटा ही है यद्यपि उसका दर्शन

उपन्यास के रूप में वृहद्दर्शक द्वारा होता है। उपन्यास का स्कोप बड़ा हो सकता है जैसे 'शेखर—एक जीवनी' का है, सोलम ऐश के 'थ्री सिटीज़' का है, जैसे, अनेक बार, 'साइकिल नावेलों' का हुआ करता है। पर साधारणतः उपन्यास समाज की लघु स्थिति को बड़ा करके देखता है, जिससे स्थिति की लघुता फैलकर अपने अन्तरंग को उद्‌घाटित कर देती है। भैरवप्रसाद गुप्त ने इसी दृष्टि से अपने उपन्यास 'सत्ती मैया का चौरा' का कलेवर रचा है। साधारण हल्के अपवादों को छोड़ विस्तृत उपन्यास की प्रायः समूची घटनाएँ एक छोटे-से गाँव में घटती हैं जहाँ पर तीन-तीन पीढ़ियाँ उठकर संघर्ष करती गुज़र जाती हैं। तीनों पीढ़ियाँ वैसे एक साथ सामने नहीं आतीं पर दो का विस्तार निश्चय खुलकर सामने आता है और विगत पहली पीढ़ी नए कौशल से तीसरी पीढ़ी के कथानक में ढालकर खोल दी जाती है।

विगत को इस प्रकार उद्‌घाटित करने का यह कौशल गुप्तजी का अपना है, उपन्यास में सर्वथा नया प्रयोग यह चित्रपट का है जहाँ विगत घटनाएँ दर्शकों के लाभ के लिए दृश्यों के माध्यम से उद्‌घाटित की जाती हैं। बड़े सिद्ध कौशल से उपन्यासकार ने उन घटनाओं का वर्तमान के कथानक में प्रक्षेपण किया है। साधारणतः यह प्रयोग शिथिल हो जाता पर जिस कलावंती कुशलता से उपन्यासकार ने कथानक के भीतर कथानक डालकर मृत को सजीव किया है उससे पाठक को कहीं शैथिल्य का बोध नहीं होता। इसका कारण विगत घटनाओं का स्वयं आकर्षक होना भी है, और यह आकर्षण उन घटनाओं के कर्मठ संघर्ष से प्रादुर्भूत होता है जिससे मृत जीवित हो उठता है। वस्तुतः विगत मृत हो ही नहीं पाता, उसका सिलसिला वर्तमान तक बने रहने के कारण घटनाओं की प्रवहमानता सजीव बनी रहती है।

गाँव के जीवन के ऊपर पहले भी हिन्दी में बड़े जीवन्त उपन्यास लिखे गए हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों के अतिरिक्त नागार्जुन के 'बलचनमा' और फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा' गाँव का ही जीवन व्यक्त करते हैं। रेणु ने तो उपन्यास के वास्तु-विन्यास और भाषा के उपयोग में एक नया मान, एक नया क्रैफ्ट ही प्रस्तुत कर दिया है। पर गुप्तजी का यह प्रयास भी ग्राम जीवन के संघर्षों का कुछ कम सफल चित्रण नहीं है। वहाँ के जीवन की पकड़ उपन्यासकार के लिए जैसे हस्तामलक हो गयी है और उसने उसे अनेक पहलुओं से उद्‌घाटित करने का सजीव प्रयत्न किया है। गाँव के महाजन और चतुर बैठकबाज, हिन्दू और मुसलमान, ज़मींदार और रैयत, कांग्रेसी और कम्युनिस्ट सभी उपन्यास की कथा में अपना भाग पाते हैं और भरपूर आस्था से लेखक उनके दैनंदिन के उपक्रम अधिकार के साथ अपने उपन्यास में प्रस्तुत करता है। किस प्रकार सत्ता के मद से मदा राजनीतिक

दल सत्य का गला घोंट सकता है, किस प्रकार सरकारी कर्मचारियों पर भय के माध्यम से अनैतिक प्रभाव डाल उन्हें ईमानदारी की राह से भ्रष्ट किया जा सकता है, किस प्रकार अपने दल की सत्ता बनाए रखने के लिए, निहित स्वार्थ को सँभाले रखने के लिए, आस्थावान सामाजिक व्यक्तियों की सात्त्विक सेवा के विरोध में सत्ता और धूर्तता का प्रतियोग खड़ा कर स्कूल तक बर्बाद किए जा सकते हैं, किस प्रकार अनेकधा अनैतिक जरियों से सत्य का हनन कर कर्मठ जीवन में कुंठा उपन्न की जा सकती है—इन सबका सविस्तर आकलन उपन्यासकार ने 'सती मैया के चौरा' में किया है।

चरित्र गाँव की अपनी लघु और घुटी दुनिया के वातावरण से ऊपर उठकर संत के औदार्य का आचरण करते हैं और छोटे वृत्त में ही जनक और याज्ञवल्क्य की ऊँचाइयाँ छू लेते हैं। बड़े मियाँ और बाबूसाहब, हीरा भगत और रहमान छोटे पैमाने पर महान् पात्र हैं। मुन्नी का अत्यन्त सुलझा हुआ स्वार्थ-विरत व्यक्तित्व है जो अनेक बार अपने प्रकाश से गाँव को आलोकित करता है। मन्ने का व्यक्तित्व निश्चय डाँवाडोल-सा है, अनिश्चित, स्थिति के अनुकूल अनेक बार अनैतिक भी यद्यपि उसका प्रारम्भ बड़ा है वैसे ही उनका परिणाम भी आशासंचारी है। उसका बसमतिया से सम्बन्ध अनावश्यक है और अगर मुनेसरी तथा बसमतिया का प्रसंग उपन्यास से निकाल दिया जाय तो उसके कथानक में या उपन्यास की गठन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। कैलसिया का चरित्र समर्थ और स्वस्थ होता हुआ भी अनोखा है, प्रायः असाधारण, इतना कि वह अस्वाभाविक-सा लगने लगता है। और उसके बड़े मियाँ से सम्बन्ध का राज तो कभी खुल ही नहीं पाता। जुगली मियाँ का परिष्कार जमाने की सचाई और परिस्थितियों की ईमानदारी के परिणाम का स्वरूप है। लगता है, जैसे कुधातु संयोग से आग में तपकर सोना हो गई हो। महशर, मन्ने की बीवी, साधारण गृहस्थ नारी है, अपनी इच्छाओं से कमजोर। पर उसका सम्बन्ध मुन्नी के साथ मुँह में एक अजीब स्वाद भर लाता है। समझ में नहीं आता गहरी रात के अँधियारे में, पोखरे के निर्जन में मुन्नी के साथ उसका एकान्तवास, मुन्नी के सीने पर उसका सिर रख देना, मुन्नी का उसकी पीठ सहलाने लगना, महशर का मुन्नी की उँगलियाँ अपने होठों पर रख लेना और इस बीच जब-तब आकर मन्ने का मुन्नी से बीड़ी माँग ले जाना, थोड़ी दूर पर अकेले बैठे उसे फूँकते जाना किस भाव को व्यक्त करता है, समझ में नहीं आता। न तो इस स्थिति की उपन्यास में ऐसी आवश्यकता थी और न उसके परिणाम-विशेष कोई स्वस्थ स्थिति ही प्रस्तुत की गई। इसके विपरीत संभावनाएँ दूसरी भी हो सकती थीं, कम-से-कम जिनका निराकरण कर देना उपन्यासकार ने मुनासिब नहीं समझा।

उपन्यास की भापा शक्तिमती है, भारी-भरकम भावों के वोध को उठाने में सर्वथा समर्थ। ग्रामीण शब्दों का भी अनेक वार अनेकधा वहुलता से प्रयोग हुआ है जो कुछ अजव नहीं पश्चिमी हिन्दी भापियों की समझ के लिए कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न करे। लोकभापा निःसंदेह भावों को वड़ी आसानी से अभिव्यक्त कर देती है, उसके अनेक शव्द स्थिति को स्पष्ट करने में वड़े समर्थ सिद्ध होते हैं, परन्तु उनका उपयोग वड़े संयम से होना चाहिए। इस प्रयोग का विशेप समारंभ 'रेणु' ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आँचल' में किया है, और लगता है वह परिपाटी चल जाएगी, चल गई है, पर रेणु की सफलता सवको न मिल सकी, वर्तमान उपन्यासकार को भी नहीं।

उपन्यास सफल है और जहाँ तक मुझे ज्ञात है इतने निकट तक सामाजिक-राजनीतिक जीवन को अभिव्यक्त करनेवाला उपन्यास हिन्दी में दूसरा नहीं लिखा गया है। उपन्यासकार वधाई का पात्र है।

१०

वोल्गा से गंगा

'वोल्गा से गंगा' श्री राहुलजी की अनेक कृतियों में से एक है और इसकी ख्याति भी खूब हुई है। राहुलजी विद्वान् हैं, बहुमुखी प्रतिभा के विचार से अत्यन्त कम संख्या ऐसों की होगी जो उनकी कोटि में गिने जा सकें, और उनके प्रारम्भिक अध्ययन की असुविधाओं का खयाल करके तो यह कहना ही पड़ेगा कि उस पृष्ठभूमि के साथ शायद वे अकेले हैं। प्रतिभाशाली विद्वान् होने के अतिरिक्त जो इससे भी बड़ी बात उनमें है वह है उनकी प्रगतिशीलता और क्रान्तितत्परता। सेवा की उनमें असाधारण लगन है और उसके लिए उनमें शक्ति और क्षमता भी है। इधर अनेक ग्रन्थ उन्होंने सेवाभाव और क्रान्ति के विचार से लिखे हैं। वे उनको लिखने के वास्तविक अधिकारी तो न थे, परन्तु चूँकि अधिकारी व्यक्तियों की अपनी दुर्बलता अथवा उदासीनता से उस ओर कलम न उठाने के कारण उन्होंने स्वयं उन्हें लिखा, जो कुछ आक्षेप उनके ऊपर हुए हैं वे भद्दे हैं।

किन्तु इसी कारण उनके ये ग्रन्थ अनधिकार-चेष्टा के ज्वलन्त प्रमाण भी बन गये हैं—इसे हमें स्वीकार करना होगा। डर यह होता है कि जिस गति से श्री राहुलजी आज चल रहे हैं उसी से यदि चलते रहे तो निःसन्देह उनके इस प्रकार के ग्रन्थों की संख्या इतनी बढ़ जायेगी कि उनके सत्प्रयत्न भी धुंधले हो जायेंगे। इसी विचार से मैं उनकी 'वोल्गा से गंगा' पर आज कुछ लिखने चला हूँ। यहाँ इतना लिख देना उचित होगा कि इस लेख का मन्तव्य इस संग्रह के ऐतिह्य पर प्रकाश डालना है। श्री राहुलजी स्वयं जानते हैं कि श्रद्धालु न होता हुआ भी मैं उन्हें किस आदर से देखता हूँ। वैसे बीस वर्षों का सम्बन्ध तो रहा ही है।

मेरे सामने 'वोल्गा से गंगा' का द्वितीय संस्करण है। प्रथम संस्करण के 'प्राक्कथन' में कहानीकार ने लिखा है—"मैंने हर एक काल के समाज को प्रामाणिक तौर से चित्रित करने की कोशिश की है, किन्तु ऐसे प्राथमिक प्रयत्न

में ग़लतियाँ होना स्वाभाविक है। यदि मेरे प्रयत्न ने आगे के लेखकों को, ज़्यादा शुद्ध चित्रण करने में सहायता की, तो मैं अपने को कृतकार्य समझूंगा।" मैंने जिस समय पहले-पहल इस प्राक्कथन को पढ़ा तो मुझमें प्रतिक्रिया की भावना जगी, परन्तु उसे अनुचित समझ मैंने दवा दिया और आज तीन वर्ष वाद सत्य के नाते कुछ लिखने बैठा। मुझे दुःख हुआ था उनके 'प्राक्कथन' के 'प्राथमिक-प्रयत्न' वक्तव्य पर। इस प्रकार पहला प्रयत्न श्री राहुलजी से लगभग तीन वर्ष पूर्व मैंने किया था। सन् १९३९ में मैंने अपनी 'मानव-तरंगिणी' का सूत्रपात किया जिसका पहला तरंग 'सवेरा'—मार्च १९४० में और क्रमशः दूसरा और तीसरा—'संघर्ष' और 'गर्जन'—मई १९४१ में सरस्वती-मन्दिर, जतनबर, काशी से प्रकाशित हुए। मैंने 'सवेरा' के अपने 'वक्तव्य' में लिखा—"लेखक का विचार भारतीय संस्कृति पर कहानियों की सीरिज़ लिखने का है। यह सीरिज़ दस भागों में समाप्त होगी। प्रस्तुत संग्रह उसका प्रथम भाग है जिसका काल मानव-जाति के शैशव से ऋग्वेद तक है···।" जनवरी सन् १९४२ में पुस्तक की समालोचना करते हुए 'माडर्न रिव्यू' ने लिखा—

"This is the first volume of a series of historical stories, which the author has planned out for the purpose of giving a picture of the civilization and culture of India from the pre-vedic times to the present day. The collection of ten tales, under review, centres round the social life in the country from its dim beginnings to the Rigvedic era. The first story, for instance, deals with the Matriarchal State in history; the second with the Patriarchal State, the third with the life of the pre-Aryan dwellers in the land, and so on. Each story is illuminated with poetic imagination which has made every vision of the past vivid, but is founded on historical fact. The happy blending of "fancy" and fact has enabled the writer to report about the events and influences of bygone days in the spirit and style of an eyewitness. 'Sabera' is a sociological study, in story form, of the dawn of human civilization As such, it and its successors in the series will render the reading of history 'without tears' possible for the Hindi knowing public. *To the knowledge of the reviewer, Shri Bhagwat Sharan has struck out a new path in the field of Hindi literature. The ground covered by him is virgin, but he has*

trodden it with the courage of a pioneer, eye of a poet, insight of a philosopher and heart of a lover of the evolving and aspiring man."

इस आलोचना को देखते हुए यह समझना कठिन है कि श्री राहुलजी ने अपने प्रयास को 'प्राथमिक' क्यों लिखा जब कि अपनी पुस्तक के प्रकाशित होने के लगभग दो वर्ष पूर्व वे स्वयं 'सवेरा' की सराहना कर चुके थे। यह तो उचित हो सकता था कि वे मेरी पुस्तकों को अनुचित और गलत कहते परन्तु उनका हवाला न देकर नितान्त चुप्पी साध लेना और तद्वत् अपने प्रयास को 'प्राथमिक' कहना अवश्य आज के वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण और शोध-अनुसन्धान की स्पिरिट के विरुद्ध है। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन-जिन ने 'वोल्गा से गंगा' की प्रशंसा तथा आलोचना की है प्रायः सभी ने उसे 'प्राथमिक प्रयास' कहा है। माधुरी के एक अङ्क में दो सज्जनों (श्रीवास्तव और गंगाप्रसाद मिश्र) ने मेरे 'सवेरा', 'संघर्ष' और श्री राहुलजी की 'वोल्गा से गंगा' पर एक-एक लेख लिखा। दोनों ने उनकी कृति को मेरी से पूर्व बताया। उन महानुभावों ने इतना भी कष्ट न किया कि दोनों संग्रहों पर छपी सन्-तिथियों को तो देख लें। वास्तव में इस 'प्राथमिक प्रयास' का व्यंग्य और भी चोट करता है जब तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'सवेरा' की पहली दो कहानियाँ 'वोल्गा से गंगा' में नये परिधान में लिपटी वर्तमान हैं। अस्तु।

अब 'वोल्गा से गंगा'। दूसरे संस्करण में परिशिष्ट के रूप में इस पुस्तक पर भदन्त आनन्द कौसल्यायन की एक प्रशंसा छपी है। भदन्तजी लिखते हैं—"मेरी आलोचना थी कि कई कहानियाँ 'कहानियाँ' कम और इतिहास अधिक हैं। सचमुच कुछ कहानियाँ मुझे ज्ञान के बोझ से दबी-सी लगीं—कहानी होनी चाहिए हल्की-फुल्की।...मुझे डर है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थ और उनके रचयिता ऋषि-महर्षि ही राहुलजी की गवाही दे रहे हैं—अरे! ठीक तो कहता है। 'सत्य से बढ़कर धर्म नहीं'।" भदन्तजी से मैं सहमत हूँ जहाँ तक उन्होंने इस पुस्तक के सम्बन्ध में कहानी-कला सम्बन्धी वक्तव्य किया है। परन्तु कहानियों के 'ज्ञान का बोझ' मुझे काफ़ी खटकता है। शब्दों की सत्यता उनमें हो सकती है पर यथार्थ रूप में, स्पिरिट में, कहाँ तक उनमें सत्यता है इसका हम नीचे विचार करेंगे। माना कि वे सब बातें थीं परन्तु उनको यथास्थान न रखकर उनकी पैरोडी कर देना सत्य की उपासना शायद ही कहीं समझी जाय। शरीर में नाक, आँखें, कान, हाथ सभी कुछ हैं पर लगा दीजिए नाक को नाभि पर, आँखों को घुटनों पर, कानों को हाथों पर, हाथों को पेट-पीठ पर और कहिए कि यथार्थ हैं वे शरीर के अंग। हैं शरीर के अंग वे निश्चय, परन्तु जहाँ उन्हें रखकर आप शरीर को शरीर कहते हैं, शरीर, जो कभी था, अब नहीं

रहा। भदन्तजी कहीं मुझे अतीतवादी न समझ बैठें इसका मुझे डर है। मैं अतीत-गौरव-गान का अनन्य विरोधी हूँ और वास्तव में तो मैं भारत के अतीत को गौरवशाली केवल अंशत: मानता हूँ। परन्तु सत्य का खोजी होने के नाते इतना अवश्य कहूँगा कि भारत का जो चित्र राहुलजी ने खींचा है वह ग़लत है। भारत बुरा शायद उससे कहीं अधिक रहा हो जितना उन्होंने उसको चित्रित किया है परन्तु जो चित्र उन्होंने खींचा है उसका रंग, रेखा-रेखा दूषित है, ग़लत।

पहले हम 'वोल्गा से गंगा' के ऐतिह्य पर ही विचार करेंगे। 'पुरुधान' और 'अंगिरा' नाम की पाँचवीं और छठी कहानियों में असुर जाति का वर्णन है। यह असुर जाति कौनसी है इसका निर्णय राहुलजी नहीं कर सके हैं। दो नितान्त विभिन्न जातियों को आपने मिलाकर एक कर दिया है, एक के शरीर पर दूसरे का वाना पहनाया है। इन दोनों जातियों में एक तो असीरिया के असुर हैं, दूसरे सिन्धु-काँठे में वसने वाले द्रविड़। इन दोनों के शरीर और चरित्र, संस्कृति और निवास-स्थान की ऐसी खिचड़ी की गई है कि पुरातत्ववेत्ता को भी उनको यथास्थान करने में साधारण कठिनाई न होगी। स्वात और कुभा (कावुल) नदियों के संगम पर असुर नगर बसे हुए हैं। उनके नगर सुन्दर हैं। 'उनमें पक्की ईंटों के मकान, पानी बहने की मोरियाँ, स्नानागार, सड़कें, तालाब आदि होते थे (पृष्ठ ७६)।···एक परिवार के रहने लायक घर को ही लीजिए। इसमें सजे हुए एक या दो बैठकखाने, धूमनेत्रक (चिमनी) के साथ अलग रसोईघर, आँगन में ईंट का कुआँ, स्नानागार, शयनागार, कोष्ठागार। साधारण वनियों के घरों को मैंने दो-दो, तीन-तीन तल के देखे हैं।

trodden it with the courage of a pioneer, eye of a poet, insight of a philosopher and heart of a lover of the evolving and aspiring man."

इस आलोचना को देखते हुए यह समझना कठिन है कि श्री राहुलजी ने अपने प्रयास को 'प्राथमिक' क्यों लिखा जब कि अपनी पुस्तक के प्रकाशित होने के लगभग दो वर्ष पूर्व वे स्वयं 'सवेरा' की सराहना कर चुके थे। यह तो उचित हो सकता था कि वे मेरी पुस्तकों को अनुचित और ग़लत कहते परन्तु उनका हवाला न देकर नितान्त चुप्पी साध लेना और तद्वत् अपने प्रयास को 'प्राथमिक' कहना अवश्य आज के वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण और शोध-अनुसन्धान की स्पिरिट के विरुद्ध है। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन-जिन ने 'वोलगा से गंगा' की प्रशंसा तथा आलोचना की है प्रायः सभी ने उसे 'प्राथमिक प्रयास' कहा है। माधुरी के एक अङ्क में दो सज्जनों (श्रीवास्तव और गंगाप्रसाद मिश्र) ने मेरे 'सवेरा', 'संघर्ष' और श्री राहुलजी की 'वोलगा से गंगा' पर एक-एक लेख लिखा। दोनों ने उनकी कृति को मेरी से पूर्व बताया। उन महानुभावों ने इतना भी कष्ट न किया कि दोनों संग्रहों पर छपी सन्-तिथियों को तो देख लें। वास्तव में इस 'प्राथमिक प्रयास' का व्यंग्य और भी चोट करता है जब तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'सवेरा' की पहली दो कहानियाँ 'वोलगा से गंगा' में नये परिधान में लिपटी वर्तमान हैं। अस्तु।

अब 'वोलगा से गंगा'। दूसरे संस्करण में परिशिष्ट के रूप में इस पुस्तक पर भदन्त आनन्द कौसल्यायन की एक प्रशंसा छपी है। भदन्तजी लिखते हैं—"मेरी आलोचना थी कि कई कहानियाँ 'कहानियाँ' कम और इतिहास अधिक हैं। सचमुच कुछ कहानियाँ मुझे ज्ञान के बोझ से दबी-सी लगीं—कहानी होनी चाहिए हल्की-फुल्की।···मुझे डर है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थ और उनके रचयिता ऋषि-महर्षि ही राहुलजी की गवाही दे रहे हैं—अरे! ठीक तो कहता है। 'सत्य से बढ़कर धर्म नहीं'।" भदन्तजी से मैं सहमत हूँ जहाँ तक उन्होंने इस पुस्तक के सम्बन्ध में कहानी-कला सम्बन्धी वक्तव्य किया है। परन्तु कहानियों के 'ज्ञान का बोझ' मुझे काफ़ी खटकता है। शब्दों की सत्यता उनमें हो सकती है पर यथार्थ रूप में, स्पिरिट में, कहाँ तक उनमें सत्यता है इसका हम नीचे विचार करेंगे। माना कि वे सब बातें थीं परन्तु उनको यथास्थान न रखकर उनकी पैरोडी कर देना सत्य की उपासना शायद ही कहीं समझी जाय। शरीर में नाक, आँखें, कान, हाथ सभी कुछ हैं पर लगा दीजिए नाक को नाभि पर, आँखों को घुटनों पर, कानों को हाथों पर, हाथों को पेट-पीठ पर और कहिए कि यथार्थ हैं वे शरीर के अंग। हैं शरीर के अंग वे निश्चय, परन्तु जहाँ उन्हें रखकर आप शरीर को शरीर कहते हैं, शरीर, जो कभी था, अब नहीं

रहा। भदन्तजी कहीं मुझे अतीतवादी न समझ बैठें इसका मुझे डर है। मैं अतीत-गौरव-गान का अनन्य विरोधी हूँ और वास्तव में तो मैं भारत के अतीत को गौरवशाली केवल अंशतः मानता हूँ। परन्तु सत्य का खोजी होने के नाते इतना अवश्य कहूँगा कि भारत का जो चित्र राहुलजी ने खींचा है वह ग़लत है। भारत बुरा शायद उससे कहीं अधिक रहा हो जितना उन्होंने उसको चित्रित किया है परन्तु जो चित्र उन्होंने खींचा है उसका रंग, रेखा-रेखा दूषित है, ग़लत।

पहले हम 'वोल्गा से गंगा' के ऐतिह्य पर ही विचार करेंगे। 'पुरुधान' और 'अंगिरा' नाम की पाँचवीं और छठी कहानियों में असुर जाति का वर्णन है। यह असुर जाति कौनसी है इसका निर्णय राहुलजी नहीं कर सके हैं। दो नितान्त विभिन्न जातियों को आपने मिलाकर एक कर दिया है, एक के शरीर पर दूसरे का वाना पहनाया है। इन दोनों जातियों में एक तो असीरिया के असुर हैं, दूसरे सिन्धु-काँठे में वसने वाले द्रविड़। इन दोनों के शरीर और चरित्र, संस्कृति और निवास-स्थान की ऐसी खिचड़ी की गई है कि पुरातत्ववेत्ता को भी उनको यथास्थान करने में साधारण कठिनाई न होगी। स्वात और कुभा (काबुल) नदियों के संगम पर असुर नगर वसे हुए हैं। उनके नगर सुन्दर हैं। 'उनमें पक्की ईटों के मकान, पानी बहने की मोरियाँ, स्नानागार, सड़कें, तालाब आदि होते थे (पृष्ठ ७६)।...एक परिवार के रहने लायक घर को ही लीजिए। इसमें सजे हुए एक या दो बैठकखाने, धूमनेत्रक (चिमनी) के साथ अलग रसोईघर, आँगन में ईट का कुआँ, स्नानागार, शयनागार, कोष्ठागार। साधारण वनियों के घरों को मैंने दो-दो, तीन-तीन तल के देखे हैं। क्या बखान करूँ, असुरपुर की उपमा मैं सिर्फ़ देवपुर से ही दे सकता हूँ (पृ० ८५)।' निःसंदेह निर्देश मन्टगुमरी (पंजाब) ज़िले के हड़प्पा, लरकाना (सिन्ध) ज़िले के मोहनजोदड़ो और कलात (बलोचिस्तान) के नाल आदि स्थानों की प्राचीन द्राविड़ सभ्यता के प्रति है। ये 'असुर आम तौर से कद में छोटे होते हैं (पृ० ८३)।...लोग नाटे-नाटे होते हैं, रंग ताँवे-जैसा। बड़े कुरूप। नाक तो मालूम होता है, है ही नहीं—बहुत चिपटी-चिपटी, भोंड़ी-भोंड़ी' (पृ० ७१)। 'वे कपास की रूई का कता-बुना कपड़ा पहनते हैं (पृ० ७१, ६३)। शिश्न और उपस्थ को पूजते हैं (पृ० ८४, ८७, ६३), शक्ति, गदा धारण करते हैं (पृ० ८७)।'

यह चित्र सैन्धव सभ्यता का है परन्तु जो चित्र आपने उनका अन्य सम्बन्ध में खींचा है वह उनका नहीं हो सकता। असुरों को आपने हज़ारों दास-दासी रखने और ख़रीदने-वेचने वाला कहा है (पृ० ७२, ७७, ८०, ८६)। इसी प्रकार उनमें वेश्या-प्रथा का प्रचार (पृ० ७७), उनके राजा का देवतुल्य और

निरंकुश शासक (पृ० ७७, ८४, ८६, ६४) तथा पुरोहित का दुर्विनीत और लोलुप होना (पृ० ८७, ८८, ६४) आदि कहा गया है। उनके चिकित्सा में दक्ष होने की बात (पृ० ६२) भी साधारणतया स्वीकृत कर ली गई है। राजा और पुरोहित का तो आर्यों में भी उन्हीं से आना कहा गया है। सारी सैन्धव सभ्यता में सिवा एक नर्तकी की मूर्ति के अन्य कोई प्रमाण इस सम्बन्ध में नहीं मिलता। और वह स्वयं इस बात को कभी सिद्ध नहीं करता कि असुरों में वेश्या का प्रचार था (बाबुलियों में था असुरों में नहीं था)। नर्तकी को वेश्या नहीं कहा जा सकता। वैसे तो स्वयं ऋग्वेद में 'स्तनों को खोले हुए नर्तकी (अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव वर्जहम्। १, ६२, ४) का ज़िक्र है परन्तु इससे आर्यों में वेश्या प्रथा का होना तो नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों में राज-प्रथा पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी जैसा राजाओं की अनेक पीढ़ियों से ज्ञात है। हरिश्चन्द्र, स्वनय-भाव्य, वध्र्यश्व, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, दिवोदास, सुदास, रथवीति आदि पारम्परिक राजशृंखला प्रस्तुत करते हैं जिनमें से कुछ तो ऋग्वैदिक-काल में भी अत्यन्त प्राचीन कहलाये। यही बात ऋग्वेद के पुरोहित-वर्ग के विषय में भी कही जा सकती है। प्राचीन से प्राचीन काल में भी आर्यों में पुरोहिताई मौजूद थी। सारे ऋग्वेद के ऋषि पुरोहित हैं, वे चाहे ब्राह्मण रहे हों या नहीं। यह स्वीकार किया जा सकता है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ग अधिकतर ऋग्वेद के पिछले अर्थात् अपेक्षाकृत आधुनिक मन्त्रकाल में बने परन्तु पुरोहित, जो दोनों वर्गों के होते आये थे (क्षत्रिय भी जैसे विश्वामित्र और देवापि), तो प्राथमिक वेद के प्राचीनतम मंत्रकाल में भी थे। भरद्वाज आदि सारे ऋग्वेदकार 'मंत्रद्रष्टा ऋषि' हैं और उस वेद का धर्म सिवा यज्ञपरक होने के और कुछ नहीं है। यज्ञों में पुरोहित का होना अनिवार्य है, इससे उसका आर्यों में असुरों (सैन्धव द्रविड़ों) से आना नितान्त असत्य है। इसके विरुद्ध राजा, पुरोहित, वेश्या, दास-दासी, चिकित्सा आदि का कहीं भी सैन्धव पुरातत्व के स्तरों में संकेत तक नहीं मिलता। विद्वान् लेखक से यह भद्दी भूल क्योंकर हो गयी यह आसानी से बताया जा सकता है। जिन ऊपर निर्दिष्ट बातों का सैन्धव-सभ्यता में अभाव दिखाया गया है वे असुर-जाति में मिलती हैं और पूर्णतया, परन्तु वह असुर-जाति भारतीय नहीं इराकी है! यदि डा० वूली द्वारा प्राचीन असीरिया की खोद निकाली सभ्यता का ब्योरा श्री राहुलजी ने पढ़ा होता तो निस्सन्देह वे ऐसी ग़लती न करते। वूली ने मध्य-पूर्व की अपनी अद्भुत खुदाई का विवरण अनेक ग्रंथों में प्रकाशित किया है। असुरों के सुविस्तृत नगर 'अशुर' और उनके प्रमुख देवता 'अशुर' का जो हवाला इस खुदाई में मिला है उसने एक अपूर्व देश खड़ा कर दिया है। राजाओं की अनेक परम्परा, पुस्तकालय के

पुस्तकालय पट्टियों पर खुदे हुए मिले हैं जिनसे असुरों का वहाँ होना सिद्ध हो गया है। चूँकि उनकी जीवित सभ्यता के वीच से होकर आर्य लोग भारत आये थे, उनका उनसे संघर्ष होना अनिवार्य था। परन्तु उनकी शक्ति की छाप जो आर्यों की पीठ पर लगी उससे वे इनकार नहीं कर सकते थे। इसी कारण उनके मरणान्तक शत्रु होते हुए भी उन्होंने उनके पराक्रम की सराहना की। यहाँ तक कि अपने देवता वरुण का विशेषण तक उन्होंने 'असुर' शब्द से वनाया। ऋग्वेद के प्राचीनतम ग्यारह मन्त्रों में आर्यों के उस प्राचीनतम देवराज वरुण का जहाँ-जहाँ निर्देश हुआ है वहाँ-वहाँ वह 'असुर' अथवा 'असुर महान्' ('अहूरमज़्द') शब्द से विशिष्ट किया गया है। जादू तो वह जो सिर पर चढ़कर वोले। असुरों की शक्ति की छाप इतनी गहरी आर्यों पर लगी थी कि पराक्रम के वे प्रतीक हो गये और भारत में भी जब-जब उनका शक्तिपूर्ण मुक़ावला हुआ, अपने शत्रुओं को उन्होंने 'असुर' संज्ञा प्रदान की। परन्तु इससे सैन्धव-सभ्यता के द्रविड़ों को असुर कहना इतिहास को उलट देना होगा। श्री राहुलजी की इसी भूल ने उन्हें अज्ञान के गर्त में धकेल दिया है जिससे उन्हें असुरों की दशा का भ्रम हो गया है। इस भ्रम में उन्होंने असुरों के सारे कृत्य, सारे आचार-विचार द्रविड़ों को दे दिये हैं और इतिहास का गला घुट गया है। अरमनी (अरमीनिया) से मिस्र तक, दानूव में वलख़ तक की समस्त भूमि पर वावुलियों के वाद असुरों का साम्राज्य फैला था जिसकी समय-समय पर कालक्रम से तीन-तीन राजधानियाँ—असुर, कला और निनेवे—वनीं। इनकी खुदाइयों से सहस्रों प्रशस्तियाँ और अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

सारे पुरातत्वपरक प्रमाणों के विरुद्ध सिन्धुतट की इस द्रविड़-सभ्यता को श्री राहुलजी ने असूरी तो माना ही, उसको ही दास-दासी-प्रथा का प्रवर्तक भी मान लिया। ऊपर कहा जा चुका है कि दास-दासियों के सम्वन्ध में सैन्धव सभ्यता में कोई चिन्ह नहीं मिलता, उलटे ऋग्वेद में उनकी संख्या का अन्त नहीं था। राजा पुरोहितों को रथ भर-भरकर दास-दासी दान करते हैं (ऋग्वेद, १, १२६, ३; ५, ४७, ६; २७, ८; ८, १६, ३६; ८, ३६, १७)। ऐसी हालत में सैन्धवों का आर्यों को दास-प्रथा सिखाने की वात कहना कितना भ्रमपूर्ण है।

एक और वड़ा दोष इस असुर-पहेली के सम्वन्ध में श्री राहुलजी ने ला खड़ा किया है। वे इस सैन्धव (असुर) सभ्यता को आर्यों का समकालीन मानते हैं, साथ ही उस सभ्यता का आर्यों द्वारा विध्वंस ही 'पुरुधान' और 'अंगिरा' नामक दोनों कहानियों का विषय है। इस समकालीनता को स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। यदि आर्यों ने सैन्धव सभ्यता नष्ट की तो अवश्य

यह संघर्ष आर्यों के आगमन के आरम्भ में ही हुआ होगा और उसके भग्नावशेष पर ही उन्होंने अपने गाँव के बल्ले गाड़े होंगे। अर्थात् उस हालत में सैन्धव सभ्यता का केवल अन्तिम स्तर आर्य सभ्यता के प्रारंभिक स्तर का समकालीन हो सकेगा। परन्तु ऐसा न मानने में श्री राहुलजी की एक भूल और सामने आ जाती है। आपने इन दोनों कहानियों का घटना-काल क्रमशः २००० ई० पू० और १८०० ई० पू० माना है। इस गणना से आर्यों का प्रथमागमन लगभग २००० ई० पू० के हुआ। परन्तु विद्वानों (सर जान मार्शल, मैके, दीक्षित, वत्स आदि) के अनुसार सैन्धव सभ्यता का जीवनकाल ३२५० ई० पू० से २७५० ई० पू० तक है। इस प्रकार आर्यों के भारत में आगमन से लगभग ७५० वर्ष पूर्व ही सैन्धव सभ्यता नष्ट हो चुकी थी, शायद किसी अन्य शक्ति द्वारा। फिर तो कालगणना के दोष से इन कहानियों का संघर्ष-विषय ही दूषित हो गया।

एक सिद्धान्त है कि आर्यों का इन्द्र कभी प्राचीन काल में मानव रहा होगा। परन्तु जो इस सिद्धान्त को मानते हैं उनका कहना है कि इस प्रकार मानव के देवत्व प्राप्त करने में एक समय-माप होता है जिसका विस्तार प्रचुर होना चाहिए। जब उस मानव की मृत्यु के बाद इतना समय बीता जाता है कि उसके महान् कर्म मानवेतर समझे जाने लगें तब उसके नाम को रहस्यमय प्रभामण्डल ढक लेता है और वह देवतुल्य जान पड़ने लगता है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह मानव अनुपम हो। यदि उसके-से अन्य भी हुए तब उसकी अनुपमेयता नष्ट हो जायगी और वह अमानव नहीं हो सकेगा। श्री राहुलजी के इन्द्र मानव हैं (पृ० ६६, ७४, ८१, ८२, ८३, ८४, ९४), नये और पुराने हैं (पृ० ७४)। ऐसा 'इन्द्र जन द्वारा चुना एक बड़ा योद्धा मात्र' है (पृ० ९४) जो आरम्भ में युद्ध चलाने के लिए सेनापति चुना जाकर इन्द्र की उपाधि पाता है (पृ० ६६) और जिसका पद बनाया और तोड़ा जा सकता है (पृ० ८३)। फिर भी आश्चर्य है, किस प्रकार ऐसे इन्द्र को दैवी-महिमा (पृ०८२) प्राप्त हो जाती है और 'किसान इन्द्र की, पानी बरसाने के लिये प्रार्थना पर प्रार्थना करते हैं' (पृ० ८१)। यदि सचमुच ही मानव-इन्द्रों की परम्परा है तो क्या वे देवता की भाँति पूजे जा सकते हैं? कांग्रेस के प्रेसिडेंट, जिनकी एक परम्परा है, इन इन्द्र से मिलते-जुलते हैं। किन्तु क्या वे पूजे जाते हैं, पूजे जा सकते हैं? आदर के भाव देव-पूजा से भिन्न होते हैं। फिर इन इन्द्रों की, कम-से-कम इन कहानियों में, प्राचीनता भी तो सिद्ध नहीं होती। वे तो कहानीकाल में पारस्परिक होते हुए भी मानव और इन्द्र दोनों हैं। दोनों कहानियों 'पुरुधान' और 'अंगिरा' में अन्तर केवल २०० वर्षों का है। फिर क्या यह काल इन्द्र को देवत्व प्रदान करने के लिए काफ़ी है? फिर ऋग्वेद के सारे स्तरों—

प्राचीनतम और निकटतम—में इन्द्र देवता की भाँति व्यवहृत हुआ है। यदि इन्द्र को मानव मान भी लें तो यह आवश्यक है कि वह देवता मानने वालों के संपर्क में मानव (अर्थात् उनके-से रूप में न आये। उसकी केवल धुंधली स्मृति-सी रहे। इससे इन कहानियों में इन्द्र का यह रूप ऐतिहासिक कल्पना के विरुद्ध है और कालविरुद्धदूपण का एक उदाहरण उपस्थित करता है।

श्री राहुलजी के लेखों में 'गोमांस' अथवा गोवत्स के मांस' का प्रचुर उल्लेख रहता है। सीधे-उल्टे किसी-न-किसी द्वार से यह उनमें प्रविष्ट हो ही जाता है। वास्तव में गोमांस खाने या न खाने दोनों ही में कुछ विशेपता नहीं है। साधारणतया गोमांस ऐसा सस्ता और ज़ायके के ख़याल से नगण्य है कि अच्छा खाने वाला उसकी कामना नहीं करता। और गोश्त गोश्त में ज़ायके अथवा जानवर की उपादेयता के ख़याल से अन्तर हो ही जाता है। आर्य लोग भारत में आने से पूर्व यदि खेती करते थे तो संभवतः यूरोपीयों की भाँति घोड़ों से। अधिक संभव तो यह है कि उन्होंने खेती यहीं सीखी, सैन्धवों के सम्पर्क से, यद्यपि यह बात ज़ोर देकर नहीं कही जा सकती, क्योंकि कृपिकर्म प्रारम्भिक रूप से उत्तर-पापाण-काल में ही शुरू हो गया था। सैन्धवों में घोड़ों का नहीं, वैलों और सांडों का प्रयोग होता था। संभव है, आर्यों ने भी यहाँ आकर कृपि में इनका ही प्रयोग आरम्भ कर दिया हो। उस हालत में गोधन के लिए विशेष अनुराग अनुचित न रहा होगा। वैसे वे अवश्य गोमांस और गोवत्स-मांस खाते थे, मोटे-किए वछड़ों को अतिथि के लिए मारते थे। परन्तु जैसे-जैसे कृषि की प्रधानता वढ़ी, गोधन भी उनके लिए विशिष्ट होता गया। उन्होंने गाय को 'अघ्न्या' माना और उसकी 'अदिति' से उपमा दे उसकी हत्या रोकी (ऋग्वेद—माता वसूनां स्वसादित्यानां···मा गां अनागां अदितिं वधिष्ठ) जैसे-जैसे आर्यों के कृषि-क्षेत्र का विस्तार हुआ, गाय के प्रति उनकी श्रद्धा भी वढ़ी। गुप्तकाल में सुपर्ण का गोमांस के लिए रोना भयंकर पेटूपन का उदाहरण है। उसका हाल कहानी के उस कौए का है जो स्वर्ग में भी अखाद्य ढूंढता है। एक से एक स्वादिष्ट मांस के रहते नगण्य गोमांस के लिए 'रकटना' निश्चय अद्भुत भूख-मनोवृत्ति का परिचायक है।

श्री राहुलजी अन्य ऐतिहासिकों की ही भाँति प्राचीन आर्यों में वर्ण-व्यवस्था नहीं मानते। 'अंगिरा' के वाद वाली (तीन सौ वर्ष वाद) 'सुदास' कहानी में वे कहते हैं—'किन्तु, क्या जाने, आगे चलकर क्षत्रिय, ब्राह्मण दो अलग वल, दो श्रेणियाँ, वन जायँ' (पृष्ठ ११४)। और यहाँ भी आगे वन जाने का डर है। अर्थात् १५०० ई० पू० या, यदि आगे की भावना को दृष्टि में रखते समय माप सकें तो, १२०० ई० पू० के लगभग वर्ण-व्यवस्था वनी अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय पृथक् हुए। फिर आप इस काल से लगभग ६००

पूर्व के कथानक 'अंगिरा' (१८०० ई० पू०) में 'वर्णसंकरता' (पृ० ६३) का उल्लेख क्यों करते हैं, यह समझ में नहीं आता। 'तक्षशिला के गणराज्य' की बात 'नागदत्त' में कही गयी है। गन्धार अंगुत्तरनिकाय के 'षोडश महाजनपदों' में राजतन्त्र माना गया है। बाद में भी सिकन्दर के आक्रमण के समय (३२६ ई० पू०) तक्षशिला राजतन्त्र है जहाँ की पारंपरिक राजशृंखला का ग्रीक और रोमक ऐतिहासिकों ने उल्लेख किया है। उनके अनुसार तक्षशिला के राजा उस काल में तक्षशील और उसके बाद उसका पुत्र, अम्भी हुए।

'ग्यारहवीं कहानी 'प्रभा' ने कहानी के रूप में अच्छी ख्याति पायी है' (परिशिष्ट, पृ० ३८५-भदन्त कौसल्यायन)। जरा इसका खुलासा सुनिए। कहानी के आरम्भ के दो पृष्ठों में १८५ ई० पू० से प्रथम शती ईस्वी तक का एक विवरण दिया गया है। यह किधर से 'प्रभा' कहानी का भाग हो सकता है समझ में नहीं आता। यह भाग नीरस तो है ही (यद्यपि नीरसता का उल्लेख शायद ही उचित समझा जाय क्योंकि उस दृष्टि से देखने से पुस्तक-भर में कदाचित् ही कोई सरस स्थल मिल सके) इसकी सार्थकता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। इसे तो कहानी की प्रस्तावना के रूप में देना था। फिर भी इसके ऐतिह्य पर क्षण भर दृष्टिपात करें। एक वक्तव्य इस प्रकार है—'वाल्मीकि ने अयोध्या नाम का प्रचार किया; जब उन्होंने अपनी रामायण को पुष्यमित्र या उसके शुंगवंश के शासनकाल में लिखा। इसमें तो शक ही नहीं कि अश्वघोष ने वाल्मीकि के मधुर काव्य का रसास्वादन किया था। कोई ताज्जुब नहीं, यदि वाल्मीकि शुंगवंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के थे, और शुंगवंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुंग-सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की—वैसे ही, जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमारसम्भव' के नाम से 'पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की।' इस वक्तव्य की असाहित्यिक शुष्कता पर बगैर विचार किये मैं सीधा इसके ऐतिह्य पर आता हूँ।

यह तो कहा जा सकता है, कहा गया है, कि रामायण शुंग-काल में समाप्त की गयी अथवा लिखी गयी, परन्तु यह कहना कि वाल्मीकि ने इस रामायण को शुंग-काल में लिखा, ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त अशुद्ध होगा। ऐसा कहने का तात्पर्य होगा कि वाल्मीकि शुंगकालीन थे। यह गलत होगा उसी प्रकार जैसे कोई शुंगकालीन 'मनुस्मृति' को तत्कालीन कहकर भी मनु को तत्सामयिक नहीं कह सकता। इन दोनों बातों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है जिसे वैज्ञानिक इतिहासकार पूर्णतया समझता है। वाल्मीकि राम के समकालीन थे, राम चाहे

जब हुए हों—संभवतः १९वीं सदी ई० पू० में या कुछ बाद, जब ऋग्वेद के निर्माण का मध्यकाल था। परन्तु रामायण की भाषा काव्यकालीन, 'क्लासिकल' होने के कारण ऋग्वेद-कालीन तो नहीं हो सकती ? उसी प्रकार जैसे काव्य-कालीन 'मनुस्मृति' उस मनु की नहीं हो सकती जो ऐक्ष्वाकुओं के आदि पुरुष थे। वाल्मीकि उस प्रवन्ध-कथानक के आदि कर्त्ता थे परन्तु रामायण-काव्य का रचयिता शुंगकालीन कोई और व्यक्ति था जिसने उस काव्य की प्राचीनता, प्रामाणिकता अथवा पावनता घोषित करने के लिए उसे 'वाल्मीकीय' कहा। इसी प्रकार मानव-पद्धति को लिपिवद्ध कर उसे प्रचारित करने के कारण ही शुंगकालीन 'मनुस्मृति' की ऐसी संज्ञा हुई। इससे मनु के वाल्मीकि की भाँति शुंग राजाओं के दरवारी होने की वात नहीं कही जा सकती। उस पद्धति को 'इति मनुः' कहने की परिपाटी मनु की समसामयिकता नहीं केवल उस नाम से सम्वद्ध काव्यवद्ध 'स्मृति' की तत्कालीनता सिद्ध करती है। वाल्मीकि को 'शुंगवंश का आश्रित कवि' कहना इतिहास की वैज्ञानिक सूक्ष्मता का वलिदान कर देना है। फिर इस वक्तव्य में श्री राहुलजी ने जो कालिदास को चन्द्रगुप्त और कुमारगुप्त की समकालीनता से वाल्मीकि की शुंगकालीनता की उपमा दी है वह 'अन्योन्याश्रयदोष' का एक ज्वलन्त उदाहरण है। मैं स्वयं कवि कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त का समकालीन मानता हूँ। हिन्दी-अंग्रेज़ी में इस समकालीनता को प्रतिष्ठित करने में शायद मैंने ही सवसे अधिक समय और स्याही व्यय की है परन्तु प्रमाणों और मनोवृत्ति दोनों से उस महाकवि को गुप्तकालीन मानकर भी मुझे मानना पड़ा है कि यह "रघुवंश के रघु और 'कुमारसंभव' के कुमार" की ध्वनि पर उनकी समकालीनता स्थापित करने वाला प्रमाण अत्यन्त दुर्वल है। अन्य अनेक और प्रवल प्रमाण इस निष्कर्ष को शक्ति प्रदान करते हैं परन्तु यह ध्वन्यात्मक प्रमाण स्वयं अपने-आप कोई पक्ष निर्धारित नहीं करता। इससे इस तुलना से वाल्मीकि की शुंगकालीन व्याख्या अत्यन्त कमज़ोर पड़ जाती है। फिर जव आप जातकों (दशरथ-जातक, प्रमाणतः) का हवाला देते हैं तव इस वात को स्पष्टतया भूल जाते हैं कि उनमें और भी कुछ वातें हैं जो और पहेलियाँ खड़ी करती हैं—जैसे सीता का राम की वहिन होना। रामकालीन वाल्मीकि को उसे वदलने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि तत्कालीन राजाओं में भाई-वहिन में विवाह एक साधारण वात थी। मैंने स्वयं पुराणों से रामकालीन (कुछ आगे-पीछे) राजाओं में इस प्रकार के लगभग २६ उदाहरण ढूंढ निकाले थे (देखिए मेरी Woman in Rig-Veda)। ख़ैर, इतना कह देना काफ़ी होगा कि यह वाल्मीकि को शुंगकालीन समझने वाला इतिहास-विवेक अपुष्ट है यद्यपि 'रामायण' को तत्कालीन माना जा सकता है।

पृ० २२२ पर राहुलजी ने इतिहास पर अच्छी लीपापोती की है। अव्वल तो जो वस्तु केवल अनुमान की है और जिसे केवल प्रमाण के सहायतार्थ अथवा व्याख्यार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है उसका आप सर्वथा नींव की शिलाभित्ति की भाँति उपयोग करते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि ध्वन्यात्मक होने से 'कुमारसंभव' के कुमार का अर्थ कुमारगुप्त शकादित्य करना अत्यन्त दुर्बल प्रमाण है। परन्तु आप उसका प्रयोग प्रतिष्ठित सत्य की भाँति करते हैं—"उस समय कवि कुमारसंभव को लिख रहे थे, मुझे उन्होंने बतलाया था कि विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त को ही मैं वहाँ शंकर पुत्र कुमार कार्तिकेय के नाम से अमरता प्रदान करना चाहता हूँ।" यही बात अगर इशारे में कहीं व्यक्त की गयी होती तो कोई हर्ज न था परन्तु सुपर्ण के मुख में कालिदास के स्पष्ट वक्तव्य के रूप में यह अत्यन्त अनुचित हो जाती है, यथार्थ और स्थिति दोनों रूप में। और देखिए—पृ० २२२ पर कालिदास सुपर्ण से कहते हैं—"विक्रमादित्य वस्तुतः धर्म का संस्थापक है, सुपर्ण! उसने देखो, हूणों से भारत भूमि को मुक्त किया।" "किन्तु, उत्तरापथ, (पंजाब) और काश्मीर में अब भी हूण हैं, आचार्य!" "गण-राज्य इस युग के अनुकूल न थे सुपर्ण! यदि समुद्रगुप्त ने इन गुणों को कायम रखा होता, तो उन्होंने हूणों तथा दूसरे प्रबल शत्रुओं को परास्त करने में सफलता न पायी होती" (पृ० २२३) अब जरा देखिए इन पंक्तियों में निर्दिष्ट ऐतिह्य को। हूणों का भारत पर हमला पहले-पहल लगभग ४५५ ई० में हुआ था, जब स्कन्दगुप्त ने उनकी पहली बाढ़ रोक दी थी। यदि ये भीतरी लेख वाले हूण (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता) जूनागढ़ लेख के 'म्लेच्छ' हैं, तो उस लेख में दिए गुप्त संवत् १३८ (ई० सन् ४५७-५८) से कुछ ही पहले स्कन्दगुप्त ने उन्हें परास्त किया होगा! उस हालत में स्कन्दगुप्त के पितामह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ही उन्हें कैसे हरा दिया यह समझ में नहीं आता और यह दिक्कत तो तब और भी बढ़ जाती है जब राहुलजी को पृ० २२३ पर समुद्रगुप्त यानी चन्द्रगुप्त के पिता द्वारा भी हूणों को परास्त कराना पड़ता है! पहली टक्कर तो समुद्र के प्रपौत्र स्कन्द के समय हुई थी। खैर, राहुलजी के इस सिद्धान्त के लिए, खींचतान कर, मैं कुछ और सुविधा दूँगा। आपका कहना है कि पंजाब और काश्मीर में तब भी हूण थे। यह कैसे? शायद इस कारण कि कालिदास ने 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में हूणों के सिंधुतीर पर होने का उल्लेख किया है। परन्तु श्री राहुलजी शायद यह बात सर्वथा भूल गये कि मल्लिनाथ का 'सिन्धुतीर-विचेष्टनैः' पाठ अत्यन्त अशुद्ध है। शुद्ध पाठ है—'वंक्षु (वक्षु) तीरनिवासिनः' जो वल्लभ और स्कन्दस्वामी सारे पूर्ववर्ती व्याख्याताओं ने स्वीकृत किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि 'रघुवंश' की नौ प्रतियों में से ६ में यह पाठ है और केवल तीन में

मल्लिनाथ वाला पाठ। इनमें भी प्रथम मल्लिनाथ स्वयं की है, बाकी दोनों उनके पीछे की हैं। यह अशुद्धि मल्लिनाथ से क्योंकर हुई यह विस्तारपूर्वक मैंने अपने 'कालिदास का भारत' (India in Kalidasa) में लिखा है। यहाँ केवल इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि दाक्षिणात्य मल्लिनाथ को केसर उत्पन्न करने वाला काश्मीर छोड़ दूसरा देश नहीं ज्ञात था। इसलिए उन्होंने यह पाठ मान लिया, फिर भी उनको इस पाठ में भ्रम बना ही रहा जिससे अपनी व्याख्या में वे कह ही बठे—'सिन्धुर्नाम काश्मीरदेशेषु कश्चिन्नदविशेषः'। क्या सचमुच सिन्धुनद-से विख्यात नदी को उन्हें 'कश्चिन्नदविशेषः' से स्पष्ट करने की आवश्यकता थी? परन्तु काश्मीर के ही निवासी वल्लभ को यह दिक्कत न पड़ी क्योंकि वे जानते थे कि उनके पास ही काश्मीर के उत्तर-पश्चिम में ही वक्षु की तलेटी में भी केसरप्रसविनी भूमि है। स्कन्दस्वामी ने भी इसी कारण केसर के पर्याय 'वाह्लीक' को 'वह्लीकदेशजं वाह्लीकं' कहा। एक अन्य प्रमाण से भी यह स्थिर हो जाता है। उसी चौथे सर्ग में जुन्नार के पास रघु को पहुँचाकर, कालिदास उनसे अपना मार्ग चुनवाते हैं—'पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना'—यानी स्थलमार्ग से चले, जलमार्ग से नहीं। इससे सिद्ध है कि पारसीकों को जीतने के लिए उनके देश को जाना जलमार्ग से भी संभव था। अब यदि वे उनके देश को जलमार्ग से जाते तो मक्रान की खाड़ी अथवा फ़ारस की खाड़ी से होकर पंजाब क्यों आते? पंजाब अथवा काश्मीर जाने के लिए कोई बम्बई के पास से जहाज़ नहीं लेता। फिर कालिदास तो रघु को फ़ारस में पहुँचाकर हूण-देश को ले जाने के लिए उसे और उत्तर दिशा पर चलाते हैं—'ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्'—इस हालत में क्या सारा फ़ारस और पामीर लाँघ कर पंजाब और काश्मीर पड़ते थे? आपने तो घोड़े के आगे गाड़ी धर दी! अन्य प्रमाणों को कालिदास से मिलाते हुए पढ़िये, समस्या अभी सुलझी जाती है। भारतवर्ष से बाहर कालिदास अपने रघु को क्यों ले जाते हैं? कारण यह है कि वे भारत की एक आदर्श सीमा निर्धारित कर रहे हैं। उस हालत में हिन्दुकुश की छाया से निकल कोजक अमरान पहाड़ों से होते पामीरों में वक्षुतटवर्ती भूमि में ही उसका पहुँचना उचित है। इस आदर्श को गुप्तकालीन एक प्रशस्ति-लेख भी प्रमाणित करता है। साधारणतया विद्वान् मानने लगे हैं कि कुतुबमीनार के प्रांगण का महरौली लौहस्तंभ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही है। मैं भी इसे मानता हूँ और मेरा विश्वास है श्री राहुलजी भी इसी विचार के हैं। उस लेख में एक श्लोक है—

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
न्वंगेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।

आया था परन्तु हुएन-च्वांग हर्ष का सहधर्मी-अतिथि होकर भी उसके राज्य में दो-दोबार लुट गया था ! अब जाँचिए लेखक के दोनों गुप्तकालीन और हर्ष-कालीन वक्तव्यों की सच्चाई।

पृ० २३३ पर हर्ष के वड़े भाई राज्यवर्धन को 'कान्यकुब्जाधिपति' कहा गया है। यह वक्तव्य स्वयं हर्ष का है। श्रीकण्ठ (स्थाण्वीश्वर-थानेश्वर) के पुष्पभूति के कुल में जब राजसत्ता आयी तब कुछ काल बाद उसमें नरवर्धन नामक नृपति हुए। नरवर्धन के पौत्र आदित्यवर्धन ने गुप्त नृपति महासेनगुप्त की भगिनी को ब्याहकर अपने राज्य की प्रतिष्ठा वढ़ायी। प्रभाकरवर्धन के समय वर्धनों की शक्ति और वढ़ी। राज्यवर्धन इसी प्रभाकरवर्धन का पुत्र और हर्षवर्धन का वड़ा भाई था। राज्यवर्धन की वहिन राज्यश्री के पति कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधीश्वर ग्रहवर्मन् मौखरि को मालव देवगुप्त ने मार डाला। राज्यवर्धन ने यह ख़बर सुनकर प्रतिशोध के लिए यात्रा की और शायद उसने देवगुप्त को हराया भी, परन्तु जब वह लौट रहा था तब गौड़ के शशांक की दुरभिसन्धि का वह शिकार हुआ जिससे स्थाण्वीश्वर की गद्दी हर्ष को मिली। फिर जब राज्यश्री ने कान्यकुब्ज का राज्य अपने भाई हर्ष को जबरन दे दिया तब श्रीकण्ठ का राजा कान्यकुब्ज का पहला शासक बना। परन्तु न जाने किस ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर श्री राहुलजी ने राज्यवर्धन को ही 'कान्यकुब्जाधिपति' बना डाला !

पृष्ठ २३५ पर हर्ष का वक्तव्य है—"मेरे कुल के बारे में अभी ही पीठ-पीछे लोग कहने लगे हैं कि वह बनिया का कुल है। यह बिलकुल ग़लत है, हम वैश्य क्षत्रिय हैं, वैश्य बनिये नहीं। किसी समय हमारे शातवाहनकुल में सारे भारत का राज्य था। शातवाहन राज्य के ध्वंस के बाद हमारे पूर्वज गोदावरी तीर के प्रतिष्ठानपुर (पैठन) को छोड़ स्थाण्वीश्वर (थानेसर) चले आये। शातवाहन (शालिवाहन) वंश कभी बनिया नहीं, यह सारी दुनिया जानती है···।" परन्तु क्या यह दुनिया नहीं जानती कि शातवाहनकुल यदि बनिया न था तो क्षत्रिय भी न था, वह ब्राह्मण था ? क्या कहता है नासिक वाला गौतमीपुत्र-शातकर्णि का लेख ?—'एक ब्राह्मण—(परशु) राम की भाँति पराक्रमी' (देखिए पंक्ति ७), 'क्षत्रियों के मान और दर्प का दमन करने वाला' (खतियदपमानमदनस सकयवनपह्लवनिसूदनस खखरातवसनिखसेसकरस सात-वाहनकुलयसपतिथापनकरस—पंक्ति ५)। श्री राहुलजी इस बात को भूल गए कि ब्राह्मण पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य-वंशीय क्षत्रियराज बृहद्रथ को मारकर जब मगध का राज्य स्थापित किया उस समय सारा भारत तीन ब्राह्मणकुलों की आधीनता में वंट गया था—(१) उत्तर भारत शुंगों के शासन में, (२) पूर्व भारत (कलिंग) चैत्यकुलोद्भव खारेवल के शासन में, और (३) दक्षिण भारत आन्ध्र

शातवाहनकुल के शासन में। शातवाहनों को क्षत्रिय अथवा हर्ष के पूर्व पुरुष मानना इतिहास को चुनौती देना है।

पृष्ठ २५४ पर कन्नौज के गहड़वाल राजा जयचन्द्र का एक चित्र इस प्रकार है—'उनके मांस लटके चिबुक, अतिफुल्ल कपोल, गंगाजमुनी मूँछें, प्रसूता की तरह के लम्बित स्तनों, महाकुम्भ-सा उदर, पृथुल कोमल मांस-मेदपूर्ण उरु तथा पेंडुली, रोमश स्थूल बाहुओं को देखकर साधारण तरुणी भी अवज्ञा किए बिना नहीं रहती, किन्तु, यहाँ उनका शरीर-प्राण इस बूढ़े के हाथ था। कोई उनके दन्तरहित होठों में अपने होठों को दे रही थी, कोई उनके पार्श्वों से अपने स्तनों को पीड़ित कर रही थी, कोई उनकी रोमश भुजाओं को अपने कंधों और कपोलों से लगा रही थी। कामोत्तेजक गीत के साथ नृत्य शुरू हुआ। रानियों और परिचारिकाओं के बीच अपनी उछलती तोंद लिये महाराज भी नाचने लगे।' इतिहास के कुछ अंधेरे गह्वर होते हैं और उनमें किसी प्रकार गिर गये प्राणी अत्यन्त अधोगति सहते हैं। जयचन्द्र भी उन्हीं अभागों में से एक है जिसका अकारण अपमान हुआ है और आज वह देश-द्रोह का प्रतीक-सा हमारे सामने उपस्थित किया जाता है। वास्तव में इतिहास में जितना इस व्यक्ति के साथ अन्याय हुआ है उतना किसी के साथ नहीं। उसके सौजन्य और वीरता की रक्षा करने का महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने प्रयत्न किया है फिर भी उस ग़रीब पर चलते-चलते लोग छींटे उछाल ही देते हैं। परन्तु इस बहती गंगा में हाथ धोना श्री राहुलजी-से विद्वानों को कहाँ तक शोभा देता है इसकी बात हम क्या कहें। जयचन्द्र का दोष बस इतना था कि देश की आवश्यकता के समय वह अपनी गार्हस्थ्य दुर्बलताओं के ऊपर न उठ सका। इतिहास के शोध ने इसको पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि मोहम्मद ग़ोरी के द्वितीय आक्रमण में जयचन्द्र का कोई हाथ न था, और यदि होता भी तो उसके बाद के आचरण ने उस पाप को पूरे तौर से धो दिया। राणा सांगा ने क्या बाबर को बुलाने के लिए अपने दूत काबुल न भेजे थे? परन्तु जयचन्द्र के विरुद्ध तो 'रासो' (जो वास्तव में सोलहवीं सदी में पूरा हुआ) के संदिग्ध प्रमाण के सिवा और कोई प्रमाण नहीं। उसने इतना अवश्य किया कि पृथ्वीराज को द्वितीय आक्रमण सँभालने में मदद न दी। परन्तु यह तो कितने ही राजाओं ने उस काल में किया था। जयचन्द्र का ऐसा न करना तो क्षम्य भी था। कितने ऐसे होंगे जो अपनी बेटी छीन लेजाने वाले की मदद करेंगे, विशेषकर जब ऐसा साहसिक लम्पट और दुराचारी हो, जिससे गृहस्थों में पत्नी-पुत्री छिन जाने का त्रास बना रहता हो? पृथ्वीराज वाजिदअलीशाह के 'दहिनवार' (बड़े भाई) थे। किसी की इज़्ज़त उनके राज में सुरक्षित न थी। बस इससे समझ लीजिए कि जो पुरुष स्त्री छीनने के लिए कन्ह-कैमास-से वीरों का बलिदान कर सकता

था उसकी लम्पटता की क्या हद रही होगी। जगनिक के आल्हा साहित्य में उसकी शादियों का एक ताँता मिलता है। किस प्रकार भला गहड़वाल नृपति, जो भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में राजसूययाजी सम्राट् समझा जाता था और जिसके कन्नौज की 'महोदयश्री' की देश में धाक थी, अपना यह अपमान सह सकता था, फिर भी अपयश उसको ही लगा। इस पर तुर्रा यह कि पृथ्वीराज के व्याभिचारी चरित्र के विरोध में उसका चरित्र दोषरहित है। व्यक्तिगत वीरता में पृथ्वीराज से वह कहीं बढ़कर था। इतिहास का पन्ना-पन्ना कहता है कि जब सेना में भगदड़ मच गयी तब 'राय पिथौरा आतंक में भर हाथी से उतर घोड़े पर चढ़कर भागा। मगर वह सिरसुती के किनारे पकड़ लिया गया और जहन्नुम रसीद हुआ', मार डाला गया। परन्तु इसके विरुद्ध जयचन्द्र ने क्या किया ? इटावे के पास चन्दावर के मैदान में उसने शहाबुद्दीन के ख़िलाफ़ तलवार खींची, लोहे से लोहा बजाया। मुसलमान इतिहासकारों ने आँखोंदेखी उस घटना को मुक्तकंठ से सराहा है जिसमें जयचन्द्र ने अफ़ग़ानों के दाँत खट्टे कर दिये थे और सम्मुख समर में लड़ते हुए प्राण दिये थे। वीर की भाँति अस्सी वर्ष की वृद्धावस्था में रणक्षेत्र में मरने वाले उस जयचन्द्र का जो रूप श्री राहुलजी ने हमारे सामने खड़ा किया है वह पहचान में नहीं आता। नैषधकार श्रीहर्ष का संरक्षक होने के कारण ही जयचन्द्र चरित्रहीन नारीसेवी नहीं कहा जा सकता। कालिदास के आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य पराक्रम में प्रतीक थे यद्यपि उस महाकवि-सा शृंगारिक शायद भारत ने और पैदा न किया। जयचन्द्र को इस प्रकार चित्रित करना इतिहास का अपमान करना है।

कहानीकार ने इतिहास को पीछे रखकर अपनी इच्छा के अनुसार पात्रों का चरित्रनिर्माण किया है। अलाउद्दीन, जिसकी नृशंसता और अतिशासन की उपमा नहीं दी जा सकती, उनके लिए समृद्धि का दाता है। अलाउद्दीन से वह 'लाभदीन' बन जाता है, उसके राज में, 'दूध की नदियाँ बहने लगती हैं' (पृ० २८३)। लेखक को धोखा हो गया है शायद उसके बाजार दर स्थापित करने के कारण। परन्तु उसने यह न समझा कि अलाउद्दीन ने यह सब मंगोलों के आक्रमण के डर से अपनी सेना के लाभ के लिए किया था। इसका लाभ जनता, किसानों आदि को न था, केवल उसकी सेना को था। यदि आप वस्तुतः उस राज के बारे में जानना चाहें तो तत्कालीन मुसलमान तवारीखनवीसों के लेख पढ़ें। बरनी लिखता है—'प्रजा नितान्त नृशंसतापूर्वक कुचली जाती है, उससे हर बहाने रुपया वसूला जाता है। किसी के पास धन न रहा। मालिकों और अमीरों, अमलों और मुल्तानियों (सिन्धी सौदागर) और साहूकारों को छोड़ किसी के पास एक पैसा न रहा। हालत ऐसी हुई कि चन्द हज़ार टंकों (रुपयों) के सिवा सिक्कों की चलन तक देश में न रही।···प्रजा इस क़दर ग़रीब हो गयी

है, अपनी खुराक की चिन्ता में वह इस क़दर ग़र्क़ हो गयी है कि बग़ावत करने को उसे फ़ुरसत ही नहीं।' 'हिन्दुओं को ख़ास तरह से कुचल दिया गया है। वे हथियार नहीं बांध सकते, घोड़े पर नहीं चढ़ सकते, अच्छे कपड़े नहीं पहन सकते, आराम का कोई ज़रिया उन्हें मुहैया नहीं। पैदावार का आधा उन्हें सरकार को टैक्स देना पड़ता है, गाय-भैंस और बकरियाँ आदि मवेशियों पर भी कर देना होता है।...बीस-बीस हिन्दुओं को एक साथ बाँधकर अकेला कर उगाहने वाला अफ़सर लाता है और मार-मारकर उनसे रुपये वसूल करता है। सोना-चाँदी, यहाँ तक कि खाने का पान तक, हिन्दुओं के घर में नहीं दिखायी देता। उनके घरों में मुफ़लिसी इस क़दर नाजिल हुई है कि उनकी औरतें मुसलमानों के घरों में ग़ुलामी करके ज़िन्दगी के दिन गुज़ार रही हैं।' अलाउद्दीन क़ाज़ी से हिन्दुओं के प्रति शरियत के उसूल पूछता है। उत्तर मिलता है—'हिन्दू ख़िराज-गुज़ार हैं और जब कर वसूल करने वाले सरकारी नौकर उनसे चाँदी माँगें तब उन्हें निहायत आजिज़ी के साथ सोना हाज़िर करना चाहिए। अगर अफ़सर उनके मुँह में थूकने की ख्वाहिश ज़ाहिर करे तो बख़ुशी मुँह फैलाकर उसे मंजूर करना चाहिए। ऐसा करके वे उस अफ़सर के लिए इज़्ज़त ज़ाहिर करेंगे। ख़िराज देकर और थूक को मुँह में मंजूर कर ज़िम्मी (हिन्दू या ग़ैरमुस्लिम) अपनी आजिज़ी का इज़हार करेंगे।...हिन्दुओं को कुचलकर रखना मज़हबी फ़र्ज़ है क्योंकि वे हज़रत मुहम्मद के जानी दुश्मन हैं।' अलाउद्दीन कहता है—'मैं शरियत नहीं समझता, एक हरफ़ पढ़ा-लिखा नहीं हूँ पर हिन्दुओं को मैंने इस क़दर कुचल दिया है कि मेरे इशारे पर वे चूहों की तरह बिलों में जा दुबकते हैं...। यक़ीन रखो कि जब तक हिन्दुओं के पास दूध-दही रहेगा वे कभी सिर नहीं झुकायेंगे। इसलिए मैंने उनसे आराम की सारी चीज़ें छीन ली हैं।...' यह है अलाउद्दीन के राज्य का कच्चा चिट्ठा *जिसका बयान आँखोंदेखे तत्कालीन तवारीख़नवीसों ने किया है। श्री राहुलजी* ने इस 'बाबा नूरदीन' वाली कहानी में तो स्याह को सफ़ेद कर दिया। अपने सिद्धान्त के प्रचार में उन्होंने सत्य और इतिहास का गला घोंट दिया। सिद्धान्त का प्रचार सच्चाई के शोले उछालकर करना चाहिए।

"सुरैया" नाम की कहानी में टोडरमल के बेटे कमल और अबुलफ़ज़ल की बेटी सुरैया के प्रेम का उद्घाटन है। अकबर के राज्यकाल में उस महान् सम्राट् की अभिरुचि देखते हुए इस प्रकार की कल्पना सुन्दर ही नहीं उपादेय भी है। यहाँ तक तो सब ठीक है पर दिक़्क़त तब उठ खड़ी होती है जब कल्पना-तुरंग निरर्गल हो जाता है, जब सुरैया और कमल यूरोप जा पहुँचते हैं और वेनिस और फ़्लोरेंस की सैर करने लगते हैं (पृ० २९९, ३०२)। कल्पना का भी एक अन्दाज़, एक मर्यादा होती है। कल्पना अपनी है, चाहे जितनी हम

कर सकते हैं पर उसका भी कोई मर्यादित, सकारण, उचित आधार होना चाहिए। आप बात कर रहे हैं सोलहवीं सदी की जब फ़ाविशर और ड्रेक, हाकिन्स और रैले सागर-विजय कर रहे थे। कमल तो यदि कश्मीर के डल-ऊलर में ही बने रहते तो अच्छा था; भूमध्य सागर और अतलांतिक में उनका पोत-संचालन उस काल में कुछ अजीब लगता है। और वे वहाँ अकेले नहीं हैं, उनकी सुरैया भी है जो सागर-विजय के लिए निकली है। समुद्र-यात्रा आखिर क्या इतनी आसान थी कि सामुद्रिक मजे के लिए की जा सके? फिर अंग्रेज़ लोग मारे डर के अपनी बीवियाँ क्यों छोड़ आते थे? उस काल में अनेक यूरोपीय देशों में तो अभी छापेखाने खुले ही न थे, परन्तु कमल अवश्य भारत में मुद्रण के स्वप्न देखने लगता है। इसी प्रकार वह पोतों पर तोपों की व्यवस्था की बात भी सोचने लगता है। अभाग्यवश समुद्री डाकुओं ने उसके स्वप्न का अन्त कर दिया वरना निश्चय ही अमेरिका में जहाँ जेम्स प्रथम के उपनिवेश खड़े हुए, शायद जहाँगीर के होते! सुरैया और कमल ने हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध और एकता की ही नींव नहीं डाली वरना सदियों से चले आते परदे को भी तोड़ दिया! निस्सन्देह दोनों अपने समय से तीन सदी आगे थे।

इसी प्रकार 'मंगलसिंह' नामक कहानी भी अपने समय से बहुत पूर्व प्रसूत हो गयी है। मंगलसिंह—रामनगर राज्य के राजा चेतसिंह के क्रिश्चियन पोते—विलायत पहुँचकर माँ को तो भूल जाते हैं। उनके सामने केवल दो मसले हैं—एक तो वहीं की एक गौरांगी से प्रेम करना, दूसरे मार्क्सवाद का अध्ययन करना। आप मार्क्स और एंगेल्स से मिलते हैं और उनके सिद्धान्तों से प्रभावित होकर भारत लौटकर यहाँ सन् सत्तावन के गदर के अवसर पर समाजवाद का प्रचार करते हैं। मैं समझता हूँ यह भी कुछ समय पूर्व ही है। राष्ट्रीयतावादी कांग्रेस के जन्म (१८८५) से भी लगभग दो युग पूर्व भारत में समाजवाद के उसूलों पर ग़दर को ले चलने का प्रयत्न कुछ अजब लगता है। इस बात को हमें न भूलना चाहिए कि यूरोप के अनेक देश तब विप्लव कर रहे थे जब वह संसार का अद्भुत मेधावी मार्क्स लन्दन में बैठा लिख रहा था। बाल्कन देशों, इटली, स्पेन, पोलैण्ड, स्वयं मार्क्स के देश जर्मनी में, सर्वत्र स्वतन्त्रता के आयोजन हो रहे थे। परन्तु एकाध को छोड़कर कहीं उसके सिद्धान्तों के प्रचार की गुंजायश न हो सकी। इसका कारण कुछ तो यह था कि अभी समय आया न था, दूसरे यह कि शायद मेटरनिक, कावूर और बिस्मार्क जिन्दा थे। मात्सीनी और गारीबाल्दी तक (जो प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय के सदस्य थे) तो इटली में इसकी कल्पना कर नहीं सकते थे, और इसी कारण मार्क्स ने मात्सीनी को धिक्कारा भी था, और मंगलसिंह भारत में समाजवाद के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने लगे! अनार्किस्ट बाकूनिन को तो तथ्य न समझ सकने के कारण

मार्क्स ने 'भावुक मूर्ख' कहा; आज यदि वह जिन्दा होता तो श्री राहुलजी के इस मंगलसिंह को कहाँ तक पहचान पाता, नहीं कहा जा सकता। केवल फ्रांस में १८७१ में कुछ हफ्तों के लिए मजदूरों का राज क़ायम हो गया था पर असुरों ने उसे खून में डुबा दिया। ऐतिहासिक अनुक्रम में यह कहानी भी ठीक नहीं बैठती।

श्री राहुलजी ने आरम्भ की कहानियों में जो कालक्रम और पीढ़ीक्रम दिया है वह भी पूर्णतया शुद्ध नहीं है यद्यपि वह उनका अपना है। परन्तु अपनी गणना के आधार पर भी वे सही न रह सके। अपनी कहानियों के आरम्भ में काल वर्षों में और उनके अन्त में पीढ़ियों में बताया है। पीढ़ियों का अनुपात लगभग बीस वर्ष प्रति पीढ़ी है। परन्तु हिसाब लगाने पर एक समस्या खड़ी हो जाती है। एक नजर नीचे देखें—

कहानी	काल	पीढ़ी (आज से पूर्व)	लब्ध-काल
१. निशा	६००० ई० पू०	३६१ (७२२०-१९४५)	= ५२७५ (?)
२. दिवा	३५०० ,, ,,	२२५ (४५००-१९४५)	= २५५५ (?)
३. अमृताश्व	३००० ,, ,,	२०० (४०००-१९४५)	= २०५५ (?)
४. पुरुहूत	२५०० ,, ,,	१८० (३६००-१९४५)	= १६५५ (?)
५. पुरुधान	२००० ,, ,,	१६० (३२००-१९४५)	= १२५५ (?)
६. अंगिरा	१८०० ,, ,,	१५२ (३०४०-१९४५)	= १०९५ (?)
७. सुदास	१५०० ,, ,,	१४४ (२८८०-१९४५)	= ९३५ (?)
८. प्रवाहण	७०० ,, ,,	१०८ (२१६०-१९४५)	= २१५ (?)
९. बंधुलमल्ल	४९० ,, ,,	१०० (२०००-१९४५)	= ५५ (?)

ऊपर दी हुई गणना से स्पष्ट हो जायगा कि काल-निष्कर्ष (लब्ध-काल) ग़लत है। आप चाहे पीढ़ी का औसत २० वर्ष न रख २५, १५, १० कुछ भी रखें निष्कर्ष का औसत वही बना रहेगा।

एक प्रकार का और दोष जो श्री राहुलजी की कहानियों में है वह है उनका भविष्य-वचन (historical presaging)। आगे ऐतिहासिक काल में होने वाली घटनाओं की ओर पात्र पहले ही संकेत कर देते हैं। राहुलजी आज लिखने के कारण निस्सन्देह पात्रों और अपने काल के बीच की घटनाएँ जानते हैं परन्तु इस कारण जितना आप जानते हैं उतना घटनाओं से पूर्ववर्ती पात्रों द्वारा उनका प्राक्कथन एक अद्भुत असामंजस्य उपस्थित करता है। अभी सिकन्दर पूर्व की ओर बढ़ने की तैयारी कर रहा है परन्तु नागदत्त से उसकी प्रेयसी पूछती है—'क्या यवन और हिन्दू चक्रवर्तियों का सिन्धु-तट पर मिलन तो न होगा?' (पृ० १३९) फिर पृ० २२३ पर वक्तव्य है—'कुमारगुप्त भी अपने साथ मोर का चित्र खिंचवायेगा, और कल को कोई कवि उसे कुमार का

अवतार कहेगा'—क्योंकि श्री राहुलजी जानते हैं कि ऐसा हुआ, यद्यपि कालिदास के कुमारसंभव (अवतार) की बात ज़रा दुर्बल पड़ती है। पृ० २२६ पर सुपर्ण कहता है—'रास्ते में चोरों का डर न था, गुप्तों के इस प्रबन्ध की प्रशंसा करनी होगी। किन्तु क्या गुप्त शासन ने देश के प्रत्येक परिवार को इतना समृद्ध कर दिया है, जिससे कि बटमारी-रहज़नी उठ गयी ?' किन्तु क्या यह सवाल करना केवल गुप्त सम्राटों से मुनासिव है अथवा संसार के सारे शासकों से ? क्या उस महाद्रष्टा मार्क्स के पूर्व इन विचारों का आभास हो सकता था ? क्या स्वयं हम मार्क्स के अध्ययन के पूर्व इस प्रकार के समाज की कल्पना करते थे ? आपने स्वयं जितना झेला है—ब्रिटिश और कांग्रेस-शासन दोनों में—उतना भारत में कम व्यक्तियों ने बर्दाश्त किया है, परन्तु क्या पूछूं आपसे कि जब सन् २१-२२ की भट्‌टी में आप स्वयं बक्सर जेल में जल रहे थे उस समय भारत में केवल कांग्रेस-राष्ट्रीय-शासन क़ायम करने के सिवा और भी कोई मार्क्सानुगामिनी 'पटिपदा' आपके सम्मुख थी ? आप शायद भूलते हैं कि जब तक मार्क्स ने संसार को अपने आदर्श न सुझाये थे तब तक उस वर्गरहित समाज का रूप अचिंतित था। संसार ने अभी तक मार्क्स-जैसा मेधावी पैदा नहीं किया। और चाहे बौद्ध खीष्टीय विहारों के सार्वजनिक स्वत्वों अथवा अफ़लातून के 'प्रजातन्त्र' और 'आध्यात्मिक-शासकों' में कोई मार्क्स के सिद्धान्तों का आदिबिन्दु क्यों न पढ़ने का प्रयत्न करें परन्तु बात रह जायेगी कि आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद का एकमात्र द्रष्टा वही है। और इस कारण उसके प्रादुर्भाव के पूर्व शासकों से यह पूछना कि तुमने वर्गरहित, वैयक्तिक संपत्ति-रहित समाज का निर्माण क्यों नहीं किया, नितान्त हास्यास्पद है। इसी प्रकार 'सुरैया' वाली कहानी में बीरबल का अपने ही समय में अपने और अकबर के सम्बन्ध में प्रचलित (अथवा उनके द्वारा सम्राट् से कही गयी) कहानियों का संग्रह कर देना कम विस्मयजनक नहीं।

श्री राहुलजी ने इस संग्रह में कुछ ऐसी बातें भी लिखी हैं जिनकी सच्चाई में काफ़ी सन्देह किया जा सकता है। पृ० ११२ पर उल्लेख है—'जिसने (राजा ने) जन की आँखों में धूल झोंककर कहना शुरू किया—इन्द्र, अग्नि, सोम, वरुण, विश्वदेव ने इस राजा को तुम्हारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा है, इसकी आज्ञा मानो, इसे बलि-शुल्क-कर दो।' 'सुदास को अब पता लगा कि इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम के नाम से इन सफेद दाढ़ियों ने लोगों को कितना अन्धा बनाया है' (पृ० ११५)। 'इन चाटुकार ऋषियों की बनायी सुदास की दानस्तुतियों में कितनी ही अब भी मौजूद हैं; किन्तु यह किसको पता है कि सुदास इन दानस्तुतियों को सुनकर उनके बनाने वाले कवियों को कितनी घृणा की दृष्टि से देखता था' (पृ० ११३)। 'ब्रह्म का स्वरूप मैंने ऐसा

बतलाया है कि कोई उसके देखने की माँग नहीं पेश करेगा' (पृ० १२५)। 'इसीलिए मैं कहता हूँ कि उसके दर्शन के लिए मैं ऐसे-ऐसे साधन बतलाता हूँ कि लोग छप्पन पीढ़ी तक भटकते रहें और विश्वास भी न खो सकें। मैंने पुरोहितों के स्थूल हथियार को बेकार समझकर इस सूक्ष्म हथियार को निकाला है' (पृ० १२६)। 'इस आकाश या ब्रह्म से भी बढ़कर मेरा दूसरा आविष्कार है—'पुनर्जन्म' (पृ० १२७)। 'धर्म के नाम पर राजा और ब्राह्मणों के स्वार्थ के लिए हम जो कुछ कूट मन्त्रणा कर रहे हैं, उसका रहस्य इससे छिपा नहीं है' (पृ० २२९)। ऊपर के अवतरण केवल उदाहरणार्थ दिये गये हैं, वैसे उनकी संख्या पुस्तक में भरी पड़ी है। इन वक्तव्यों के द्वारा विद्वान् लेखक ने जो रूप खड़ा किया है वह ग़लत हो गया है यद्यपि वह उसे यदि उचित रूप से रखता तो अग्राह्य न हो सकता। इन्द्रादि देवताओं की आराधना का आरम्भ जिस रूप में लेखक बताता है वह वैसा नहीं है। आरम्भ तो वास्तव में उनके प्राकृतिक-विस्मय के कारण हुआ। हाँ, उसका लाभ पश्चात् काल में अवश्य उठाया गया परन्तु उन देवताओं के नाम से सफ़ेद दाढ़ियों ने लोगों को जो अन्धा बनाया उस कार्य के उत्तरदायित्व से सुदास के पूर्वज अथवा स्वयं वह बरी न रह सके। उसमें उनका भी हाथ था। और इस कारण सुदास को कवियों की कृतियों को घृणा से देखने का कोई कारण नहीं हो सकता था। या तो वह उस चाटुकारिता को समझता न था या चाटुकारों के लाभ में उसका साझा था। पिता के दिए मानस और शरीर को धारण करनेवाला सुदास निश्चय श्री राहुलजी द्वारा प्रस्तुत रक्तरहित सुदास से भिन्न था। प्रवाहण जैवलि के मुख में भी पृ० १२५-१२७ के अवतरण रखना उसके साथ अन्याय करना है। गीता को न समझने-वाले और उसकी स्थितप्रज्ञ अवस्था पर प्राण देनेवाले मूर्खों की संख्या कम नहीं है परन्तु वे स्वयं उस जाल से बरी हैं। इसके लिए प्रमाण नहीं है कि प्रवाहण ने 'छप्पन पीढ़ियों तक' लोगों को ठगने के लिए 'ब्रह्म' और 'पुनर्जन्म' का आविष्कार किया। कम-से-कम हमारे पास इसका प्रमाण नहीं है। वैसे तो थ्यूसीदीदिज के अनुसार 'मरा मनुष्य (कुत्ता ?) काटता नहीं', और प्रवाहण श्री राहुलजी से जीकर प्रश्न नहीं कर उठेगा। अच्छा होता यदि किसी कल्पित पात्र के मुख में वे ये वक्तव्य रखते। 'ब्रह्म' आदि सारा ग़लत तो अवश्य है परन्तु उसका जान-बूझकर धोखे के अर्थ प्रवाहण ने आविष्कार किया, यह समझ में नहीं आता। उससे उसका भौतिक लाभ न था। ब्राह्मणों का धन से लाभ होना आवश्यक कुछ हद तक माना जा सकता है। 'पुनर्जन्म' तो वास्तव में जीने की साध है जिसकी हविस पृथ्वी पर जीकर भी बनी रहती है। जो साध यहाँ पूरी न हो सकी उसे पूरी करने के लिए ही मनुष्य ने अन्य लोकों में उसको भोगने की कल्पना की। हाँ, एक वर्ग ने उससे लाभ उठाया हो, यह

सम्भव है। परन्तु पितृलोक का सृजन ऐतिहासिक काल के पूर्व की बात है। श्री राहुलजी निश्चय जानते होंगे कि देववर्ग के सृजन के अत्यन्त पूर्व जब लाभ-हानि का कोई सवाल भी न हो सकता था और जब सभ्यता का कोई रूप भी निश्चित न हो पाया था तभी पितृवर्ग उठ खड़े हो गए थे। वह इस कारण कि निर्बोध मानव में देवता के सिरजने की शक्ति अभी न आयी थी और वह केवल इतना सोच सका था कि जो यहाँ अभी-अभी था वह कहीं भी होगा ही। फिर यदि कहीं होगा तो उसे भोजन भी चाहिए, भोग भी, आच्छादन भी। यहीं पुरोहित बस निकल पड़ा क्योंकि उसको देकर ही मृतक को देने की व्यवस्था हो सकी। और इस प्रकार यज्ञादि की नींव पड़ी। परन्तु जिस रूप में श्री राहुलजी ने इसे रखा है वह स्वीकार नहीं किया जा सकता। और कालिदास की धर्म के नाम पर राजा और ब्राह्मणों के स्वार्थ के लिए जो कूट मन्त्रणा की बात कही गयी है उसे पढ़कर तो लेखक के साहस पर आश्चर्य हो आता है। श्री राहुलजी इस बात को भूलते हैं कि कालिदास के समय तक उन आचारों का, जिनका वे निर्देश करते हैं, इस क़दर रूढ़ीकरण हो चुका था कि उनकी कूट मन्त्रणा का अवसर ही न मिलता। आज का निर्बोध पण्डित जिस प्रकार संस्कृत के वाक्य को ब्रह्म वाक्य समझ स्वभावतया ग्रहण करता है कालिदास भी उसी प्रकार रूढ़ियों के शिकार हो चुके थे। उनके मन में कूट मन्त्रणा का विचार तक वैसे ही नहीं उठ सकता था जैसे उन रूढ़ियों के प्रति अविश्वास अथवा प्रतिक्रिया।

बौद्ध-धर्म का मोह लेखक में बहुत है। 'बौद्ध ही सबसे उदार धर्म है' (पृ० १६५), कालिदास 'सिर्फ़ कवि' है, परन्तु 'अश्वघोष महापुरुष और कवि दोनों' हैं (पृ० २२५)—यह स्वयं कालिदास कहते हैं। शेर से किसी ने तस्वीर दिखाकर कहा—देख, इसमें तेरे ऊपर आदमी चढ़ा बैठा है। मुसकराकर वह बोला—सही, चितेरा शेर न था! लेखनी लेखक के हाथ थी और कालिदास मर चुका था। दिङ्नाग—द्रविड़ नास्तिक—"के सामने विष्णु क्या, तैंतीस कोटि देवताओं का आसन हिलता है" (पृ० २२९), वसुबन्धु 'ज्ञानवारिधि' है (पृ० २३०)। एक अद्भुत वक्तव्य पृ० २३१ पर है—"बौद्धों को ब्राह्मण जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं, वह जानते हैं कि सारे देशों के बौद्ध गोमांस खाते हैं, जिसे वह नहीं छोड़ेंगे, इसलिए इन्होंने धर्म के नाम पर गोमांसवर्जन—गो-ब्राह्मण-रक्षा का प्रचार शुरू किया है।" इसपर कुछ कहना इस कथन की मर्यादा बढ़ाना है। परन्तु वास्तव में श्री राहुलजी की मेधा के लिए यह दलील कितनी ओछी है यह इतिहास का नगण्य विद्यार्थी भी समझ लेगा। गोया गो-हत्या का विरोध बौद्ध-धर्म के उदय के बाद आरम्भ हुआ (देखिए, ऊपर यथास्थल इस विषय पर हमारा वक्तव्य)। फ़ाह्यान मुहम्मद साहब के जन्म

से दो सदियों पूर्व भारत आया था। एक चीनी लाल बुझक्कड़ ने कहा—देखो तो इस फ़ाह्यान का सफ़ेद झूठ। कहता है कि गोबी के बौद्ध विहारों में ठहरता हुआ वह भारत पहुँचा। गोबी का प्रदेश तो सदा से मुसलमान था! 'ब्राह्मणों के धर्म से मुझे नफ़रत है। वस्तुतः कामरूप-नृपति जैसे कितने ही दिल के भले लोगों को कायर बनाने का दोष इसी ब्राह्मण धर्म को है जिस दिन यह धर्म इस देश से उठ जायेगा, उस दिन पृथ्वी का एक भारी कलंक उठ जायेगा' (पृ० २४७-४८)। इस प्रकार के बौद्ध पक्ष में स्वस्तिवाचन 'पद्मा', 'सुपर्ण यौधेय', 'दुर्मुख' आदि कहानियों में भरे पड़े हैं। जिन पर विचार करने के लिए न तो मेरे पास समय है, न स्थान। ब्राह्मणत्व से छूट जाना ही स्वातन्त्र्य नहीं है। त्रिपिटकों और बुद्ध की ग़ुलामी उतनी ही बुरी है जितनी वेदों और राम की। बुद्ध के लिए किसे आदर न होगा, उस बुद्ध के लिए जिसने वैयक्तिक समता के लिए आवाज़ उठायी और समाज में क्रान्ति उपस्थित कर दी। परन्तु बौद्ध होते ही मेधा खुल जाती है, यह प्राचीन बौद्ध शैली का सिद्धान्त है। 'दिव्यावदान' में इस प्रकार के अनेक स्थल कहे गये हैं। पर क्या सचमुच ही दिङ्नाग, वसुमित्र, असंग, नागार्जुन, अश्वघोष, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध होने के पूर्व कुछ न थे? क्या इन बौद्ध दार्शनिकों के पीछे की heredity पर कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं? एक बात फिर भी पूछूंगा—कितने नाम श्री राहुलजी ऊपर बताये दार्शनिकों के जोड़ के ऐसे गिना सकेंगे जो ब्राह्मणेतर थे? आप शायद भूलते हैं कि यदि विश्लेषण किया जाय तो बौद्ध धर्म के पंगु प्रभाव द्वारा भारत का अपकार अनन्त शृंखला में सिद्ध हो जायेगा। उसी धर्म का यह प्रभाव था कि दिमिवियस और मिनान्दर ने पाटलिपुत्र को रौंद डाला और अन्य शकों ने उसी नगर में इतने पुरुषों को तलवार के घाट उतारा कि छः-छः स्त्रियों को एक-एक किशोर स्वीकार करना पड़ा। उसी धर्म का यह प्रभाव था कि जनता कापुरुष हो गयी और अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ का वध कर ब्राह्मण पुष्यमित्र शुंग को राजरज्जु स्वीकार करनी पड़ी। सातवाहनों ने दक्षिण और चैत्यों ने पूर्व में इसी कारण तलवार उठायी। इसी प्रभाव के कारण बख्त्यार ने नालन्दा में हज़ारों भिक्षुओं को क़त्ल कर सत्रह सवारों के साथ गौड़ को रौंद डाला। इसी सद्धर्म ने मन्त्रयान और बीभत्स घृणित वज्रयान की नींव डाली थी जिससे उड़ीसा से कामरूप तक काम-वासना का नग्न नृत्य हुआ था। इस प्रभाव की शृंखला को खींचने के लिए वास्तव में समय और स्थान चाहिए। श्री राहुलजी इस बात को भूलते हैं कि भारतीय समाज के अच्छे-बुरे संगठन का श्रेय ब्राह्मण-बौद्ध दोनों को है। बौद्धों के अद्भुत दर्शन के साथ उनके पुराण भी लगे हैं, उतने ही घृणित जितने हिन्दुओं के।

ऊपर के विश्लेषण से सिद्ध हो गया होगा कि विद्वान् लेखक की कहानियों का ऐतिह्य कितने पानी में है। कहानी-कला के इनमें जो नये स्रोत उसने खोले हैं उनका बखान भी कोई कहाँ तक करेगा। केवल एकाध प्रसंग का इस सम्बन्ध में निर्देश कर देना काफ़ी होगा। उसके लिखने का तर्ज़ उन्नीसवीं सदी का है—चन्द्रकान्ता सन्तति का। उसके कुछ वक्तव्य इस प्रकार हैं—"आइए इस वनपंक्ति को कुछ समीप से देखें" (पृ० १)। "आओ, पहाड़ी के ऊपर सर्वोच्च स्थान के देवदारु पर चढ़कर चारों ओर देखें" (पृ० २)। अब चढ़िए लेखक के साथ देवदारु पर! और सुनिए मर्यादा का निरूपण भाषा में—"हाँ वत्स! पहले दिन के किए पाखाने पर रोज़-रोज़ पाखाना करना हो तो कितना बुरा लगेगा?" (पृ० ६०) आपके कुछ अन्य ग्राम्य प्रयोग हैं—'चीन्हा' (पृष्ठ ८६ दो बार), 'निकियाना' (पृ० ९२), 'पोरिसा' (पृ० १३५), 'कान्हासोती' (पृष्ठ १४१), आदि। एक वक्तव्य है—"जान पड़ता था, फ़राडे की बिजली —जिसे ग्यारह साल ही पहले (१८४५ ई०) उस वैज्ञानिक ने आविष्कृत किया था—की भाँति एक शक्ति निकलकर एनी के हाथ से उसके शरीर में दौड़ रही है" (पृ० ३२२)। दो प्रेमियों के स्पर्श का यह नतीजा है जिसमें एक खास तौर की बिजली दौड़ती है, फ़राडे वाली, वायुमण्डल की नहीं। भला फ़राडे के पहले प्रेमियों में बिजली थोड़े ही दौड़ा करती थी। फ़राडे के माँ-बाप के भीतर एक-दूसरे के प्रति बिजली नहीं दौड़ती होगी क्योंकि उसे पैदा करने वाले बरखुर्दार स्वयं अभी पैदा नहीं हुए थे! रोमांच और चीज़ है, फ़राडे की बिजली और! भरे मैदान में बन्धुलमल्ल 'कंचुकी के भीतर से उठे क्षुद्र-बिल्व-स्पर्धी स्तनों को' अर्धालिंगन करते हुए बोलता है—"और ये तेरे स्तन?" (पृ० १३८) फिर उन्हें अपने 'अंगोछे से' बाँधने का प्रस्ताव करता है जिसमें 'दौड़ने में यह ज़्यादा हिलेंगे भी नहीं।' तोबा कीजिए अभागे बन्धुल के भाग्य पर! 'सुरैया' कहानी में राहुलजी ने अकबर के मित्रों की गोष्ठी का एक चित्र दिया है जिसमें दोस्त बेतक़ल्लुफ़ी से मिलते हैं। वे हैं जलालुद्दीन अकबर, अबुलफ़ज़ल, बीरबल और टोडरमल। एक-दूसरे को वे 'जल्लू' (पृ० २८९, २९०, २९२, २९३, ९५), 'फ़ज्लू' (पृ० २८९, २९०, २९४ आदि), बीरू (पृ० २८९, २९०, २९२), और टोंडू (पृ० २८९, २९० आदि) कहकर पुकारते हैं। बीरबल तो एक बार अबुलफ़ज़ल को 'अबे फ़ज़ला' तक कहकर पुकार बैठता है। ऐसी बेतक़ल्लुफ़ी तो साधारण लोग भी नहीं करते। समझ में नहीं आता, अकबर जैसे शाहंशाह दरबारी कैसे करते थे। मुगल दरबार अपनी मर्यादा के लिए प्रसिद्ध था।

प्रोजइक स्थलों से तो संग्रह भरा पड़ा है, देखिए पृष्ठ १८०, १८१, १९३, २९९, ३२२, ३२३, ३२८, ३७६-७७ आदि। फिर भी एक-आध स्थल उद्धृत

करने का लोभ हम संवरण न कर सकेंगे—कुछ वाक्य हैं (पृ० ३२३)—'चुकन्दर की चीनी (१८०८ ई०), भाप का जहाज स्टीमर (१८१६ ई०), रेलवे (१८२५ ई०), तार (१८३३ ई०), दियासलाई (१८३८ ई०), फोटो (१८३९ ई०), बिजली की रोशनी (१८४४ ई०), जरूर देखने के लिए नयी और आश्चर्यजनक चीजें ही थीं।...' (पृ० ३२८) 'सिर्फ कपड़े को ले लो, १८१४ ई० में ब्रिटेन में भारत से १८,६६,६०८ थान कपड़ा आया था, और १८३५ ई० में ३,७६,०८६ थान, इन्हीं दोनों सालों में हमारे यहाँ ८,१८,२०,८५,१७,७७,२७७ गज विलायती कपड़े का जाना बढ़ गया...... हाल ही का आँकड़ा ले लो, ई० १८४६ में १०,७५,२०६ पौंड की रुई यहाँ आयी।' पृ० ३७६ और ३७७ पर दो टेबुल दिये हुए हैं—

	रुपया	
'वायसराय	२,५०, ८००	अर्थात् घुरहू मजदूर की आमदनी का १०,००० गुना
बंगाल गवर्नर	१,२०,०००	४,८०० गुना
युक्तप्रान्त गवर्नर	" "	" "
बिहार गवर्नर	१,००,०००	४,००० गुना
...	...	...
भारत में बंगाल गवर्नर घुरहू से		४२,२६२ गुना
इंगलैण्ड में महामंत्री "		३६ गुना
सोवियत रूस में महामंत्री "		६ गुना'

११

दो कहानी-संग्रह

१

माही : मार्कण्डेय पिछले प्राय: पन्द्रह वर्षों से हिन्दी में कहानियाँ लिख रहे हैं। संग्रह रूप में प्रकाशित होने से पहले जब वे पत्रिकाओं में छपी थीं तभी उनकी 'एलिमेंटल' ताज़गी ने मुझे विस्मित और प्रभावित किया था। बाद एक के बाद एक उनके अनेक संग्रह आए जिनमें 'महुए का पेड़' और 'हंसा जाई अकेला' मुझे बहुत रुचे थे। 'माही' मार्कण्डेय का पाँचवाँ कहानी-संग्रह है जिसे पिछले सप्ताह में दो बार पढ़ चुका हूँ।

मेरा पूर्वाग्रह स्वाभाविक ही इन कहानियों के अनुकूल था और पढ़ना आरम्भ करते समय मुझे लगा कि जीवन परिचित मार्ग से बहता हुआ मिलेगा, पर जीवन ऐसा मिला नहीं। संसार की नित्य बदलती जाती परिस्थितियों में जीवन एकधा बहे भी क्यों? व्यक्ति की वैयक्तिकता यद्यपि अपनी हुआ करती है पर 'अपनी' का जब समग्र से सचेत सम्बन्ध होता है तब कुछ अजब नहीं जो उसका अद्यावधि रूप भी बदल जाए। कहानियाँ अपरिचित-सी लगीं और यद्यपि लगा कि मार्कण्डेय में परिवर्तन हुआ है, जो होना भी चाहिए था, पर वह परिवर्तन नि:संदेह अपरिचित दिशा में हुआ मिला, उनके सम्बन्ध में अपरिचित। लगा कि जैसे उनका यह विकास स्वयं अपना न था बल्कि समसामयिक शिल्प के प्रभाव का परिणाम था, सो भी कुछ अजब नहीं। साहित्यकार जो जागरूक प्रगतिशील होगा वह निश्चय अपने चतुर्दिक से प्रभावित होकर ही रहेगा, परंतु शायद समर्थ साहित्यकार, प्रभावों और तज्जनित परिवर्तनों के बावजूद, अपनी ही भूमि पर रहेगा, अपने ही प्लेन पर, जिसे चुनते समय निश्चय उसके दिलोदिमाग सजग रहे थे।

मार्कण्डेय ने 'माही' की कहानियों में अपनी भूमि प्रमाणतः छोड़ दी है। पहले तो इन कहानियों के कथानकों के केन्द्र अब गाँव न रहे, नगर हो गए हैं।

सहसा नए कपड़ों की याद आई थी, और उन्होंने जैसा ऐसी स्थिति में अकसर हो जाया करता था अपनी माँ को आवाज़ दी थी। माँ तो किसी कारण न आ सकी पर जगजीत कपड़े लिए आ गया था और उसे माँ समझकर सूर्या ने स्नानागार का द्वार सहजभाव से खोल दिया था। सूर्या नखशिख नंगी, जगजीत जैसे उस अनजाने रूप का प्यासा, उसकी आँखें मिनट को अमर करती पीती रही थीं। और फिर "तुम्हें यह तिल बहुत अच्छा लगता है न जगजीत।" और "जग्गी कुछ वोलो भी। फिर तुम्हें एक बच्चा······" "जग्गी मुझे लो······लो जग्गी", "फिर जैसे तूफ़ान की एक ऐसी आँधी चल पड़ी थी कि दोनों जाने कहाँ उड़ते चले गए थे। कितनी ऊँची पानी की दीवार उनके ऊपर वह चली थी, हुचुक-हुचुककर···" लगा जैसे सोलेम ऐश का 'थ्री सिटीज़' पढ़ रहा होऊँ और ओल्गा कह रही हो "माइ सन्, टेक आल, आल, आल।" और ज़कारिया कह रहा हो "मम्, गिव आल, आल, आल।" पर कहाँ सात सौ पृष्ठों पर फैले उस कथानक का यह कण-भर रागात्मक भावेतर, परिस्थितियों से मजबूर, कहाँ 'सूर्या' के अठारह पृष्ठों पर छायी यह नग्नता, और यही क्यों, एक और भी तो, सुनील के साथ वाली, जिसमें "सुनील बिना किसी संकोच के बाँहों में भरकर मुझे चूम लेता था और मैं बेझिझक उसकी गोद में बैठकर उससे लिपट जाती थी। कभी-कभी वह हैरान हो जाता और मैं उसे नहीं छोड़ती। जगजीत ने कई बार मुझे इस तरह देखा और सिर नीचा किए लौट गया।" और यही जगजीत है जो कभी सूर्या के घर का नौकर था जो अब उसके स्कूल का नौकर है और जिससे वह एक बार कह चुकी है—"जग्गी तू यह रुपये ले ले और कहीं ऐसी जगह चला जा कि माँ तुम्हारा पता भी न पा सके, वर्ना तुम्हारे लिए जान का खतरा है। मेरे पेट में तुमने बच्चा······।" ये तो इस कहानी की बुलंदियाँ हैं जिनके शिखर सेक्स चूमता है पर उसका बिखराव तो समूची भूमि पर है जिस पर पहले, कमसिनी में, सूर्या की माँ का घर है, फिर सुनील और जगजीत द्वारा दूषित खेत के परे स्कूल है, जहाँ न केवल शायद अपने बच्चे का गला घोंट देनेवाली, हरामी की माँ सूर्या है, उसका वहीं जगजीत भी है. जहाँ की प्रधानाएँ वही कुकर्म पहले भी कर चुकी हैं। गोया लड़कियों का स्कूल प्रधानाओं के ग़ैरसामाजिक आचरण का रंगस्थल है।

प्रश्न यह है कि यह मात्र सूर्या के व्यक्तित्व का उद्घाटन है, या शिक्षिकाओं के साधारण व्यक्तित्व का निराकरण, या लड़कियों के स्कूलों की यही स्थिति है जहाँ इस प्रकार की सम्भावनाएँ अनायास फलती-फूलती हैं? इस प्रश्न का उत्तर माँगने से पहले एकाध और समान संदर्भों का उल्लेख यहाँ अनुचित न होगा।

'तारों का गुच्छा' एक ऐसा ही माहौल है जिसमें परिस्थिति छूटकर खिल नहीं पाती यद्यपि दूसरे का घर फोड़ने को उद्यत कालेज की स्वाँगी छात्रा अपने प्यारे के घर चली जाती है, शायद बच्चा माँगने, जो उसे नहीं मिलता, बल्कि मेरी से जने ईसा की तरह का बच्चा, तमामतः स्वाँगी स्थिति में ही उत्पन्न बच्चा। 'आदर्शों का नायक' अपने सब्जेक्टिव भावसंचरण में इसी प्रकार अपनी बेटी के नितांत भोले रागात्मक उपक्रम के संदर्भ में अपने अनन्त पापों के अध्याय खोलता चला जाता है जिसमें उसकी कभी की अपनी माया उसे दिन और स्थान (डेट) देती है—"पम्मी, रात के आठ बजे!" आदर्शों का नायक वह पिता है जो पुत्री के पुनीत भावों के संदर्भ में सोचता जाता है, नियत रात अपनी प्रेयसी के पास सोच चलता है—"मैंने उसकी पीठ के पीछे से बाँह डालकर उसके एक सीने ('सीना' तो मेरी समझ में एक ही हुआ करता है जिसमें स्तन दो होते हैं।) को हाथ में लिये उसे बगल में सटा लिया। रिक्शा बढ़ता गया। कालेज के ऊपर के ढलवान पर चढ़कर एक सूना-सा मैदान था। मैंने रिक्शेवाले को निकालकर दो रुपये दिये, "यहीं रुककर रिक्शा ठीक करने का बहाना करते रहो, अभी आया। दो रुपये और दूँगा।' और हम दोनों उसी अंधकार में खो गए। आधा घंटे बाद किसी तरह माया को सँभालकर मैं रिक्शे तक ले आया।"

'पक्षाघात' कहानी इसी परम्परा में, 'सुर्रियलिस्टिक' फ़ैन्टेसी से शुरू होकर जब धुँधलके से धीरे-धीरे प्रकाश में आती है तब भेद खुलता है कि विवाहिता का हमल उसके पति का किया नहीं, नीरा के पति के मित्र अपने प्रणयी परेश का है। मूर्च्छावस्था में नीरा कहती है—"नहीं परेश, अब रहने दो...... मुझे कोई डर नहीं परेश! दर्शन (नीरा का पति) बिलकुल नाराज नहीं होगा। मैं बचपन से ही सोचती हूँ कि माँ बनूँ और किसी बच्चे के साथ खेलूँ।" इस परम्परा की पराकाष्ठा संग्रह की अंतिम कहानी 'आवाज़' है। ज़रा पढ़िए—" 'यह क्या तमाशा है? ज़रा अपनी शक्ल देखिए शीशे में', नीरा कुछ दूर से ही बोली। मैंने लपककर उसके पाँव पर हाथ रख दिया, 'नीरा माफ़ करो मुझे ग़लती हुई। मणि के बिना मैं भी नहीं रह सकता, मैं भी......' और नीरा ने मुझे बाँहों में समेट लिया। हम वैसे ही सिमटे बिस्तर में जा पड़े और पड़े रहे। लेकिन थोड़ी देर बाद ही नीरा कसमसाकर उठ बैठी और मेरी टाई, कोट, पैंट...... पैंट के नीचे अंडरवियर नहीं है नीरा, रुको......' लेकिन नीरा मानी नहीं और मैं उसकी जाँघों को अपने दोनों पैरों में कसकर उसकी गोद में दुबक गया।

'हूँ।' के साथ उपेक्षा की हँसी,
'मेरी धोती गंदी न हो।' "

यद्यपि इसी कहानी का एक स्थल इससे कहीं बीहड़ है—"कल उस लड़के को देखकर सारी कक्षा के लड़के कितने हँसे थे, एक मैं ही था जो खामोश रह गया था। और वह लड़का सामने का (नेकर के सामने का) एक बंद बटन भी खोलकर मेरे ठीक सामने खड़ा हो गया था, 'हँसता क्यों नहीं बे······ जनखा!' और आप विश्वास नहीं करेंगे पर मैं आज तक उसकी शक्ल नहीं भूला, जो उसके नेकर के नीचे था।"

मैंने ऊपर 'सूर्या' कहानी की चर्चा के अंत में कुछ प्रश्न किए हैं, पर क्या फिर भी उनके उत्तर की आवश्यकता होगी? परिस्थिति की परवशता यदि इन आलेख्यों का कारण होती तो सम्भवतः इन प्रश्नों का कुछ अर्थ भी होता, लेकिन जब कहानीकार की रुचि ही उनसे बँध गई है तो क्या इस संदर्भ में बर्ग्सों की 'दि थिंग-इन-इटसेल्फ़' की परिकल्पना क्या स्मृति में मूर्त नहीं हो आती? प्रकट है कि भोग की साधिका नारी कहानीकार के सर्वांग को सम्मोहित कर रही है और संग्रह के आवरण पर रेखांकित उस नारी का नग्न ऊर्ध्वार्ध अकारण नहीं है जिसका निम्नार्थ परोक्ष है और जिसकी एक लट 'माही' और 'मार्कंडेय' के बीच लटक आई है, और जिसका दाहिना हाथ उठकर दाहिने स्तन का ऊपरी परवेश माप रहा है।

२

इन्हें भी इन्तज़ार है : यह शिवप्रसादसिंह की लिखी बीस कहानियों का संग्रह है। कहानियाँ सुन्दर हैं, इन्हीं की परम्परा में लिखी, प्रेमचन्द की परम्परा में, देहात के चित्र हैं। आज के कहानी-लेखन में देश के प्रति एकाग्रता—मतलब समन्वित एकाग्रता से है—कम दीखती है। या तो गाँव से उखड़े मात्र शहरों के चित्र देखने में आते हैं अथवा नागरिक जीवन से विरहित केवल गाँवों के। नगरों के सान्निध्य में लिखते हम शायद गाँवों का अस्तित्व भूल जाते हैं और देहात के चित्रों में नगर का अस्तित्व सर्वथा आँखों से परे हो जाता है। इधर हाल में गाँव के सम्बन्ध में जो उपन्यास और कहानियाँ लिखी गई हैं उनमें न केवल देहात के चित्रों की बाढ़ आ गई है बल्कि बोलियों का उपयोग भी भाषा में इस मात्रा में हुआ है कि आंचलिकता ने जैसे खड़ीबोली को दबोच लिया है। तद्भव का प्रयोग प्रशंसनीय है, सम्भवतः तत्सम से अधिक प्रशंसनीय, पर वह खड़ीबोली के ही क्षेत्र में, बोलियों के प्राधान्य से नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि 'इन्हें भी इन्तज़ार है' की कहानियों के लेखक ने अपनी भाषा में वह स्पृहणीय संतुलन कायम रखा है जो इधर की अनेक कृतियों में उपलब्ध नहीं। उसकी भाषा, हल्की-फुल्की, लहराती हुई चलती है और

उसके अंचल में देहाती जीवन के फूल अनायास खिलते चले जाते हैं। भाषा और भावों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, 'समवाय' सम्बन्ध भी, जिसकी ओर कालिदास ने 'रघुवंश' के पहले श्लोक में ही 'वागर्थाविव संपृक्तौवागार्थप्रतिपत्तये' में संकेत किया है। संग्रह की कहानियों के कथानक अनुकूल सहज भाषा द्वारा मुखरित हुए हैं।

भाषा की बात कहते मुझे शिल्प के सम्बन्ध में आज के हिन्दी लेखकों के एक दृष्टिकोण का खयाल हो आता है। पेंच की भाषा को, मुझे लगता है, शिल्प की संज्ञा दी जाने लगी है। शिल्प पेंचदार है अथवा सादा, इसका अन्तर प्रस्तुत न कर मैं स्वयं शिल्प की बात कहना चाहूँगा। शिल्प विधि है, विधा नहीं, साधक है, साध्य नहीं, यद्यपि साध्य वह, जहाँ शब्द ही इष्ट हो, हो सकता है। कथानक के साहित्य में शिल्प की स्थिति अभिव्यक्ति के माध्यम और साध्य के आधार के रूप में गौण है, कम-से-कम साध्य से गौण। भाषा अच्छी-बुरी अभिव्यक्ति के आधार रूप में, किसी रूप में भी, ग्राह्य हो सकती है, यद्यपि साहित्य के संदर्भ में उसका सुरुचि से संवलित, विषय के अनुकूल संचयित, आवश्यकतावश अलंकृत होना सहज है। भाषा जब अपने मूलाधार से उठ संस्कारपूत हो, मंडन के 'विकार' से संयुक्त होती है, प्रकृत को 'गुणों' से युक्त करती है, तब उसका स्वयं भी मंडन के संभार से प्रसाधित हो जाना अनिवार्य है। सम्भवतः इसे ही लोग शिल्प कहेंगे, यद्यपि, मैं भूलता नहीं, भाषा ही मात्र शिल्प नहीं है, अभिव्यक्ति का समूचा आवयवीय संगठन ही शिल्प में समाविष्ट होता है। शिल्प की व्याख्या चाहे यह अधूरी अथवा समस्त हो, इसमें सन्देह नहीं कि शिल्प केवल विन्यास-कल्प है, न तो मंदिर का गर्भगृह है न उसका देवता, न देह न उसकी आत्मा। फिर भी मात्र अलंकरण से भिन्न, वह अपनी रचित अभिव्यक्ति का वाहन होने से अभिन्न है, यद्यपि फिर भी न उससे विशिष्ट है, न उसकी समवर्ती। केवल शिल्प अथवा अधिकाधिक शिल्प साध्य को आवरण में लुप्त मात्र कल्पनाजन्य कर देगा, हेत्वाभास के रूप में स्वयं वाहन आरोही पर आरूढ़ हो जाएगा।

मुझे याद है एक बार प्रेमचन्द के स्मारक दिवस पर बोलते हुए डॉक्टर उपाधिकारी आलोचक ने कहा था कि प्रेमचन्द असाधारण कहानीकार हैं, यद्यपि उनकी भाषा 'प्रसाद' की-सी कलात्मक नहीं है। मैं दोनों की इस तुलना से स्तब्ध रह गयी। प्रकट है कि इस दृष्टि में कला की परख का सर्वथा अभाव है जो यह नहीं समझ पाती कि सहज अथवा प्रसाद 'कम्प्लैक्स' की चरम परिणति है, और कि प्रेमचन्द की अनायास वह चलनेवाली भाषा सहज अनुभूति और उस सधे संतुलित 'विनय' (डिसिप्लिन) का परिणाम है जो 'प्रसाद' की कृत्रिम भाषा से कोसों दूर है, यद्यपि 'प्रसाद' की कृत्रिमता

जिस अनजाने संसार का आभास उत्पन्न करना चाहती है उसके लिए संभवतः वह भाषा अनुपयुक्त नहीं। शिवप्रसादसिंह के शिल्प के सम्बन्ध में एकाध बार मुझसे शंका की गई है जिससे, प्रसंगतः, मुझे शिल्प-सम्बन्धिनी भाषा अथवा भाषा-सम्बन्धी शिल्प के विषय में मुझे यहाँ कुछ कहना पड़ा। शिवप्रसादसिंह की भाषा, उनका शिल्प, उनके प्रतिपाद्य के सर्वथा अनुकूल है, प्रशस्य।

अब कहानियाँ। गाँवों के चित्र इनमें खुलकर आए हैं और उनके पात्र उतने ही सजीव हैं जितने उनके एकैक व्यक्तित्व की पहचान सहज है। लगता है, जैसे, नन्हों को, कबरी को, दीनू और कबरी को, लख्खीलाल, बेलभद्दर को हम कब से जानते हैं। नन्हों धोखे से अपाहिज को ब्याही 'हिया' रखने वाली गृहिणी है जो अपने रोग के भार को ज़िन्दगी-भर ढोता है, एकान्त और एकांत में फलने वाले अवसरों में भी संयम द्वारा उस कमज़ोरी को, अभिमतजन के सान्निध्य और उसकी 'प्रार्थना' के बावजूद, जीत लेता है जो उस स्थिति में साधारण नारी के संयम का बाँध तोड़ देती। 'पंचतन्त्र' में इसी स्थिति को व्यक्त करते हुए अपनी तब की भाषा में, तब की परम्परा में, विश्वास में अनुभव से कहा था कि यदि स्थान उपयुक्त है, समय का अवसर प्राप्त है, तब भी यदि नारी आत्मसमर्पण नहीं करती तो केवल इस कारण कि उसके निकट 'प्रार्थयिता नर' नहीं है—'नास्ति प्रार्थयिता नरः'। 'बेहया' एक व्यंग्य है, एक बदला, जो बोकाचो के 'देकेमर्शां' की एक कहानी की याद दिलाता है, यद्यपि इससे यह निष्कर्ष क़तई नहीं निकालना चाहिए कि कहानीकार किसी अंश में बोकाचो का ऋणी है। 'भरहला' जहाँ खुल-खुलकर जीवन की सादगी चित्रित करता है वहीं उसके विपरीत उस दिलदार औरत को भी निरावृत करता है जो गाँव की परिचित सीमाओं में बँध नहीं पाती और उसे लाँघ 'मामूल' से विरत हो 'ग़ैरमामूल' की ओर निकल जाती है, ड्राइवर के उस आकर्षण को प्रकट करती हुई जो गाँवों की सूधी निम्नवर्गीय नारी को बरबस खींचता है। 'इन्हें भी इन्तज़ार है' डोमन कबरी का समूचा जीवन नंगा अभिव्यक्त करता है, तन के रोम-रोम, पौध के पोर-पोर। जिसने गाँव में श्राद्ध आदि के अवसरों पर करन्नों को जूठी पत्तलों के लिए कुत्तों से, स्वयं अपनों से जूझते देखा है उसके लिए चित्रण मार्मिक है, यह जानकार ही जानेगा, और जिसने नहीं देखा उसके लिए निश्चय यह असाधारण वर्णन चित्रों का एक सही 'पैनोरमा' प्रस्तुत कर देगा। 'टूटे तारे' अच्छी नहीं लगी, यद्यपि विस्मय की भूमि इसमें गढ़ी गई है। 'सुबह के बादल' मुझे बड़ी मार्मिक लगी, जिसमें भाषा और कथानक दोनों अन्योन्याश्रित बढ़ते हैं और गाँवों के जीवन की सहानुभूति, उसके खेल, हँसी और अवसाद खुलते चले गए हैं। 'आखिरी बात' बैठकबाज़ी की एक झलक प्रस्तुत

करती है, कमजोर है। 'बहाव वृत्ति' का बिहारीलाल शहर वालों के लिए उस दुनिया का राज खड़ा करता है जो उनका अनजाना है। उसका 'भौंगड़पन' उसके जीवन पर इतना हावी है कि उसके अपने आकर्षण के प्रति जिद्द जैसे हममें उसके लिए एक प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न कर देती है यद्यपि पात्र वह घिनौना है। कहानीकार ने कहानी का यह नाम क्यों चुना, समझ में नहीं आता, क्योंकि 'वृत्ति' इसमें वस्तुतः मात्र एक है, 'शाखामृग' से सर्वथा भिन्न, जो नाम शायद 'शाखामृग' कहानी के लिए ज्यादा फबता। 'बहाव वृत्ति' और 'शाखामृग' के शक्तिम चित्रणों के बीच एक कमजोर कहानी 'धूल और हँसी' आ गई है। गाँवों में एकाध ऐसे अवसर हो जाते हैं जिन्हें कोई पेशा पकड़ नहीं पाता, पर जो हर पेशे को पकड़ लिया करते हैं और उसी के माध्यम से भूखे लोगों पर अपने व्यक्तित्व का जादू डालते हैं। 'शाखामृग' का नायक लक्खीलाल कुछ ऐसा ही है जो नए पेशों के चुनाव से निरन्तर गाँव में चमत्कार उत्पन्न करता हुआ भी, जैसा स्वाभाविक भी है, निकम्मा पहचान लिया जाता है और वेलभद्दर तक, जिसकी शादी करने की साध आखीर तक बनी रहती है, उसके राज को समझ लेता है और उसकी खुद की दुर्गति पर हँसता है जो लक्खीलाल की भाड़े की बीवी कर देती है।

'परकटी तितली' की कमजोर कहानी उन्हीं भारतीय फ़िल्मों की याद दिलाती है जिनमें अचानक, अकारण, असंभाव्य दशा में नायक-नायिका एकत्र हो जाते हैं, भरी सड़कों पर भी एकान्त का नाट्य करते, रोमांचक आचरण करते हैं और उनसे अथवा फ़िल्म-निर्माताओं से कोई पूछ नहीं पाता कि आखिर जानी हुई दुनिया में ऐसा कहीं होता भी है? 'पर कटीतितली' में शायद कहानीकार से कोई पूछ न सके कि कहानी का 'मैं' मेह से बचने जब घर की देहली में खड़ा होता है और उसे घर की मालकिन कमरे में बुलाकर चाय पिलाने लगती है, अपने बनाए चित्रों का प्रदर्शन करने लगती है, और जैसे भूलकर गायन द्वारा उसका मनोरंजन कर चलती है जिससे पीछे के कमरे में पड़ा उसका लुंज और अपाहिज पति भी चौंक पड़ता है, शायद, फ़िल्म-निर्माताओं की तरह कहानीकार से भी नहीं पूछा जा सकता कि यह सब क्या दुनिया में होता है कि महज यह आपकी कल्पना का राज है जिसे आप उम्मीद करते हैं कि पाठक भी अपनी सहज बुद्धि ताक पर रख समझे, और शायद आपकी ही तरह अफ़लातूनी रहस्य मान ले। 'खेल' फिर एक लचर कहानी है जिसमें 'लमहे' को—जिसे कहानीकार सर्वत्र 'लहमा' लिखता है (पृ० ६१, १२४, १३० पर क्या ऐसों की कमी है जो 'महरूम' की जगह 'मरहूम' बोलते हैं?)—अविराम लम्बा करके एक अत्यन्त साधारण परिस्थिति चित्रित की गई है। 'टूटे शीशे की तस्वीर' कहानियों के रुक्ष ग्राम्य कलेवर में एक नागर अंदाज

डालती हुई नज़र आती है जो 'सटल' होती हुई भी मुझे जँची नहीं, यद्यपि उसमें कामिनी का व्यक्तित्व सामान्य से भिन्न है। 'बीच की दीवार' सबल कहानी है और मुझे ज़िद्दी छोटे भाई की कैफ़ियत पढ़ गाँव की ठीक एक ऐसी ही स्थिति याद आई जिसमें बड़ा भाई छोटे भाई से आजिज आकर पूछता है, अच्छा तू बता दे एक में रहेगा या मुझसे अलग रहेगा, और छोटा भाई उसी चोट के साथ लौटकर कहता है, न मैं एक में रहूँगा न अलग रहूँगा, मैं तुम्हें डाहूँगा ! 'खैरा पीपल कभी ना डोले' गाँव के अनेक चित्र एक साथ चित्रपट पर फेंकता है और 'कर्ज़' में कुटुंब के भाइयों का परस्पर प्रेम इस तरह कुछ बन गया है कि प्रेमचन्दजी की याद आ जाती है, केवल उनके कथानक के प्रसंग की। 'अंधकूप' गाँव के आवारे की कैफ़ियत प्रस्तुत करता है, साथ ही सामाजिक दुरभिसंधि से प्रसूत सास-बहू का क्रूर चित्र भी। 'धतूरे का फूल' फिर गाँव की ज़मीन में शहर की क़लम है, जिसमें मास्टरजी के सूक्ष्म प्रतिबोध से किशोरी बेटी तो अपने रूप के सम्बन्ध में सजग हो ही जाती है, प्रौढ़ा भी 'मास्टरजी' के प्रति विचल हो उठती है। 'आँखें' संग्रह की सबसे अच्छी कहानियों में से है। दर्दभरा माहौल है जिसमें सुजनता और समाज का डर एक साथ पलते हैं, घृणा और सेवा के भाव एक साथ पनपते हैं। कहानी ने शहर का जीवन नंगा कर दिया है—जीवन जो अधिकतर परिणामतः जीवन है, मजबूरियों में घुटा।

कुल मिलाकर कहानियाँ बहुत सुन्दर हैं, मुझे अच्छी लगीं। कहानीकार को यद्यपि मुबारकबाद देते वक्त यह भी सुझाने से नहीं चूकूँगा कि सारी अच्छी-बुरी कहानियाँ एक साथ समूचे जीवन की रचनाओं के वर्गीकृत खंडों में एकत्र चाहे प्रकाशित निभ जाएँ, पर कोई तुक नहीं कि आप आकार के मोह से अच्छी-बुरी दोनों को समान संग्रह में नथ दें।

१२

अपनी ख़बर

व्यक्ति के सामाजिक स्तर पर व्यक्ति की आपवीती समाज की ही आपवीती हुआ करती है। जिस मात्रा में व्यक्ति निर्वैयक्तिक होकर समाज में क्रियाशील रहता है, उसी मात्रा में उसकी आपवीती समाज के जीवन का भी प्रतिविम्ब हुआ करती है। जूलियस सीज़र से लेकर कासानोवा, कैसर, गांधी, नेहरू, श्रीमती पण्डित, राजेन्द्रप्रसाद तक की सभी आपवीतियों का यही तथ्य है। और इस 'तथ्य' की प्राणवान् तथ्यता वस इसी में है कि उसकी तथ्यता को आँच न लगे। जीवन स्वयं एक प्रकार का वप्तिस्मा है और आपवीती लिखना तो वस्तुतः आग्नेय वप्तिस्मा है—

'अपनी खवर' पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र' की आपवीती है। 'अपनी खवर' में जीवन को, समसामयिक जीवन को, विगत घटित जीवन को, रूवरू देखने का प्रयत्न उग्रजी ने किया है और उस प्रयत्न में वे सफल भी हुए हैं। उग्रजी हिन्दी के मान्य लेखक हैं। पिछली आधी सदी वे साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में कर्मठ रहे हैं और उन्होंने उसी सावधि संसार का अपने माध्यम से इस आपवीती में अंशतः उद्घाटन किया है। भूत का उद्घाटन अक्सर लोग उसके गौरवीकरण के लिए करते हैं। वस्तुतः उसका उद्घाटन ऐतिहासिक निर्माण के लिए होना चाहिए, जिससे पाठक उस जीवन को, उसके चित्रपट को, वीती घटनाओं के 'पैनोरमा' को फिर से देख ले।

यदि घटे जीवन को आपवीती के माध्यम से दिखाना लेखक का मन्तव्य हो, विगत का यथातथ्य फिर से निर्मित कर देना उसे अभीप्ट हो, तो उसकी 'आपवीती' निःसन्देह सत्यानुभूति, ईमानदारी से निरावृत प्रक्रिया होनी चाहिए। वेशक, 'अपनी खवर' उस सत्यानुभूति और ईमानदार प्रक्रिया का प्रमाण है। हाँ, इस सम्वन्ध में दो-एक वातें भूलनी नहीं चाहिए। एक तो यह कि व्यक्ति जव आपवीती लिखता है तव साहित्य की विधा, भाषा और विषय की ही भाँति उसकी वुद्धि और वृत्ति चयनात्मक होती है। वह कुछ चुनता है, कुछ—

वस्तुतः वहुत-कुछ—छोड़ देता है। छोड़ इसलिए देता है कि सारा इस उपक्रम्य साहित्य के लिए सहायक, रसपोपक अथवा संदर्भानुकूल नहीं होता; इसलिए कि व्यक्ति अपनी अनेक स्थितियों को उन्हीं के डर से व्यक्त नहीं करना चाहता; इसलिए भी कि अन्य कुछ उसकी प्रतिक्रिया से प्रतिकूल प्रभावित होते हैं या मेल विठाये होते हैं। कुछ अंश तक सम्भवतः इसलिए भी कि वह छोड़ा हुआ तथ्य आपवीतीकार को अप्रतिम कर देता; उसके अहम् को वह आकृति प्रदान करने में सहायक न होगा; पाठकों पर वह प्रभाव न डालेगा, जिसकी वह अपने इस कृतित्व के माध्यम से अपेक्षा करता है। पुस्तक पढ़ने से प्रकट होता है कि उग्रजी की यह आपवीती आपवीतियों के इस सार्वभौम स्वरूप से विरहित नहीं है। कितना छोड़ा गया है, कितना कहा गया है, संचयित और सत्यजित में क्या अनुपात है—यह न तो मेरा जाना है, न मुझे जानना या कहना अभीष्ट ही है।

आपवीती, अहम् का एक प्रकार से, एक मात्रा में, उपवर्हण है। साहित्य की इस विधा को चुनना ही इस भाववोध का प्रमाण है। इस विधा की सफलता व्यक्तित्व के राज को रहस्य से चमकाने और व्यक्ति के स्वार्थ तथा उससे सम्वन्धित फूहड़पन—(जो अपने वारे में कहने के साथ ही रूप धारण करने लगता है) को छिपा रखने में है। व्यक्ति का आत्मविश्लेपण, सामाजिक विपमताओं, कुरीतियों, अन्यायों के साथ-साथ आत्मनिवेदन (तव अपनी कम-जोरी सामूहिक स्थिति का अंग और क्षम्य वन जाती है, आत्मालोचन का मायावी आभास उत्पन्न करती है) तव उसका औदार्य वन जाता है—सामाजिक गुण। वस्तुतः पाठक-आलोचक को आपवीती के अध्ययन-क्रम में यह भी देखना चाहिए कि लेखक, दरअसल, किस अंश में उदार दिखाई पड़ने वाले तथ्य-निरूपण के निकट या दूर है। प्रस्तुत आपवीती ने तुलसीदास के माध्यम से 'दिग्दर्शन' के रूप में जो अपने प्रतिपाद्य संकल्प के आरम्भ में 'प्रतिज्ञा' दी है—"मैंने क्या नहीं किया? किस-किसके आगे मस्तक नहीं झुकाया?···आशा के जाल में फँस, 'योर मोस्ट ओवीडिएन्ट सर्वेंट' वन···मैंने द्वार-द्वार, वार-वार मुंह फैलाया दीनता सुनाने,···भोजन और कपड़े के लिए पागल वना मैं यत्र-तत्र-सर्वत्र झक मारता फिरा, प्राणों से अधिक प्रिय आत्मसम्मान त्यागकर खलों के सामने मैंने खाली पेट खोल-खोलकर दिखलाया।"—वह प्रतिज्ञा आगे के प्रसंगों के उद्घाटन और आत्म-वर्णन के आर्जव से प्रमाणित होकर सिद्धान्त वन गयी है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि प्रक्षेपण से परे होकर भी, आपवीती के माध्यम के वावजूद, परोक्ष, दुरित होकर भी, वे स्पष्ट अथवा तर्कानुमानित घटनाएँ उस अवमान्य स्थिति को न विशेप छिपा ही पाती हैं न उसे आदृत ही कर पाती हैं। पर क्या इतना कह देना भर यहाँ पर्याप्त न होगा कि जिस सादगी से उग्रजी ने

संचित घटनाओं के बन्द खोले हैं, जिस सजीव और प्रवहमान संज्ञा से उन्हें वर्णन-स्रोत में ढाला है, वह साहित्यांकन का सफल शिल्प है। और आपबीती यदि साहित्यकार की है तो निःसन्देह अधिकाधिक हम उसके शिल्प को उसके कृतित्व और उसकी प्रक्रिया में खोजेंगे।

अपने साथियों के प्रति प्रतिक्रिया का, जीवन में घटी घटनाओं की चेतना से आपबीती में रूप धारण कर लेना स्वाभाविक है। वयस्य की सामाजिक पदवृद्धि को वयस्य एक विशेष मुद्रा से, रागाराग की प्रतिक्रिया से देखता है। वयस्य, काल के प्रसार के बावजूद, वयस्य को अपनी दशकों पहले की ही रूप-रेखा में, आकार-प्रकार में, देखता है; काल को घटाकर देखता है, जो साधारणतः उससे भिन्न जनता की स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। साधारण जनता तो लेखक के वयस्य को उसके प्रभामंडल के साथ देखती है, चाहे वह प्रभामंडल लेखक के लिए आलोकपुञ्ज न हो। श्री कमलापति त्रिपाठी के संदर्भ की लेखकीय प्रतिक्रिया संभवतः कुछ पाठकों को न रुचे, पर निश्चय, व्यक्तिगत तुलनात्मक दर्शन और रागात्मक प्रतिक्रिया के बावजूद, उग्र का वह अपना दर्शन है जो इसे भी दबे-दबे घोषित करने से नहीं चूकता—फिर भी, कहाँ वह, कहाँ मैं!

निराला के सम्बन्ध की अपनी प्रतिक्रिया भी, जो 'प्रवेश' और पूरे पाठ दोनों में लिखी गयी, संभवतः लेखक की इसी चेतना को प्रकाशित करती है। उग्रजी के यथोचित सम्मान का अभाव भी संभवतः इसका कारण हो सकता है, पर, बेशक, उनके अपने मानदंड में निराला के व्यक्तित्व का आकार उनके जाने हुए, अपने बोध के अनुसार ही हमें स्वीकार करना होगा। हम उसमें चाहे निराला के सापादपुरुषकाया के अनुकूल अपनी भावना के अनुसार आस्था रखें। श्री त्रिपाठी के प्रति अभिव्यक्त उग्रजी की प्रतिक्रिया से, साहित्यकार के नाते, हम कुछ दुखी हो उठते हैं। राजनीति की तथाकथित ऊँचाई को साहित्यकार क्यों प्रमाण माने? उस ऊँचाई को हस्तगत करने के लिए हमें किन-किन उपायों का, किन-किन अमर्यादाओं का अवलंबन करना पड़ता है? गर्वोक्ति से भी प्रतिष्ठित उग्रजी की आपबीती का वह प्रसंग साहित्यकार का पद 'कोई हमसे पॉलिटिक्स में भिड़ाए!' वाले राजनीतिक खिलाड़ी के पद से हेय कर देता है। उस प्रबल वाग्धारा की—उस पत्ररूप वाग्मिता की, जो लेखक ने अपनी आपबीती के पृ० ११८ से पृ० १२२ तक बहायी है—वस्तुतः आवश्यकता नहीं थी। वह प्रसंग सर्वथा प्रसंगेतर न होते हुए भी अकारण है, आत्मपरक।

उग्रजी हिन्दी के शैलीकार हैं। गद्य की ऐसी सबल शैली कितनों ने लिखी है? यह आपबीती भी उस सरल, शक्तिम शैली का प्रमाण है। यह प्रखर—शीलवान नहीं कहूँगा—लेखक कवि, उपन्यासकार, नाट्यकार, कहानीकार तो

जाना हुआ था, पर वह इतना सुन्दर, इतना आकर्षक स्वकथाकार भी होगा, इसकी आशा मुझे इतनी न थी। उपन्यासकार होने के कारण ही इस आपवीती में भी उसके अनेक चरित्र सुस्पष्ट बन पड़े हैं—बच्चा महराज, भानुप्रसाद तिवारी, राममनोहर दास, नागा भगवतदास, सामाजिक तथ्यता की दृष्टि से चरित्र हैं।

नाटक-मंडलियों का जो समुचित चित्र उग्रजी ने हमारे सामने रखा है, वह हमारा जाना नहीं है। पर उन्होंने उसे भुक्तभोगी होकर लिखा है। उन्हें सीता बनना पड़ा है। नाटक-मंडलियों में जहाँ पुरुष ही नारी बनता है, पुरुष की दुर्गति हुए बिना कैसे रह सकती है? जहाँ मात्र पुरुषों या मात्र नारियों का समुदाय रहता है, वहाँ पुरुषों में नारीत्व अथवा नारी में पुंसत्व की स्वाभाविक प्रक्रिया होती है। हमारे स्कूल, साधु-संस्थाएँ, जेल, नाटक-मंडलियाँ, पुलिस, नर्सों के वासस्थान इसके प्रमाण हैं। फिर, जहाँ पुरुष होकर भी नारी बनने का कार्य होता है, उसकी स्थिति समझी जा सकती है। इस देश में पुरुष होते नारी बनने की प्रक्रिया गर्व से की जाती है, प्रव्रजित साधु—सूर आदि तक —इससे वंचित नहीं हैं। जहाँ पुरुष कृष्ण को पति और अपने को प्रिया नारी बनाकर सखी-समाज की कल्पना करता है, वहाँ भला इस समाज-विरोधी प्रवृत्ति का अभाव क्योंकर हो सकता है? नाटक-मंडलियों का यह घिनौना तथ्य भुक्तभोगी लेखक ने खोलकर रख दिया है।

उग्रजी की इस आपबीती का नाम है 'अपनी खबर'। यह प्रश्न स्वाभाविक ही हो सकता है कि क्या वह सचमुच ही 'अपनी खबर' है? इसमें यथानाम होकर लेखक ने क्या वास्तव में अपनी खबर ली है? शायद नहीं। अपना वर्णन इसमें ज़रूर है, खासा साहस के साथ वर्णन है, पर मैं नहीं समझता कि इसे हम अपनी खबर लेना कह सकते हैं। इसमें एक और स्थिति का बोध हमें अपेक्षित होता—समसामयिक साहित्यकारों का प्रतिभासित, प्रतिबिंबित जीवन। आपबीती, सही है, व्यक्ति की अपनी बीती है, पर समाज में व्यक्ति की अपनी बीती सर्वथा अपनी ही बीती किसी अंश में नहीं होती। वह एक वातावरण में, जिसमें हम-आप सभी होते हैं, मूर्त होती है।

व्यक्ति केवल व्यक्ति नहीं है, यदि वह समाज की इकाई के रूप में, साहित्यकार जगत् की इकाई के रूप में निरावृत नहीं है तो उसका प्रयास अधूरा है। व्यक्ति अपने में नंगा होता है, और नंगे व्यक्ति को देखना एक घिनौनेपन का अंग बनना है। लियोनार्दो ने सही लिखा है कि नंगापन स्तुत्य नहीं है, कि वस्तुतः यदि इंद्रियों से सनाथ व्यक्तियों के मौखिक सौंदर्य और आकर्षण की बात न हो, नंगेपन के आकर्षण पर निर्भर करना हो, तो विधाता को अपनी छेनी ही रख देनी पड़े, सृष्टि ही रुक जाए। गरज़ कि व्यक्ति, जैसे परिधान के बिना नंगा

है, वैसे ही साहित्यकार भी जब आपबीती लिख रहा है तब उसमें सावधि साहित्यिक संसार भी, अपने से परे का, अपने सामने का, चित्रित करे। 'अपनी खबर' इस पक्ष में कुछ कमज़ोर है। हम चाहते हैं कि 'मतवाला', 'विक्रम', आदि का संसार, बंबई के फ़िल्मों के वातावरण का, उसमें साहित्यकारों के उदय-अस्त का संसार प्रतिबिंबित ही नहीं ज़रा खुलकर आया होता।

फिर भी, यह आपबीती जैसी है, अपने में खूब है। उसकी भाषा, शैली, अभिव्यक्ति, अत्यंत सरल, प्रवहमान और आशुग्राह्य है। स्वयं लेखक का प्रायः सर्वांग, पुरोहित परिवार के कठिन साधनाभाव के जीवन से उठकर अपने कथावधि के आकार तक, उसमें खुल पड़ा है। हम इस दिशा की इस स्वादु आपबीती का स्वागत करते हैं और जिस सुरुचि से इसके प्रकाशकों ने इसका प्रकाशन किया है, उसके लिए उनका साधुवाद करते हैं।

१३

शिखरों का सेतु

प्रस्तुत संग्रह शिवप्रसादसिंह के निबन्धों का है, यद्यपि उन्होंने उन्हें 'गद्य-कृतियाँ' कहा है, और नहीं जानता उन्हें मेरा निबन्ध कहना लेखक को रुचेगा या नहीं। निबन्ध कुल २२ हैं और चार वर्गों में विभक्त हैं—१. अतीत के तोरण, २. अबोले बोले, ३. पुष्प के अभाव में, ४. निर्बन्ध चिंतन। इनमें तीसरा अनुभाग—पुष्प के अभाव में—सर्वोत्तम है, क्योंकि इसकी भाषा, भाषा है, आशुधार्य, समझने के लिए लिखी गई। निर्बन्ध चिंतन के निबन्ध 'चिंतन' कम हैं, 'निर्बन्ध' अधिक। आरम्भ में जो संकलन की भूमिका निबन्धों की परिचयात्मक भूमि प्रस्तुत करती है, और जिसका शीर्षक सामान्य को असामान्य रूप से कहने की परिपाटी में 'आशाबंध' दिया गया है, वह स्वयं निबन्ध है। भाव उलझे होने के बावजूद, वह, असामान्य शब्दों के बोझ से, चिंतन का आभास प्रस्तुत करता है। इस शैली में जैसा अन्यत्र भी उसके निबन्धों में प्रकट है, पाश्चात्य दर्शन-विवेचन के समानान्तर बुद्धि-प्रकाश हुआ है, जिसके 'कूट' को समझने के लिए मूल अंग्रेज़ी शब्द भी अक्सर दे दिए गए हैं (देखिए पृ० ८ और १२—आशाबंध, पृ० १३, १४, २१, ४२, ४३, ४७ आदि)। महत्तर के विन्यास को अपने परिवेश में भर अपने को भी पाँच सवारों में गिनने की यह अदम्य प्रवृत्ति हममें से अनेक में है, जिससे लेखक वंचित नहीं (देखिए पृ० १२)।

अब ज़रा शैली पर एक नज़र डालें। मैंने उलझे हुए विचारों पर असामान्य शब्द-ध्वनि का बोझ लादने की ओर ऊपर संकेत किया है, नीचे उनके कुछ उदाहरण दे रहा हूँ—

"प्रकृति और मनुष्य के बीच संघर्ष को मिटाकर एक संतुलित समतोल-समवाय स्थिति लाने में विज्ञान का योगदान अतुलनीय है, किन्तु विज्ञान की आंतरिक प्रक्रिया के सही ज्ञान और उसके द्वारा होनेवाले परिवर्तनों के वास्तविक स्वरूप की जानकारी के अभाव में हम जीवन के ऊपरी

सतह पर होनेवाले वीचि-विवर्त को ही सत्य स्वीकार कर लेते हैं।" (आशावन्ध, पृ० ६)

"इन यात्रा स्केचों के अतीत और भविष्य की परस्पर-विरोधी दिशाओं में लम्वायमान छायाओं का सम्मुच्चय-संयोजन भी दिखाई पड़ेगा जो इन्हें केवल ऐतिहासिक घन-चित्रों का कटा कवन्ध ही नहीं वनाता वल्कि जीवित व्यक्तित्व भी प्रदान करता है। और 'श्मशान' तो मानो मृत्यु के काले पटल पर मनुष्य जाति की पूर्वापर आगत-अनागत, अस्ति-आविः की विकास-यात्रा का कच्चा चिट्ठा ही टांके दिए दे रहा है।" (वही, पृष्ठ १०)

यह प्रशस्ति-वाचन यदि आलोचक करता तो कहीं अधिक समीचीन होता, यद्यपि उसके लिए भी उद्धरण के अंतिम वाक्य में 'दिए' का इस्तेमाल समझ सकना शायद कठिन होता, 'अस्ति-आविः' की वात अलग है।

शव्दों के कुछ उपयोग अजीव और अर्थहीन भी हुए हैं, जैसे 'वाह्य फलक का गवाक्ष' (आशावंध, पृ० ५), 'नैरंतरिक प्रयत्न', 'गवाक्ष······ पारदर्शी' (वही, पृ० ८)—गवाक्ष तो सम्भवतः गाय की आँख या खिड़की के रूप में आरपार शून्य होता है, क्या उसे पारदर्शी कहना उचित होगा ? 'साहित्यिक भूगोल के चिन्ता-शिखर' (वही, पृ० १०), 'नव दुर्गा की साकार सम्मिलित प्रतिमा का पुंजीभूत धनविग्रह' (पृ० १०) तो विद्वान् को भी चकित कर देंगे। 'अनुमान लगाया' (पृष्ठ १३) की जगह शायद 'अनुमान किया', अटकल या अन्दाज लगाया ठीक होता। सम्भवतः तारा के लिए 'रेशमी दीवारों' (पृष्ठ २७) कहना सम्भव न रहा होगा, क्योंकि रेशम का आविर्भाव उस काल न होने से उसकी सूचना काल-विरुद्ध-दोष उत्पन्न करेगी। 'आश्वासन-भरे स्वरों से पूछा' (पृष्ठ २९), यह वहुवचन क्यों ? 'हिरण-सा' (पृष्ठ ३४)—'हिरन' अथवा 'हरिण' लिखना सही होता—'विद्यूल्लता-सी देह-यष्टि' (पृष्ठ ३६)—क्या 'लता' और 'यष्टि' परस्पर-विरोधी नहीं ? 'स्वेद के ओस-कन' (पृष्ठ ३६)—क्या अकेले स्वेद के कन काफ़ी न होता ? फिर 'स्वेद' है ही तो 'ओस' क्यों ? 'शयम्' (पृष्ठ ३७)—क्या केवल 'शम्' से काम नहीं चलता ? 'अट्टहास भी लगाया' (पृष्ठ ४३)—क्या 'करने' से अट्टहास न वन पड़ता ? 'परावलंविता से छुटकारा' (पृष्ठ ४४)—शायद सामान्य 'पुरावलंवन' से लेखक का काम न चल पाता। 'रेशमी दुपट्टों का तीव्र आघूर्णन' (पृष्ठ ४८) कितना कटु है, 'रेशमी' दुपट्टे के वावजूद ! 'श्वास की गर्मी से किसी के वक्ष पर लगाया चंदन का लेप सूख गया' (पृ० ४९)—क्या चंदन का लेप कृष्ण के साथ नाचते-नाचते वीच में ही लगा लिया था ? अगर नाच के आरम्भ में लगाया था तो लेप चाहे जितना भी गाढ़ा हो उसके सूखने में

श्वास की गर्मी की आवश्यकता अथवा देर न होगी। गोपियों की अंगों की रगड़ से कुचली पद्ममाला पर अगर 'झुंड-के-झुंड काले भौंरे मंडरा रहे' होंगे (वही) तो रास का लाभ चाहे सम्भवतः हो सके, दुष्यन्त के एक भौंरे के पीछे भागने की भाँति, झुंड-के-झुंड कृष्णों को झुंड-के-झुंड भौंरों के पीछे भागना पड़ेगा। 'उन्नत प्रशस्त ललाट' (पृष्ठ ६०) नारी का सौंदर्य नहीं पुरुष का होता है, जैसे 'सिंहगति' (वही) भी। 'हाथों की नीलरक्त शिराएँ विद्युत्-प्रवाहिनी नलिकाओं की तरह उद्भासित' (वही) कष्टोपमा है। 'पुकार दिए जा रहे हैं' (पृष्ठ ६३) में 'दिये' की जगह क्या कुछ और नहीं हो सकता था? 'अन्धगुहा में घुसकर झाँको' (पृष्ठ ७०)—अंधगुहा में घुस जाने के बाद भी 'झाँकने' की आवश्यकता होगी? 'संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन' (पृ० ८४), कालभैरव का क़लाम नहीं हो सकता क्योंकि 'संस्कृति' शब्द, जर्मन शब्द 'कूल्तूर' का अनुवाद, आज का लाक्षणिक शब्द है, और 'संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन' का प्रयोग हिन्दी में पहली बार 'प्रतीक' में सन् '४७ में हुआ था, गढ़ा हुआ 'इन्टर्डिपेन्डेन्स ऑफ़ कल्चर्स' का अनुवाद है। पृष्ठ ८५ पर लेखक ने जो सैंधव सभ्यता की खुदाइयों में उपलब्ध सामग्री का ज्ञान दृप्त बालाकि के मुँह में रखा है वह काल-विरुद्ध है। 'मंत्रों से दिशाएँ सुरभित हो उठीं' (पृ० ८७) में 'मंत्र' सुरभि अथवा गंध का स्थान ले लेते हैं।

'मंडल मिश्र की डायरी' लेखक के प्रेरित भाव-लेखों में अच्छा बन पड़ा है, यद्यपि उसकी दिशा उचित ही उसके गुरुवर की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' द्वारा प्रदर्शित है। 'अतीत के तोरण' के निबन्धों की शैली प्रौढ़ नहीं कही जायगी, अति सामान्य और अति असामान्य के कुयोग से उनमें शैली की अनुचित संकरता आ गयी है। गद्यकाव्य लिखता-लिखता लेखक परुष उद्धरणात्मक पादटिप्पण्यात्मक हो उठता है, पाश्चात्य खोजों के अधकचरे अधपचे आँकड़े भर देता है और अकारण उद्धरण निबन्ध को फूहड़ फुला देते हैं। 'दक्षिणेश्वर ने कहा' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। नतीजा यह हुआ है कि कई बार अंग्रेजी माध्यम से उठाए प्रतीक शब्द अजीब ध्वनि उत्पन्न करते हैं जैसे 'हीपोटैमस' (पृ० १४), शायद हिपोपोटैमस—दरियाई घोड़े या जलहस्ती से लेखक का तात्पर्य है—'मडूसा' (वही), 'प्लूटार्च' (पृ० १७, प्लूतार्क ?), 'होल्डा' (वही), 'नूत' (वही), 'मेडोना' (पृ० १८), 'क्रैटे' (वही)। तारा अथवा राधा का व्यास को पत्र भेजना आज के सन्दर्भ में कुछ अजब नहीं, पर शायद उनके सम्बोधन वाक्य और अन्तिम नामोल्लेख संभवतः भिन्न होंगे। 'टेराकोटा का साक्ष्य' निबंध में राधा का पत्र पटरियों पर लिखा होना वस्तुतः अब चर्वितचर्वण प्रकार बन गया है, उसके द्वारा पाठक में कुतूहल का भाव नहीं जगाया जा सकता। राहुलजी द्वारा उसका उपयोग अब बासा हो चुका है। साथ ही राधा ने अपने

पत्र में जो 'स्तन-मंडल की अनुपम थिरकन' (पृ० ४८), 'नितम्बिनी की विलम्बित गति' (पृ० ५०) आदि का जिक्र किया है वह नारी की भावदृष्टि नहीं, राधा की नहीं, पुरुष की है, लेखक की, वैसे ही 'कृष्ण के शरीर से सटी गोपियों' की 'नीवी की गाँठ' का खुल जाना (पृ० ४८) भी पुरुष लेखक का ही दृष्टि-विकार है। 'तीन घेरे : एक क्षितिज' नामकरण मुझे नहीं भाया, इसमें फ़िल्म 'ये तीन बत्ती : चार रास्ते'—याद नहीं, फ़िल्म के नाम में दो बत्ती है या तीन—की ध्वनि है जिससे आज हिन्दी की अनेक कहानियाँ और उपन्यास भी अभिहित होने लगे हैं। उसमें यम-यमी के सम्बन्ध का जो लेखक ने सामाजिक राज खोला है वह उसका इतिहास के प्रति व्यभिचार है; विशेषकर 'चार चरण' में कृष्ण और 'पशु-प्रेम मानुष-द्वारे' में उर्वशी और पुरूरवा की प्रेम-कथा के सम्बन्ध में दिया लेखक का 'वर्डिक्ट' सर्वथा अग्राह्य है। 'पुष्प के अभाव में' और, उससे कुछ उतरकर, 'निर्बंध चिंतन' के लेख अच्छे-खासे पठनीय हैं। अनेक बार लेखक की शैली ने कहानी का रूप ले लिया है जिस कला में वह निःसन्देह निपुण है। निराला, चेखव और हेमिंग्वे मुझे निबन्धों में विशेष अच्छे लगे। काम के सम्बन्ध में मेरी धारणाएँ लेखक से भिन्न हैं और पास्तरनाक-सम्बन्धी विचार तो शायद मेरे अतिरिक्त औरों को भी अग्राह्य बने, बावजूद इसके कि उसके प्रति सोवियत ने अन्याय किया है, जो साहित्य की दिशा और विनियमन सर्वथा राजनीतिक हो जाने का स्वाभाविक परिणाम है। 'डॉक्टर जिवागो' उच्चकोटि का उपन्यास है पर उसे पढ़कर मुझे अभितृप्ति इस कारण नहीं हुई कि मैंने देखा, जिस राष्ट्र ने मरणावस्था से उठकर इतनी शक्ति अर्जित की और निर्माण के पथ पर इतने यशस्वी डग भरे उसके संघर्षमय विजयी विकास की ओर उपन्यासकार को इतने बड़े उपन्यास में संकेत तक कर देना अभीष्ट न हुआ। लेखक ने मित्रवादी आलोचकों की जो निंदा की है, उचित ही है, पर पुस्तक भेंट करने वालों की कृति को 'मिठाई' मानकर उसे साधुवाद करने—उसके कृतित्व का मूल्यांकन करने—की बात तो लेखक के उन गुरुवर ने ही तीन साल पहले इलाहाबाद के लेखक-सम्मेलन में उठायी थी जिनको लेखक ने हिन्दी और अपभ्रंश दोनों में अपनी यह कृति समर्पित की है। सो, मुझे डर है, उसकी पहली चोट, उन पर ही पड़ेगी। निश्चय ही 'जीवन यात्रा में थकने पर इन शिखरों का सहारा' नहीं लिया जा सकेगा, क्योंकि उनके ऊपर भयानक कृष्णकाय शब्दमेघों का बोझ मँडरा रहा है।

१४

फिर बैतलवा डाल पर

पुस्तक का नाम जितना असामान्य है, उतना ही असामान्य उसका रचित अन्तर है। दोनों स्पृहणीय हैं। एक बैठक में इसे समाप्त कर गया। जितना सस्पेंट वैताल की प्राथमिक कहानियों से है उससे कम इन 'रिपोर्ताज स्केचों' में नहीं है। टटकी सोंधी सुगंध इनसे निकलती है, कालिदास की 'मालभूमि' की नाईं, सम्बन्धित गाज़ीपुर-बलिया की सांध्य-आंचलिक भूमि से उठी।

इनमें से एकाध लेख—मनबोध मास्टर की डायरी के माध्यम से—'आज' में पढ़े थे, पर रत्न का सौन्दर्य तो उसकी जड़ी भूमि के सन्निध्य से निखरता है, इससे उन्हें औरों के साथ आज एकत्र पढ़कर अभितृप्त हुआ। लेख विविध हैं, प्रकारान्तर से लिखे, विभिन्न संस्कारों को प्रतिबिंबित करते हैं। ग्राम जीवन का पहला प्रतिबिंब शिवपूजन सहाय ने अपनी 'देहाती दुनिया' में फेंका था, दूसरा रेणु ने अपने 'मैला आंचल' में, पर उनकी विद्या भिन्न थी, इनकी भिन्न है, दिशा भी भिन्न है, और भूमि प्रायः क्वाँरी है, आकर्पित, अनबोई। फिर भी इन अनेकभूमिक स्केचों में एक सूत्र भी दौड़ता है जो इनको पिरोकर एकत्र करता है, नयता है। वह सूत्र है, मास्टर।

परिस्थितियाँ मास्टर पर घटित होती हैं, मास्टर परिस्थितियों पर घटता है, पर कहीं भी दोनों का, प्रकृति प्रसव की तरह, परस्पर विराग नहीं होता। ग्राम जगत् का समूचा घिनौना, स्वस्थ-अस्वस्थ, मोह विराग संयुक्त वैविध्य मास्टर पर एकत्र चोट करता है, जिसे और घनाकर मास्टर स्वयं इस जीवन के मर्म पर लौटाकर मारता है।

स्केच असामान्य चुटीले हैं, ग्राम जीवन के उद्‌घाटन में हिन्दी-जगत् के अजाने, सादे और मर्महर, सच—नाविक के तीर। हिन्दी में व्यंग्य हैं, व्यंग्य-निबन्ध हैं, पर इन व्यंग्य स्केचों का व्यक्तित्व अपना है, नितांत अपना। कहीं भी लेखक ग्राम जीवन को मानस के काल्पनिक प्रक्षेपण द्वारा नहीं देखता, वह उस जीवन का स्वयं अंग है, स्वयं उसका वह स्वस्थ विष जो उसके व्रणों को

औषधि भी है। परिस्थितियों का उद्घाटन सर्वेक्षिटव रूप में हुआ है। 'किस चित्रकार ने आलेख्य लिखा'—दाँते कहता है—'जो उसका अंग न बन सका?' (हू एवर् हू ए पिक्चर्, हू कुड नाट बी इट?)

व्यंग्य और हास्य की परिणति उनके प्रभाव विधान में है न फूहड़पन में, न परिस्थिति की कटकार अनुभूति में। लेखक हमारे साथ परिस्थितियों पर हँसता है, साथ ही उनका अंग बन हमारा हास्यास्पद बनने से भी नहीं डरता, कारण कि वह तब स्वयं पाठक का सावयवीय भी बना रहता है। परिस्थितियाँ उसकी नहीं पर उनका उद्घाटन, उनपर चुटीला व्यंग्य, स्वयं उनके संहार का श्रीगणेश है। लेखक समाजनेता जर्राह है।

और वह शैलीकार भी है। शैली उनकी परिमार्जित फिर भी बड़ी टकसाली है, प्रवहमान है। ग्राम जीवन पर वह लिखता है, पर वह ग्राम्य किसी प्रकार नहीं। शैली उनकी शुद्ध नागर है। इसी नागर शैली में प्रस्तुत संग्रह में उसने प्रायः दो दर्जन स्केच लिखे हैं। उनके कवि-सम्मेलन, सुर्टिफिकेट, सभापति, मास्टर और नेता, चौबेजी का चमत्कार (जिसका शीर्षक बजाय इसके मैं 'धरमधक्का या धरतीफार' रखता) अतीव मार्मिक हैं। गांधीजी और काली माई, फिर बैतलवा डाल पर और निशानी अँगूठा : जिंदाबाद लेखनी की शल्यक्रिया के नमूने हैं। वर्ण्य विषय को पैने निर्मम आघात से लक्ष्य बनाया गया है और उसकी प्रक्रिया शैली का विस्तार है। वर्णन-शैली कहानी का रूप धारण करती है पर उसके खत्म होते ही समाज का वर्ण्य रूप साकार हो उठता है, व्यंग्य मूर्तिमान हो उठता है। प्रगतिशील कृतित्व के इस अभिनव धनी, व्यंग्य कृती का अभिनंदन करता हूँ।

१५

'मा निषाद....!'

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के सभापति श्री चन्द्रबली पांडे का अभिभाषण मेरे सामने है। मैंने इसे आद्योपान्त पढ़ा है और फलस्वरूप मुझमें कुछ प्रतिक्रिया हुई है। पांडेजी मेरे सुहृद् हैं, काफ़ी घने; और यद्यपि हम दोनों का मिलना बहुधा नहीं होता, एक-दूसरे के लिए हममें अपार स्नेह है। प्रस्तुत अभिभाषण यदि स्वतन्त्र लेख होता तो मैं उस पर मत प्रकाश करने का आयोजन न करता, परन्तु चूंकि एक उत्तरदायित्वपूर्ण पद से यह भाषण दिया गया है, मैंने उस पर लिखना अपना कर्तव्य समझा।

पांडेजी विचारते और लिखते हैं। जीवन उनका त्याग और तप का है। लिखने के साधन उनके पास हैं और उनसे बढ़कर उनके पास साहस है। वे प्रायः लिखते हैं और यद्यपि उनके लेखों में प्रकाशित मत से मेरा सर्वथा विरोध रहा है, मैंने उनके अध्यवसाय को सराहा है। अस्तु, यह तो हुआ व्यक्तिगत भावांकन। अब उनका अभिभाषण।

अभिभाषण विद्वत्तापूर्ण कहा गया है, कहा जा सकता है। लेख अथवा भाषण को विद्वत्तापूर्ण बनाने के जो साधन हैं, उनमें से अनेक का प्रयोग उसमें हुआ है। उनमें से एक तो आकार ही है—डिमाई में ३६ पृष्ठों का छपा हुआ अभिभाषण। अवतरण-उद्धरण इस भाषा के प्राण हैं और प्रत्येक साँस में दिये गये हैं। कहने की बात इन्हीं के ज़रिए कही गयी है। इनके जंगल में 'प्रतिज्ञा' खो गयी है, यद्यपि 'सिद्धान्त' का पथ जहाँ-तहाँ स्पष्ट हो जाता है। इतने अवतरणों से पाण्डित्य का व्यक्तीकरण तो निश्चय हो ही जाएगा, चाहे कोई यह कह ले कि इन लम्बे अवतरणों को पूरा-पूरा देने से मुद्रित भाषण की काया तो पीवर हो गयी है, परन्तु उसकी प्रतिपाद्य-शक्ति और कमज़ोर पड़ गयी है। संभव है, कोई यह भी कहे कि लेखन और अभिभाषण में 'ध्वनि' या 'सजेश्चन' का भी एक राज़ होता है जो प्रमाणतः सप्रयास बौद्धिक चितन्वन से नष्ट हो जाता है।

सो इस अभिभाषण का सर्वाधिक स्पष्ट भाग है इसके उचितानुचित उद्धरणों का 'समरस', फिर मार्क्स-फ्रायड के प्रति कुछ उद्‌गार भी इसमें हैं और अन्त में, पैंतीसवें पृष्ठ पर, एक पैरे में सम्मेलन के लिए कुछ सुझाव हैं जिनका गौणत्व उनके लिए स्थानाभाव और वक्ता की जल्दबाज़ी से सिद्ध है।—वास्तव में वक्ता भी क्या करे? साल-साल भर बाद जब हम मिलते हैं तब साहित्य-चर्चा करें, कुछ अपने ज्ञान का लाभ श्रोताओं को करायें या कभी न पूर्ण होने वाली लम्बी-लम्बी योजनाएँ रखें। इसी कारण साहित्य की मीमांसा ने इस भाषण का पुरोभाग, विशिष्ट और प्रायः सारा भाग, स्वायत्त कर लिया है—मीमांसा यद्यपि पद्यप्राण है, मीमांसाप्राण नहीं। इसी मीमांसा-प्रयोग में अथवा जहाँ-तहाँ स्वतन्त्र रूप से मार्क्स और फ्रायड के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी फूट पड़ी है। मीमांसा और इन प्रतिक्रियाओं के निगदन के बाद आखिर समय और स्थान ही कहाँ रह जाते हैं कि कर्णधार कुछ सुझाव रखे और नयी धाराओं की ओर रुख करने का प्रयास करे!

इस अभिभाषण की क्रमिक आलोचना करने से पूर्व सरसरी तौर से पहले हम उन दो पहलुओं पर एक नजर डाल लेना चाहेंगे जो इसके कलेवर के आलोक-बिन्दु हैं। उनमें से पहला तो यह है कि जीवन और लेखन में पटु और साहसी होता हुआ भी वक्ता अपने को रूढ़ियों के जाल से पृथक् न कर सका। यदि इस साहित्यिक मीमांसा में स्वयं वक्ता का स्थान खोजा जाय तो कहीं न मिलेगा। एक स्थल भी स्वयं वह इस मीमांसा में नहीं लेता, सारा विस्तार उसका Argumentum ad Hominem का है।

मेरा विश्वास है कि उन आचार्यों से कहीं अधिक ज्ञानी, कहीं अधिक चिंतक, मीमांसा के क्षेत्र में, वह स्वयं है और अच्छा होता कि वह बजाय इन आँकड़ों की ऊबड़-खाबड़ पृष्ठभूमि के—जो पढ़ते समय साँस नहीं लेने देती, अपनी कुछ कहता। इस बोझिल भारती का नखशिख, उसकी काया को आपादमस्तक आभरणों से ढके बिना भी, सँवारा जा सकता था। परन्तु यहाँ तो उसे कोई यदि सीधी बात भी कहनी है तो वह पद्य के मुँह ही कहेगा, अवतरणों पर ही विराम लेगा।

अपने को प्राचीनता की मीमांसा से वह हटा नहीं सकता। वह संभवतः यह भी नहीं सोचता कि उसके अवतरित आचार्य अपने समय के अर्वाचीन हैं। आज की मीमांसा में नये मान, नयी परिस्थितियाँ, प्रस्तुत हो गयी हैं। उनका उपयोग न करना अथवा उनसे उदासीन हो जाना बड़ी साहित्यिक न्यूनता होगी।

मानदण्ड बराबर नये-नये बनते गये हैं। कालिदास ने स्वयं अपने काल में 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' का नया मानदण्ड रखा था। उसी मानदण्ड का

अभाव जब कुछ सदियों बाद भवभूति को खला तो उसने 'उत्पत्स्यते ममतु कोऽपि समानधर्मा' की कामना की। किन्तु राजमार्ग पर चलने की इच्छा से खड़े हुए वक्ता ने जब पीछे की ओर अपना रुख कर लिया तब आगे की ओर उसकी प्रगति क्योंकर हो ?

वक्ता की प्रतिक्रिया और आक्रोश के कारण हैं मार्क्स और फ़ायड। उसकी धारणा है कि पाश्चात्य-प्रभावित आलोचना मार्क्स और फ़ायड के विचारों से अनुप्राणित है और इस आलोचना का उपयोग हिन्दी प्रगतिवादी करता है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक साहित्यिक मीमांसा में, साधारणतया और मोटे रूप से, दो ही आलोचनात्मक दृष्टिकोण हो सकते हैं—एक पाश्चात्य, दूसरा पौर्वात्य। पाश्चात्य दृष्टिकोणों में निस्सन्देह एक मार्क्सवादी भी है। पौर्वात्य में प्राचीन आचार्य—दण्डी, भामह, वामन, मम्मट, कैयट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, राजशेखर, विश्वनाथ, पण्डितराज, आदि।

पाश्चात्य समालोचना के सिद्धान्त अपेक्षाकृत आधुनिक हैं, आधुनिक साहित्यिक प्रयासों की मीमांसा करते हैं, आधुनिक साहित्यिक प्रयासों के अनुकूल ही वे निर्मित भी हैं। प्रगतिशील साहित्य-धारा के अनुकूल स्वयं उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। नित्य उनके मानदण्ड परिस्थितियों का अनुसरण करते रहते हैं। साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य से है, मनुष्य जीवित प्राणी है, और उसके नित्य के जीवन से, अध्यवसाय-प्रयास से, प्रेम-घृणा से, राग-विराग से साहित्य की काया निर्मित होती है। आज का जीवन जितना सार्वजनिक है उतना वह कभी न था। पाश्चात्य समालोचक का दृष्टिकोण इन नवीन परिस्थितियों को अपने आलोक-मार्ग में रखता है।

पौर्वात्य प्रणाली कभी समीचीन होने पर भी आज अधिकांश में निरर्थक हो जाती है। किन अंशों में आज का हिन्दी काव्य-साहित्य समीक्षा में पाश्चात्य मानदण्ड की अपेक्षा करता है, यह विस्तृत रूप से विद्वान् वक्ता को बताने की आवश्यकता नहीं; यह वह स्वयं जानता है। बस इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि छन्द, भाव, उद्देश्य, दृष्टिकोण, शैली, सब कुछ में भारतीय और हिन्दी गद्य-पद्य-साहित्य आज पश्चिम से अनुप्राणित है—अनेकार्थ में पूर्व से अपेक्षाकृत अधिक।

प्राचीनकाल में भारत में साहित्य का निर्माण वर्गविशेष के प्राधान्य में वर्ग-विशेष के मनोरंजनार्थ हुआ, इसी से लिखा भी वह उस भाषा में गया जो जनसाधारण की भाषा न थी। इस बात को न भूलना चाहिए कि संस्कृत नाटकों में भृत्य, नारी, आदि प्राकृत में और राजा, ब्राह्मण, पुरोधादि (विशिष्ट वर्गवाले) संस्कृत में बोलते हैं। नारी का स्थान इस अर्थ में अपने पति के पास नहीं, उस भृत्य के पास है जिसकी भाषा वह बोलती है—चाहे वह सीता

हो, चाहे शकुन्तला। चूँकि प्राचीन साहित्य सार्वजनिक न था, इसलिए तात्कालिक असार्वजनिक समीक्षा-सिद्धान्त ही उसकी व्याख्या कर सकते थे और आज जब भारतीय साहित्य ने सार्वजनिक बाना पहन लिया है—पश्चिम के दिये प्रजातान्त्रिक शासन की डोर तक सम्हालने लगा है—प्राचीन अपूर्ण आलोचना-सिद्धान्त उसमें लागू न होंगे। और फिर भी किसी ने वक्ता की भाँति चिल्लाकर कहा—'आई शैल काल द डेड अप फ्राम देयर ग्रेव !' तो इनका एक ही उत्तर हो सकता है—'यस, बट विल दे कम ?'—नहीं लौटेंगे अब वे प्राचीन समाधिस्थ सिद्धान्त !

भारतीय समीक्षक यदि अपने बढ़ते हुए साहित्य को नापना चाहेगा, उसकी नयी अँगड़ाइयों, नयी करवटों, नये पहलुओं को समझना चाहेगा तो उसे पाश्चात्य मानदण्ड को अपनाना पड़ेगा। और इस पाश्चात्य माप में मार्क्सवादी मानदण्ड ने अपना स्थान बना लिया है। नये राजनीतिक विकास के साथ-साथ वह बढ़ता ही जायेगा, यह सम्भवतः श्रीपांडे भी मानेंगे।

भारतीय समीक्षा-क्षेत्र से मार्क्सवादी दृष्टिकोण बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। इससे भी अधिक यह कि उसकी उत्तरोत्तर आवश्यकता पड़ेगी—उसी परिमाण में जिसमें साहित्य सार्वजनिक होता जायेगा, उसका जीवन से अधिकाधिक संघर्ष होता जायेगा—वस्तुतः उसी औसत में, जिसमें जीवन का संघर्ष सघन होता जायेगा, संघर्ष के घृणा-आक्रोश बढ़ते जायेंगे, उसमें भाग लेने वाले समानधर्मियों के पारस्परिक प्रेम की नयी-नयी कोंपलें फूटती जायेंगी। मार्क्सवादी दृष्टिकोण सर्वथा जनकल्याण की भावना से आलोकित है, पहली बार वास्तविक 'बहुजनहिताय', 'बहुजनसुखाय'—परिणामतः 'सर्वजनहिताय', 'सर्वजनसुखाय'—के सिद्धान्त को मानव-प्रयास ने हृदयंगम किया है, प्रश्रय दिया है।

विद्वान् वक्ता ने स्थान-स्थान पर अपने अभिभाषण में मार्क्स को 'रोटी का आचार्य' कहा है। मार्क्स के सिद्धान्तों को छोड़ केवल उनके जीवन का ही यदि वक्ता ने अध्ययन किया होता तो कम-से-कम वह इस अनुत्तरदायित्व के साथ उसका उल्लेख न करता जैसा कि उसने किया है। उसकी लेखनी से उस तपस्वी के प्रति साधुवाद नहीं, व्यंग्य नहीं, आँसू निकलते।

मार्क्स अपनी मेधा से किसी दिन जर्मनी का मिनिस्टर हो सकता था। उसके अत्यन्त सन्निकट सम्बन्धी—श्वसुर और साले—वेस्टफालेन सीनियर और जूनियर, दोनों प्रशा के मंत्री थे। स्वयं उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, यदि चाहती, अनेक बिस्मार्कों का सृजन कर सकती थी, अनेक 'पेती नापोलयों' की कमजोरियाँ—असफलताएँ—प्रबल सफलताओं में परिवर्तित कर सकती थी।

जर्मन-दर्शन का वह डाक्टर था, ग्रीक-लैटिन-क्लासिक्स् उसकी जबान पर

थे, पोलिटिकल-इकानामी के अपने ज्ञान से वह ऐडम स्मिथ की लीपापोती पर स्याही लगा चुका था, 'वेल्थ-आफ़-नेशन्स' उसके 'कैपिटल' में विध्वस्त पड़ा था, गणित में वह बेजोड़ था, फ़िज़िक्स-बयालोजी में उसने समकालीन विशेषज्ञों को हैरत में डाल दिया था। पहली बार उसके वैज्ञानिक सिद्धान्तों ने खरे विज्ञान का स्थान ग्रहण किया; पहली बार दर्शन, साइन्स की शृंखला में, एक कड़ी समझा गया। जेम्स जीन्स के मुकाबले के विज्ञानवेत्ता जे० बी० एच० हाल्डेन ने इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है कि विज्ञान उसका ऋणी है।

उसने तप का जीवन क्यों अपनाया? क्यों उसने अपनी पत्नी जेनी को श्रमिक का कठोर जीवन अपनाने के लिए विवश किया, उस जेनी को जो मिनिस्टर पिता की कन्या थी, मिनिस्टर भ्राता की भगिनी थी? क्यों उसने उसे विवसित होने दिया, क्यों अकाल कवलित हो जाने दिया—उस जेनी को जो अकेली थी, जो उन रथ भर-भरकर दान में मिलने वाली अनेक नारियों में से सर्वथा न थी जिनको 'कर्मकाण्ड के आचार्य' नारी और शूद्र के (अनजाने सुने मन्त्रों के कारण) कान में पिघला रांगा डालने वाले, निर्लिप्त अरण्यवासी आचार्य, घर में डाल कक्षीवान्, कवप, वत्स और औशिज उत्पन्न करते थे? क्यों उस व्रती ने अपने एकपत्नी-जीवन को विरस किया? क्यों उसने 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' का आदर्श आचरण करते हुए भी—जो अग्निवर्णों के पूर्वजों के सम्बन्ध का वक्तव्य होकर भी उनके पक्ष में सर्वथा व्यंग्य प्रमाणित हुआ—अपने प्यारे बच्चों को उसी रोटी के अभाव में, जिसका वह आचार्य कहा गया है, मृत्यु के झोले में एक के बाद एक टपक जाते देखा? क्यों चिकित्सा के अभाव में, वस्त्रों के अभाव में, उसके बच्चे न्युमोनिया के शिकार हुए? क्यों उसकी नित्य की आवश्यकता की वस्तुएँ, उसके वस्त्र-परिधान, उसका एकमात्र अवलम्ब—पुस्तकें—घर से बाहर निकाल नीलाम कर दी गयीं? कौन इसका उत्तर देगा—हाईगेट सिमेटरी का वह समाधिस्थ तपस्वी या सम्मेलन के साहित्य परिषद् का यह सुवक्ता?

फ़ायड पर भी पांडेजी ने 'कृपा' की है। फ़ायड मनोविज्ञान का पण्डित ही नहीं, जनक है। पहले-पहल उसने ही पूर्ण मुखरित-अर्धचेतन चेष्टाओं, स्वप्नों आदि के अध्ययन को विज्ञान का स्टेटस दिया। यदि 'गोयूथिकम्' की व्याख्या करनेवाले यौन-आचार्य वात्स्यायन को काम-विज्ञान का प्रथम वैज्ञानिक माना जा सकता है—और मैं उसे ऐसा मानता हूँ—तो इस विज्ञान-युग का विचक्षण और संयत फ़ायड निश्चय ही मनोविज्ञान का कुशल पण्डित है।

आज 'साइकालोजी' को वैज्ञानिक आन्दोलनों और अधिवेशनों में जो स्थान मिलने लगा है, यह एकमात्र फ़ायड की खोजों का ही परिणाम है। काश

पण्डितजी उस सतर्क मेधावी फ्रायड की खोजों का अध्ययन कर सकते !

निःसन्देह, भारतीयवादी को सभी वैज्ञानिक आविष्कार अभारतीय अथच पार्थिव-भौतिक और अग्राह्य लगते हैं। अन्धकार, अज्ञान, अविज्ञान का अर्थ ही उसके लिए भारतीयता है। फ्रायड भला कैसे रुचे और सम्हाल में आये ?

फिर यदि भारतीयवादी को वात्स्यायन और च्यवन स्वीकार हैं तो वैज्ञानिक फ्रायड तो अनेक बार स्वीकार होना चाहिए। फ्रायड ने क्या किया है ? कुछ अर्धचेष्टित चेष्टाओं, अनाचरित जुगुप्साओं की व्याख्या। इस वैज्ञानिक व्याख्या को स्वीकार करने के लिए ज़ोला-बालज़क-लारेन्स-ज्वायस की पृष्ठभूमि से कहीं अधिक दण्डी की पृष्ठभूमि आवश्यक होगी, जिसके 'दशकुमारचरित' की गणना काव्यों में की गयी है और जिस 'चरित' के विश्लेषण के लिए किसी महत्तर फ्रायड की आवश्यकता होगी, भारतीयता के उस नग्न यौनाचरण के लिए अश्विनीकुमारों को भी नयी लाक्षणिक व्यंजना सोचनी पड़ती, वात्स्यायन भी जिसे देख घृणा से मुँह फेर लेते।

विद्वान् वक्ता के सुझावों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है, जितना ही कम कहा जाय उतना ही अच्छा। सुझावों को आवश्यक उसने शायद स्वयं ही नहीं माना, इसी कारण उनका प्रकाशन अत्यन्त दुर्बल, अत्यन्त अरुचिकर ढंग से हुआ है। जितनी वाक्पटुता उसने अपनी प्रतिक्रियाओं के उद्गार में दिखायी है, यदि उतनी वह इन सुझावों के सम्बन्ध में खर्च करता तो उसका वह स्कन्ध इस प्रकार उपेक्षित न रह जाता। खैर, इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हम अब उसके प्रतिपादित विषय पर विचार करेंगे।

आरंभ में ही विद्वान् सभापति ने 'मा निषाद'···आदि का उदाहरण देकर कहा है कि 'आदि वाणी के विश्लेषण के बिना काव्य का यथार्थ खुल नहीं सकता और साहित्य का मर्म हमारी आँखों से ओझल ही रह सकता है।' आप यह भी कहते हैं कि हमारे काव्य का उदय हुआ है इस पूत वाणी से :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

मैं शायद इस प्रसंग को अन्यावस्था में साधारण भारतीयता की बात कहकर छोड़ जाता, क्योंकि इस श्लोक का अवतरण दे-दे क्रौञ्चवध से करुण-काव्य का आरम्भ कहने-मानने की भारतीयों में एक स्वाभाविक पद्धति-सी हो चली है। परन्तु चूँकि साहित्य की अगली मीमांसा का यह विषय-प्रवेश 'प्रतिज्ञा'-सा हो गया है, मुझे उसपर विचार करना पड़ रहा है।

क्या सचमुच 'इस आदि कवि की आदि वाणी के विश्लेषण के बिना काव्य का यथार्थ खुल नहीं सकता ?' क्या देश-विदेश के साहित्य-मर्मज्ञों ने बगैर संस्कृत 'आदि काव्य' पढ़े, बगैर वाल्मीकि को जाने, काव्य और साहित्य पर

विशद और उचित विचार नहीं किये हैं ? क्या उनके प्रति अज्ञान ने किसी प्रकार इन आचार्यों की पहुँची हुई ऊँचाइयों को अप्रतिष्ठा दी है ? विदेशियों को जाने दीजिए, क्या हमारे गत महान् साहित्य-मर्मज्ञ आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल की संस्कृत की अपेक्षाकृत अनभिज्ञता से उनका स्थान समीक्षा के क्षेत्र में किसी प्रकार नीचे उतर पड़ा है ?

और हमारे काव्य का उदय क्या सचमुच 'मा निषाद' की पूत अथवा अपूत वाणी से ही हुआ है ?—मैं, इस पर प्रायः वही बात कहता जिसका विज्ञ वक्ता ने अपने अभिभाषण के अन्तिम भाग में विरोध किया है। क्या सचमुच काव्य का आरम्भ वाल्मीकि और उनके रामायण से ही हुआ है ? और क्या सचमुच इस रामायण की धारा भी क्रौञ्च के वध से ही फूट पड़ी है ? क्या यह श्लोक केवल 'कविता' के स्वभाव की ओर संकेत नहीं करता ? यथार्थतः क्या यह माना जा सकता है कि रामायण के पहले कविता या काव्य न थे ? उस अर्थ में भी जिसमें श्री पांडेजी 'काव्य' को समझते हैं—प्रवन्ध-काव्य के अर्थ में ?

जहाँ तक यह श्लोक एक भावमय लोक का सृजन करता है, वह ग्राह्य है, परन्तु ऐतिहासिक काव्य के आदि मंत्र के रूप में सर्वथा नहीं। कविता का आर्द्र प्रस्फुटन प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना मानवता का रुदन-हास्य। हाँ, संस्कृति के उदय और प्रसार के साथ कविता में रूप और व्यवस्था की जो एक परम्परा क़ायम होती है, वह अवश्य ऐतिहासिक उपलब्धि है; परन्तु उसका आरम्भ भी वाल्मीकि से हुआ, यह सर्वया अग्राह्य है।

क्या रामायण के उपरले काल-छोर ५०० ई० पू० के पहले काव्योदय नहीं हुआ था ? क्या 'श्लोक' की परिपाटी और प्राचीन नहीं है ? क्या शोधक विद्वानों ने नहीं कहा है कि छन्द की यह व्यवस्था ऋग्वैदिक काल से ही चल पड़ी थी—अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ ऋग्वेद में ये छन्दगत अथवा व्याकरण-परक दोष अधिक हैं, रामायणादि में अपेक्षाकृत कम; वह भी साधारणतया इस कारण कि पाँचवीं ई० पू० तक 'अष्टाध्यायी' का प्रणयन हो चुका था ?

क्या इस काव्य-काल के प्रायः बीस शताब्दियों पूर्व ही ऋग्वेद के अजस्र काव्यस्रोत का उद्रेक नहीं हो चुका था ? क्या उषा के प्रति गाये, वरुण की अर्चना में ध्वनित और वागम्भृणी द्वारा रचे काव्यों से अधिक सम्मोहक, अधिक करुण, अधिक शालीन और अधिक ओजस्वी कृतियाँ संसार के साहित्य में सुरक्षित हैं ? इनका काल-स्तर क्या रामायण से शताब्दियों पूर्व नहीं है ? (मैं रामायण का नाम लेता हूँ, वाल्मीकि का नहीं, जिसका तात्पर्य श्री पांडेजी, मेरा विश्वास है, समझेंगे।) और ठीक प्रबन्ध-काव्य के रूप में क्या हमारे पास इस रामायण से पूर्व कुछ भी न था ? (हमारे इस प्रश्न से यह हरगिज़ न

समझा जाय कि रामायण के प्रति हमारी किसी प्रकार की अश्रद्धा है अथवा हम उसे अत्यन्त उच्चकोटि का साहित्य नहीं मानते।) क्या दशरथ-जातक से ही, जो छठी सदी ई० पू० से सदियों पूर्व प्रस्तुत हो चुका था, किसी ऐसे ग्रन्थ का संकेत नहीं मिलता? क्या वाल्मीकि रामायण के रचना-काल के समीपवर्ती महर्षि पतञ्जलि ने स्वयं किसी पूर्ववर्ती रामायण-से काव्य का निर्देश नहीं किया है?

पतञ्जलि ने दो ऐसे श्लोकों का उद्धरण अपने 'महाभाष्य' में पाणिनि के सूत्र 'उपान्मन्त्रकरणे' (अष्टाध्यायी, १।३।२५) की व्याख्या में दिया है जो वाल्मीकि रामायण की किसी मुद्रित अथवा अमुद्रित प्रति में नहीं मिलते। ये श्लोक नीचे दिये जाते हैं:

बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येस्मिन्यदर्कमुपतिष्ठते॥
मैवं मंस्थाः सचित्तोयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति॥

प्रमाणतः ये 'श्लोक' श्लोक-परम्परा के हैं, और हैं किसी राम-काव्य या रामायण के जो वाल्मीकि-रामायण का पूर्ववर्ती था। हमें यह न भूलना चाहिए कि महर्षि पतञ्जलि का समय ई० पू० द्वितीय शती है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण से पूर्व किसी प्रबन्ध का साहित्य में निर्देश न हुआ हो, यह बात भी नहीं है। महर्षि च्यवन का रामायण तो कवियों की प्राचीन परम्परा में विख्यात है यद्यपि उसका पुनरुद्धार अभी तक न हो सका। मुझे आश्चर्य न होगा यदि ऊपर के दोनों श्लोक उसी रामायण के प्रमाणित हो जायँ। च्यवन वाल्मीकि के कुल के ही और उसके पूर्ववर्ती थे। उसके राम-काव्य के प्रति संकेत प्रथम शती ईस्वी में होने वाले अश्वघोष ने भी अपने 'बुद्धचरित' में किया है—

वाल्मीकिनादश्च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।

विद्वान् वक्ता इसके बाद कहता है कि 'काव्य का सच्चा आनन्द सामाजिक को ही मिलता है? तो फिर काव्य के इस प्रकरण पर पूरा ध्यान क्यों नहीं दिया जाता और क्यों नहीं इसी की व्याख्या को साहित्य-शास्त्र का सर्वस्व समझा जाता···?'

इस पाक्षिक अहंमन्यता से तो सचमुच साहित्य की समीक्षा हो चुकी।—न भूतं न भविष्यति के से अमर्यादिक उल्लास को व्यक्त करने की परम्परा तो भारतीय ही है न? भले ही आप ईसा की भाँति विगत, वर्तमान और भविष्य के सारे पाप अपने मस्तक पर उठा लें, अथवा शुतुर्मुर्ग की भाँति गर्दन रेत में गाड़ चिल्लाते रहें कि वाल्मीकि रामायण के बराबर कुछ नहीं था, कुछ नहीं

है, कुछ नहीं होगा, परन्तु इससे न तो आगे होने वाले पापों पर कोई व्यतिक्रम होगा, न ही काव्यों के संकलन-सर्जन पर। जो पूर्व था वही साधु है, उसी में सब कुछ समाप्त है, इस परिपाटी को छोड़िये, तभी कह सकेंगे कि 'काव्य का सच्चा आनन्द सामाजिक को ही मिलता है न ?' जो आपने कहा है। और यह भी कि 'सच्चे साहित्य का निर्माण भी सामाजिक ही कर सकता है, विरक्त ऋषि नहीं'—जो आपने नहीं कहा है और जिसे आज का प्रगतिशील साहित्यिक—जिसका आप विरोध करते हैं—कहता और मानता है। फिर आपको यह कहने की भी आवश्यकता न रह जायगी कि आज साहित्य प्रपंच में पड़कर वादों का पचड़ा गा रहा और प्रवंचना का पुरोहित बन रहा है, क्योंकि तब आप समझेंगे कि 'वादों का पचड़ा' समीक्षक का वर्गीकरण है, स्वयं वादों द्वारा प्रस्तुत पचड़ा नहीं, और यह कि वाद पचड़े नहीं सामाजिक प्रगति, जीवन-प्रवाह और जीवन तथा साहित्य के अटूट स्वाभाविक सम्बन्ध की अनुक्रमणी हैं।

'मिथुन और काम की आज बड़ी चर्चा है। फ्रायड और मार्क्स की कृपा से इनको स्थान भी अच्छा मिल गया है···।' मार्क्स, जहाँ तक मेरा ज्ञान है, पहला व्यक्ति था जिसने साहित्य में अश्लीलता और यौनोपासना के विरुद्ध आवाज़ उठायी और सामान्तवादी प्रमाद, विलास की दासता से सर्जक साहित्यक को मुक्त होने के लिए उत्साहित किया। काश पंडितजी ने जर्मन प्रगतिशील कवि हाइने की कविता पढ़ी होती और जाना होता मार्क्स का उसके प्रति रुख़ !

अब आप सुनिए कि फ्रायड और मार्क्स की कृपा से मिथुन और काम को 'अच्छा स्थान' नहीं मिल गया है, वरन् उसका कारण औरों की कृपा है—वात्स्यायन की कृपा, जिससे कालिदास के कुमारसम्भव के आठवें और रघुवंश के उन्नीसवें सर्ग की अभिसृष्टि हुई, जिससे प्रभावित कवि पूछ उठा—ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ? उस दुष्यन्त की कृपा से जो ऋषि की अनुपस्थिति में उसकी कन्या को पेड़ के पीछे से छिपकर निहार सकता है, तपोवन की छाया में 'वर्णाश्रमाणां रक्षिता' होकर भी उसे कामदूषित कर सकता है;—उस रावण की कृपा से जो पिता के घर जाती हुई ऋषि-कन्या को बलपूर्वक भोग 'मथित नलिनी' की भाँति कँपा देता है, सीता को ले भागता है, उस इन्द्र और चन्द्रमा की कृपा से जो गुरु-पत्नियों तक से पराङ्मुख नहीं होते;—उदयन और कुमारगुप्त की कृपा से जिनके कामस्खलन से भारतीय साहित्य अनुप्राणित है;—उन पृथ्वीराजों के उन्माद से जिसने आपके हिन्दुत्व की नाक काट दी; मन्त्रयान, वज्रयान, शाक्त कुमारी-पूजा की कृपा से जो उड़ीसा से कामरूप, और कामरूप से विन्ध्याचल तक नंगी नाचती रही और

जिसके सहस्रों यौन प्रदर्शन एलोरा के कैलाश, उड़ीसा के कोणार्क, पुरी और भुवनेश्वर, बुन्देलखण्ड के खजुराहो आदि के मन्दिरों पर स्पष्ट उत्कीर्ण हुए;—शाक्तों की उस आदि परम्परा की कृपा से जो मोहन-जो-देड़ो से आज तक उपस्थ और योनि को देवता मानती आयी है;—उस ऊर्ध्वरेतस् की परम्परा से जिसकी ऊँचाइयों का अनुसन्धान ही पुराणों में ब्रह्मा और विष्णु की महिमा का प्रमाण हुआ;—उस गोप्य साधक-साहित्य की कृपा से जिसकी परम्परा गायकवाड़ का प्रकाशन-विभाग अभी कायम किये हुए है;—भर्तृहरि-कृष्ण की कृपा से जिनके चरित-शतकों—भागवतों—गीतगोविन्दों ने गाये हैं;—अनेक सखी-समाजों की कृपा से जिनमें पुरुष नर होकर भी गोपी-भोगी कृष्ण के साथ नारी के 'रोल' में समागम करता है और रति में 'धीरे-धीरे ही कन्हाई' की कष्ट-चेतना करता है;—फिर उस समाज की कृपा से जिनका चित्र दण्डी ने अपने 'दशकुमारचरित' में खींचा है और जिसकी पराकाष्ठा रीतिकाल के कवियों ने की है—साधुवादिनी मीरा तक ने—

> लोकलाज कुल की मर्यादा यामें एक न राखूंगी,
> पिया के पलँग पर जाय पड़ूंगी मीरा हरिसँग नाचूंगी।
> नाच-नाच पियारसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाँचूंगी,
> प्रेम-प्रीति के बाँध घूँघरू सुरत की कछनी काछूंगी।

सामाजिक मगर पूछेगा—क्या ये सब उदयपुर के महलों में ही सम्भव न थे पर हाँ, जहाँ लोकलाज डुबा देने की प्रतिज्ञा है, वहाँ सचमुच यह कैसे सम्भव हो सकते थे?—विशेषकर उस स्थिति में जब कि 'प्रेमी-जनों को जाँचना' था;—'जिन बूड़े' उनकी क्या दशा हुई होगी?

अब रखिए जरा जगदम्बा सीता को इनकी बगल में,—है हिम्मत? मैं उस शृंखला में प्रव्रजित सूर-बेनीमाधवों की गणना नहीं करता जिन्होंने 'विपरीत' की एक अटूट परम्परा बाँधकर अपनी प्रव्रज्या को पावन किया है। सारी भारतीय काव्य-परम्परा, कुछ अपवादों को छोड़, इस 'मिथुन और काम' से अभिभूत है जो फ्रायड और मार्क्स की कृपा का फल नहीं हो सकता। और यदि मैं ऐतरेय ब्राह्मण की अश्वमेध परम्परा से उसका आरम्भ करूँ और उससे भी पूर्व के ऋग्वैदिक इन्द्राणी संभाषण से, तो बेनीमाधव तक पहुँचते इस सम्बन्ध की एक 'बिब्लिओथेका इण्डिका' प्रस्तुत हो जायगी।

विद्वान् वक्ता ने अपने अभिभाषण में 'शृंगारतिलकों' की परम्परा को अनेक बार उद्धृत किया है। अपने नीति-मत से यह परम्परा न केवल काम रूपी अपस्मार की भयंकरता प्रदर्शित करती है, वरन् विकराल सामाजिक उस वस्तुस्थिति का भी उद्घाटन करती है, जिसमें यह संक्रामक हो चुका था। सही, 'शृंगारतिलक' का रचना-काल 'दशकुमारचरित' में उद्घटित समाजाचरण का

पराकाष्ठा-काल था। यही फ़ायड का निगमन भी है—विधि-निषेध जीवित सामाजिक पृष्ठभूमि की ओर संकेत करते हैं।

"हरि की चिन्ता न 'फ़ायड' को हुई और न 'मार्क्स' को। फ़ायड ने 'मैथुन' को अपना विषय बनाया और मार्क्स ने 'आहार' को। फिर यहाँ की गतिविधि या संस्कृति से उनका मेल कैसे हो ?"—यह कहकर वक्ता महोदय मनुस्मृति का एक श्लोक जड़ देते हैं।

यदि वक्ता के इन अवतरणों के औचित्य पर विचार किया जाय—इतना समय और स्थान हो—तो अनेकांश में यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनकी सार्थकता वस्तुतः पाण्डित्य-प्रदर्शन तक ही सीमित है, सिद्धान्त के आलोचन से विशेष नहीं। फिर हरि की चिन्ता फ़ायड और मार्क्स को क्यों हो ? उसकी चिन्ता तो मनु को थी जिसने ब्राह्मण को भूसुर बनाया, शूद्र और नारी का वेदाध्ययन वर्जित किया, बारहवें अध्याय में जातियों के विधान बाँधे, अछूतों (हरिजनों) की अनन्त परम्परा प्रस्तुत की, नारी को 'सुदुष्कुल' से भी प्राप्त करने की व्यवस्था की, उसके अधिकार छीन बहु-विवाह की प्रथा शास्त्रसम्मत की।

मार्क्स के आहारवाद की बात पर कुछ पीछे भी लिख आया हूँ। यहाँ इतना कह देना काफ़ी होगा कि जिस 'आहार' के लिए ऋग्वेद का ऋषिमण्डल हरि के गो-कृपिफल आदि की दैन्य भिक्षा करता है और जिसके 'कूट' को पुरोहित-राजा मिलकर 'विश' (साधारण जनता—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) से दबाकर हड़प लेते हैं, उस अर्थ मायासिद्ध हरि के प्रवंचक कोट को तोड़ मार्क्स जनता को ललकारता है कि रोटी तुम्हारे पसीने की कमाई है; तुम्हें जो वंचित करे, वह चोर है; उससे तुम अपनी दाय—'यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतः' —दीन वचन बोलकर मत माँगो, अधिकार से छीन लो।

महाभारत के शान्तिपर्व और अर्थशास्त्र की पक्षपूर्ण प्रवंचना की कहानी इससे कहीं दारुण है, पांडेजी ! मार्क्स ने उदात्त स्वस्थ अधिकारों पर अपने सिद्धान्तों के पाये रखे हैं।

'यहाँ की···संस्कृति से उनका मेल कैसे हो ?'—पांडेजी समझते हैं कि यहाँ की संस्कृति पृथक् और विशिष्ट है। वास्तव में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नित्य पाठ करने वाले भारतीयों ने यदि संस्कृति की संकरता समझी होती और उसकी अनिवार्य समष्टि पर ध्यान दिया होता तो 'अयं निजः परो वेति' के जाप करके भी वे अपने-पराये का इतना अन्तर न करते। नित्यकथित इस भारतीय संस्कृति में कितना भारतीय है, इस पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय-वादियों के सामने आसमान घूम जाय।

'मिथुनभाव' के सम्बन्ध में लिखते हुए आप कहते हैं कि "फ़ायड को इन

'प्रत्ययों' का (भारतीय काम-परम्परा का, जिसका दिग्दर्शन करा चुके हैं) पता होता तो क्या करता, यह हम नहीं जानते, पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि इसमें उनकी धारणा में कुछ विशेषता अवश्य आती और उससे लोकहित भी कुछ अधिक होता।"

पांडेजी न जानते हों, सम्भव है, पर हम निश्चित रूप से जानते हैं कि यदि इन 'प्रत्ययों' का फ़ायड को पता होता तो वह क्या करता। तब उसे 'निगमन' और 'व्याप्ति' के अर्थ संसार की सामाजिक चेतना के आँकड़ों के लिए इतना भटकना न पड़ता, तब उसे एक ही स्थान पर उसके सारे 'काम्य' (आँकड़े) मिल जाते और वह भी शायद उस भारतीय साहित्य-समीक्षक चचा की भाँति महाकाव्य-प्रणयक अपने भतीजे से कहता—यदि तूने, वत्स, यह दोषाकर पहले प्रस्तुत कर दिया होता तो मुझे साहित्य-सागर में काव्य-दोषों के लिए डूबने-उतराने की आवश्यकता न पड़ती !

और यह 'लोकहित भी कुछ अधिक ही होता' क्या?—फ़ायड क्या नितान्त पाप नहीं है? क्या उसके सिद्धान्तों ने 'कुछ' (अधिक के विरोध में) लाभ संसार को कराया है?—साधुवाद ! परन्तु प्रतिज्ञा और वक्तव्य की स्पिरिट तो बराबर इसके विपरीत रही है।

पांडेजी कहते हैं कि 'रति की व्याप्ति बहुत है। देवरति भक्ति का रूप धारण करती है तो वत्स-रति वात्सल्य का।'

हाँ, इसकी व्याप्ति बड़ी है क्योंकि जो मेधा इस सत्य का दर्शन करती है वह सर्वज्ञ है न?—रमणी के साथ भी, वत्स के साथ भी। चाहे उपनिषदों को अध्यात्म और दर्शन का जितना भी रूप दिया जाय, परन्तु वत्स के साथ भी उसके वर्णनों में जहाँ-जहाँ 'रति' के सम्बन्ध में 'उपस्थ' का उल्लेख होगा, वहाँ-वहाँ देशी या विदेशी फ़ायड जरूर सतर्क हो जायेगा और औपनिषदिक उपस्थ के 'आनन्द की एकायनता',—'केनानन्दं रतिं विजानाति? उपस्थेनेति'—को निश्चय वह उसके मूलाधार ऋग्वैदिक इन्द्र-इन्द्राणी के सम्भाषण तक पहुँचायेगा।

पांडेजी के कथनानुसार यदि 'आलम्बन के पुण्य-चरित्र की प्रतिष्ठा काव्य में सदा से चली आयी है' तो इसलिए नहीं कि प्रतिपाद्य की सर्वांगीण समीक्षा कर पुण्य चरित्र की स्थापना की जाती थी, वरन् इसलिए कि सारे साहित्य और तत्सम्बन्धी विचार एक-वर्गीय—अभिजात-वर्गीय—थे और साहित्यकार अधिकतर सामन्तवादी संरक्षणता में लिखता था; उसके लिए उसका संरक्षक सामन्त ही पुण्य-चरित्रवान् था। उस आलम्बन के मूल में साहित्य की असार्वजनिकता थी। साहित्य केवल ब्राह्मण-क्षत्रियों के लिए था, वैश्यों,

शूद्रों, अन्त्यजों, नारियों के लिए नहीं। इनमें से कोई नायक नहीं हो सकता था।

साहित्य सब काल में राजनीति का दर्पण रहा है, यह बड़ी आसानी से दिखाया जा सकता है। राजनीति के असार्वजनिक होने से जीवन के क्षेत्र में जो उपेक्षित थे, साहित्य में भी वे उपेक्षित हो गये। 'द्विजेतर-तपस्वी' के लिए राम की तलवार प्रस्तुत रहती थी, साहित्य का रंगमंच नहीं!

राजनीतिक सार्वजनिकता के साथ-साथ जो साहित्यिक सार्वजनिकता अब आयी है, उससे स्पष्ट हो गया कि समाज का कितना बड़ा अंग उपेक्षित रहा है और जिस प्रकार राजनीति में उस उपेक्षित अंग के साथ न्याय करने का प्रयत्न किया जा रहा है, साहित्य पर उसका सापेक्ष्य प्रभाव पड़ेगा और जो चिर उपेक्षित रहे हैं, उनके सम्बन्ध के साहित्य की अब आँधी आयगी ही।

'घसियारिन चाहे पत्थरतोड़िन'—जो आज के साहित्य के अवलंबन हैं—उनका चरित्र महान् समझकर (जैसा कि पांडेजी ने दिखाने, सिद्ध करने का प्रयत्न किया है) नहीं लिया जाता—इसलिए नहीं कि वह अपने वर्ग में विशिष्ट है वरन् इसलिए कि वह प्रवाहित जलराशि की एक बूंद है। बूंद लेने से विशिष्ट बूंद की आराधना का तात्पर्य नहीं, किसी भी 'घसियारिन' और किसी भी 'पत्थरतोड़िन' से काम चल जायेगा, क्योंकि जनतन्त्रीय दृष्टिकोण से साहित्यिक को व्यक्ति से अधिक समाज की अविकृत अवैयक्तिक सामूहिक और समान अनुभूति का निदर्शन करना है।

अपने पक्ष के समर्थन में पांडेजी ने बिहारीलाल के कुछ ऐसे दोहों के उदाहरण दिए हैं जिनमें 'पत्थरतोड़िन' और 'घसियारिन' पर कवि ने कृपा की है। ये उदाहरण पांडेजी के दृष्टिकोण के अनुकूल ही हैं। दरबारी वारांगनाओं और 'नागरियों' से ऊबकर यदि कवि बिहारी और उनके समर्थक खेत रखाने वाली 'गँवारियों' पर स्वाद परिवर्तन के लिए अपनी कामुक दृष्टि डालें तो कुछ अजब नहीं, अजब तब होता जब वे प्रबन्ध-काव्य लिखते और 'नागरी'—सीता, शकुन्तला—के बजाय 'गँवारिन' को अपनी नायिका बना लेते। पर यह वे कभी नहीं कर सकते थे। उनकी सीमा 'सन-बन-ईख' में संकेतस्थान क़ायम करने अथवा सामन्त-कृपा-प्रस्तुत विलासों तक ही थी। रोटी और पैसे की बात बिहारी में खुलकर आ ही नहीं सकती थी, खुलकर आते वही 'खरेउरोज', 'हँसत कपोलनु गाड़', 'दृगमोहनि की चाल'—वही 'रति में उपस्थ की एकायनता' की बात!

यह 'शोभन और शालीन' बिहारी, उनके संरक्षक सामन्त और उनके हिमायती 'तमाकू पियत लालों' को ही सम्मत हो सकता है। शोभन अनिवार्यतः

कमलनयन, शुकनासिका, पिकबैन ही नहीं हैं और न शालीनता विशिष्टपदीय कुलीन है।

बंगाल के अकाल के सम्बन्ध की कविताओं पर भी आपने वक्तव्य दिया है। कवि ने 'तीन पंक्ति को तेरह में फैलाकर अपना बनिज बढ़ाना' चाहा है, 'कला दिखाना' चाहा है या 'भूखे बंगाल का पेट भरना ?'—आप पूछते हैं—"सही प्रगतिवादी है न यह कवि ?"

जी हाँ, ठीक प्रश्न करते हैं आप। किन्तु यह तो बताइए कि 'प्रगतिवादी' से अन्य ने क्या किया ? 'रोटी का आचार्य मार्क्स' तो आपके शब्दों में, 'गॉड को विदाकर चुका है' और उसकी कहानी 'पश्चिम' की है इससे अग्राह्य है। अतः घर से ही उसका उत्तर क्यों न लें ? घर में तो उसका उत्तर 'कर्मफल' और 'कर्मविपाक' है ही—क्यों ठीक है न ? गॉड को मार्क्स तो जरूर विदा कर चुका जिसके नाम पर भारतीय पंडे ने सबसे अधिक डण्ड पेले हैं, जिसके नाम पर हाहाकार करती हुई जनता को संतोष का पाठ पढ़ाया है। पूरब की कहानी है पेट के सारे साधन दबाकर भूखों को खुदा की ही राह पर रखना। हाँ, 'उदरंभरी शिक्षा' तो अवश्य पश्चिम से मिली,—किन्तु यज्ञ-कर्मकाण्डों की नींव तो अध्यात्म पर धरी थी न—जिससे रन्तिदेव की रसोई से उदरार्थ मारी गायों के रक्त से चर्मण्वती (चम्बल) वह निकली थी ? 'मुरुआबोटी' से हिन्दुस्तान को क्या काम ?—ठीक कहते हैं आप—और तभी तो 'मदात्यय-चिकित्सा' का निदान करना पड़ा,—तभी अशोक के उसको बन्द करने पर 'उदरंभरियों का क्रोध' फूट पड़ा था,—तभी नाटकों में विदूषक पेट और लड्डू सम्बन्धी एकमात्र प्रहसन करता है !

'गॉड को जिसने विदा कर दिया है,' 'निर्बल के बल राम' का 'महत्त्व वह क्या समझे ?' वास्तव में राम गरीब का तो है नहीं, उसके आड़े तो आज तक वह काम आया नहीं। वह तो व्यवस्था-स्थापक था, 'नेमिवृत्ति' से, मनु की लीक पर चलने वाला—उस मनु की लीक पर जो ब्राह्मण-क्षत्रिय के साझे से बनी थी, जिसने नब्बे फ़ी सदी जनता को बे-घर-बार कर देने के विधान बाँधे थे।—हाँ, 'यह वही राम है जो राजकुमार था, पर रंक बना, कोल-किरातों से मिला, नर-वानरों तथा भालुओं को सहेजा और गढ़ तोड़ दिया उस रावण का जिसकी नगरी सुवर्ण की बनी थी'—निश्चय, यह वही राम था—वही राम जो उस असम संस्कृति का अभिशप्त-अभिशाप दोनों था, जो उस सभ्यता का निचोड़ था जिसमें तरुणी विमाता और स्त्रैण कामुक पिता पुत्र के अधिकार पर कामुकता का ताण्डव करते थे, जो कोल-किरातों के से—घृणित अमानवों से—उन पर कृपा कर मिला (जैसे किसान अपने बैल को खिला-पिलाकर, प्यार-पुचकार उसे उपकृत करता है, जैसे स्वामी दास से मिलता है),—जिन कोल-किरातों

को उस सभ्यता ने मनुष्य नहीं, पशु समझा, जिनका नाम गाली समझकर इसी अर्थ प्रयुक्त हुआ, कवि ने जिनके प्रसंग का उल्लेख अपने नायक की शालीनता स्थापित करने के लिए किया;—वही राम जो जंगली कोल-किरातों से मिला, पर जिसने घर के शूद्र-अछूतों को वर्णों में अपने स्थान से हिलने न दिया,—जिसने 'द्विजेतर (शूद्र) तपस्वी' की तपस्या को 'अपचार' कहकर उसे प्रेम से तलवार के घाट उतार दिया;—जिसने धोबी जैसे नीच वृत्तिवाले तुच्छ के कहने पर अपनी पत्नी सीता तक को त्याग दिया,—उस सीता को जिसका नारी के रूप में स्थान उस धोबी से ऊपर न था;—वह रमणी थी, रमण का साधन, 'उपस्थ' के 'आनन्द की एकायनता' का केन्द्र !—क्यों ? क्या इसलिए कि यदि न्यायत: सीता के नागरिक अधिकारों—वैयक्तिक मानव-अधिकारों—यदि वे कहीं थे—का विचार करते तो इस त्याग की नृशंसता शायद उनके पुरुषोत्तमत्व में बाधक होती ?—और बालि के प्रति आचरण की बात न पूछें।

सही, 'यहाँ के मनुष्य ने ही यहाँ के मनुष्य को बताया और आज से बहुत पहले ही कि मनुष्य वह कर सकता है जो देवता भी नहीं कर पाता।' मनुष्य क्या कर पाये ? देवता से बढ़कर थे बौधायन, आपस्तम्ब, मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, बृहस्पति जिन्होंने कृपा कर मनुष्य को त्याग और सन्तोष का पाठ पढ़ाया,—और उसे उदरंभरी न होने दिया—सच तो यह है कि उसे कुछ दिया ही नहीं।—बड़ी कृपा की, जग-जंजाल में फँस जाता,—और इसीलिए जग-जंजाल के विलास-उपकरणों को—धनरूपी गरल को—स्वयं उन्होंने ही धारण कर लिया !

'यहाँ की कविता की कसौटी तो सर्वहित ही है'—निश्चय, क्योंकि 'सर्व' की यहाँ की परिभाषा तो 'पुरुषसूक्त' के ब्रह्मा के मुख और भुजाओं तक ही सीमित है न, नीचे तो 'उपस्थ' है—ऊरु और पद। इस 'सर्वहित' साहित्य में पिघलता राँगा भी है, यह न भूलिएगा ! कितना साहित्य इस ऊरु और पद के लिए लिखा गया, पूछूँ ? किस वाल्मीकि और कालिदास ने, किस केशव और तुलसी ने उन अछूतों के लिए काव्य लिखा जिन्हें नगर में रहने का अधिकार न था और जो भारतीयता के उस उत्कर्षकाल में—गुप्तों के सुवर्ण युग में—नगर में प्रवेश करते समय सवर्णों के छू जाने के भय से बाजा बजाते आते थे ?

चोरी और सीनाज़ोरी का यह ज्वलन्त उदाहरण है। ज़्यादती की हद है। सारे जीव्य साधनों को औरों से छीन सारी उदरंभरी विभूतियाँ, विलास के उपकरण अपने हाथ में कर मनुष्य मनुष्य को परमुखापेक्षी कर दे, फिर भी अपने को वह देवता कहे ! राजनीति, समाज, साहित्य, स्वत्व, सबसे बहिष्कृत

'शूद्र-गँवारों' को 'पदाघात' ही मिलना जिस संस्कृति की नींव रही हो, वह भी 'सर्वहित' की बात करे तो यह विडम्बना और मानवता पर व्यंग्य नहीं तो और क्या है ? उस व्यवस्था में तो मार्क्स और फ्रायड की प्रेरणा न थी ? वह तो उसी पुरुष की कहानी थी ?

समीक्षा-क्षेत्र में विद्वान् वक्ता ने अन्यों के 'हाँकने' की बात कही है, पर वास्तव में हाँकी है स्वयं उसने। 'स्वान्तःसुखाय काव्य' के सम्बन्ध में अन्यत्र कहा जा चुका है। यहाँ उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। और जो उन्होंने 'आर्थिक दृष्टि से इतिहास में मुँह मारने' की और 'मार्क्स के फतवे' की बात कही है, क्या कहा जाय—सिवा इसके कि इतिहास के मूल में मनसूब अर्थ या 'रोटी की पुकार' रही है। उसी से उसकी प्रगति हुई है, वही विप्लवों और क्रान्तियों की मूल भावना का मेरुदण्ड रही है। चाहे जितना भी 'अध्यात्मवादी' रोटी की तुच्छता पर हँस दे, उसे यह न भूलना चाहिए कि वह अपनी रोटी और पुलाव का प्रबन्ध प्रचुरता से करके ही उसे संतोष और उच्चतादर्श शब्दाडम्बरों से ढँकना और बुभुक्षितों को उनकी हीनता के उपदेश करता है।

हाँ, कला भी 'रोटी की बेटी' रही है, यदि धर्म रहा है तो, और कविता तो निःसंदेह रही है। सामन्तीय संरक्षा में बढ़ने वाली, ग्रामक्षेत्रादि दानों की छाया में पोषित-पालित कविता वास्तव में 'रोटी की बेटी' रही है—इसमें सन्देह नहीं। माना कि क्रौंच-वध एक व्यंजना, एक प्रतीक की बात है—'उसके द्वारा कविता के स्वभाव की ओर संकेत होता है', यह निरंकुशकार नहीं कह गया है—पर उस स्वभाव को न पकड़ आप स्वयं 'ताल ठोंकते हैं।'

इस क्रौंच-वध स्वयं की शक्ति 'रामायण' के आदि में है, इसे कोई नहीं मानेगा और यह निश्चय, समीक्षक की सही दृष्टि के अनुसार, कविता के स्वभाव के सम्बन्ध में की गयी अनेक व्याख्याओं में से एक है, इसे भी आप न भूलें। क्रौंच-वध स्वयं इतनी महत्ता नहीं रखता। अनेक बार निषाद ने इस प्रकार का आचरण किया होगा, अनेक बार भावुक हृदय ने उसको धिक्कारा होगा। वास्तव में इस आचरण की प्रकृत साधारणता ने ही कवि को करुण उद्रेक का यह उदाहरण स्वीकार करने पर बाध्य किया होगा। पूरी वक्तृता अथवा सम्पूर्ण काव्यमीमांसा में केवल इसी क्रौंच-वध का राग अलापने से नहीं बनेगा। इससे कहीं सशक्त, जीवित और करुणक्रन्दन आज हमारे चतुर्दिक् प्रस्तुत हैं जिसके चीत्कार में इस क्रौंच-वध और 'विललाप स बाष्पगद्गदम्' की कष्टचेतना सर्वथा खो जाय। परन्तु इसे आँखों-कानोंवाला साहित्यकार ही देखे-सुनेगा, सुदूर के 'अनहद' की ओर कान लगा रखने वाला 'नदनमुख' का स्रष्टा नहीं।

'व्यंजन का रोटी से लगाव है तो शोभन का नारी से। अतएव आशा

की जाती है कि यह बात मार्क्स-पंथी को भी प्रिय होगी और उसको इसमें अपने मन का भाव दिखाई देगा।' शायद, पर आपने मार्क्सवादी को यदि कामुक समझा है तो आप सरासर गलती पर हैं। आपको समझना चाहिए कि पहले-पहल उसने ही देव-विहारी-पद्माकर एण्ड को० के विरुद्ध लेखनी उठायी, क्योंकि वे अपनी कविता में अनैतिकता, उपस्थवादिता और यौन-नग्नता की उपासना करते हैं, एकान्त प्रमाद और उच्छृङ्खल ऐयाशी का प्रचार करते हैं, अमर्यादित पापाचरण के लिए पाठकों को शैतान का उत्साह देते हैं—उसी अमर्यादित कामुकता के अर्थ का जिसका संकेत विद्वान् वक्ता ने अपने 'युक्ताहार-विहार' के अवतरण में किया है। और इसी कारण 'शोभन का नारी से' निश्चयतः लगाव वह नहीं मानता। शोभन का लगाव नारी से वस्तुतः वह रोटी की बात को घृणित मानने वाला, बुभुक्षित को पापी मानने वाला, अमार्क्सवादी, अप्रगतिशील पुण्यात्मा मानता है, जिसने नारी को 'नरक का द्वार' माना है, काम की सिद्धि के अर्थ नारी को 'कामिनी' संज्ञा प्रदान की है, उसे रमण का साधन मान 'रमणी' घोषित किया है। उसकी सारी 'रमणीयार्थप्रतिपादकता' रमणी-लवंगी तक ही सीमित है। शोभन का लगाव नारी से, केवल नारी से, 'मार्क्सपंथी' प्रगतिशील नहीं मानता, नहीं मान सकता, नहीं मानेगा। उसका संबंध 'क्लियोपात्रा की नाक की लम्बाई' से हरगिज नहीं हो सकता और उसके 'शोभन' का केन्द्र 'कामिनी' की कामना अथवा 'रमणी' की रमणीयता से कहीं ऊपर उठ जाता है। नारी में वह स्वस्थ नारीत्व को ही शोभन मानता है, उसके पातिव्रत-सतीत्व में इतना नहीं जितना उसके बुद्ध-मार्क्स के जननत्व में।

और फिर मार्क्स के प्रयास और सिद्धान्त को आपने नहीं समझा। सूर्य पर थूककर नहाने से अतिरिक्त स्नान के और तरीके भी हैं, आप इसे क्यों भूलते हैं? 'सुखाभावो दुःखमिति' मार्क्स के सम्बन्ध में कहकर आप संसार के सारे तर्कशास्त्र को लजाते हैं, आप शायद यह नहीं जानते। कुछ भेड़ें, मुमकिन है, आपके साथ थपोड़ी पीट लें, परन्तु तथ्य जानने वाला कोई विद्वान् इस प्रकार अभिमन्यु के शव पर जयद्रथ के पदाघात को देख घृणा से मुँह फेर लेगा। जितना मार्क्स ने सब-कुछ मुहैया होने पर भी सिद्धान्त के लिए सुख से मुँह मोड़ दुःख से संघर्ष किया है, उतना भारतीय आचार्य ने नहीं, और इतना होने पर भी 'कैपिटल' का वह प्रणयन करता रहा। उसके पास न तो यजमानों का 'सीधा' था, न राजाओं का दान, उनका तो वह भय था।

और भेड़ के पीड़ित बच्चे को, बुद्ध की तरह, वह घर किसके रखता?—बच्चे का घर कहाँ था?—क्या अनाथपिंडित के 'आउट हाउस' में? उसी घर को उस बच्चे के लिए जीतने का प्रयास, पंडितजी, मार्क्स का प्रयास है। और 'संघ-वृद्धि' तथा 'भेड़ियाधसान' उसका नहीं है, 'नेमिवृत्ति' वालों का है, लीक

उलीचनों' का उपदेश दिया है।

दोनों हाथ उलीचे हुए दान का लाभ या तो दरिद्र यजमान-सेवी प्रमादी ब्राह्मण को होगा या ग्रहण में दान लेने वाले डोम को। श्राद्ध के 'करन्नों' की भाँति भारतीय जनता अब इस दान की अपेक्षा नहीं करेगी और साहित्यकार तो हरगिज़ नहीं, अपने अधिकार को वह गिड़गिड़ाकर नहीं माँगेगा और भरत-वाक्य के रूप में जो आपने अपनी 'विनय' रखी है वही आपके वक्तव्य में एक-मात्र समझदारी की वस्तु है, परन्तु आपने शायद नहीं जाना कि इस विनय का सारा भावस्रोत मार्क्स के विचारों से प्रभावित है। 'हाँ शान्ति जाति-विद्वेष, वर्गगत रक्त समर···संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त विश्व निर्भर' में मार्क्सवादी दृष्टिकोण की इकाइयाँ और उनकी उपलब्धि सभी निर्भर है। कहाँ रही आपकी 'प्रतिज्ञा', कहाँ 'सिद्धान्त', कहाँ 'मीमांसा' की व्याप्ति ?

१६

मध्य एशिया का इतिहास

मध्य एशिया का इतिहास महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के नवीनतम ग्रंथों में प्रधान है, और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस प्रकार का कोई ग्रंथ, क्रिया और विन्यास, वस्तु और विस्तार, दोनों दृष्टि से किसी भाषा में नहीं निकला। जब मैं अन्य भाषाओं की बात कहता हूँ, तब अंग्रेजी और रूसी तक को नहीं भूलता। अंग्रेजी में, मैं जानता हूँ, इस प्रकार का कोई ग्रंथ समूचे मध्य एशिया सम्बन्धी पुरातत्व और इतिहास को एकस्थ समाहित करता, नहीं लिखा गया। इस महान् क्रियाशील और सुविस्तृत भूभाग का खंडशः इतिहास यत्र-तत्र वृहत् ऐतिहासिक प्रकाशनों में अंशतः निस्सन्देह लिखा गया है, परन्तु सावयवीय (आर्गेनिक) दृष्टि से संसार की भाषाओं में एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं, जिसमें मध्य एशिया का सर्वांगीण एकस्थ ऐतिह्य प्रस्तुत हो। रूसी भाषा में इधर इतिहास और पुरातत्व की दिशा में भी काफ़ी उपक्रम हुए हैं, और पुराविद् ने अपने खनित्र के पराक्रम से सदियों-सहस्राब्दियों पुरानी सामग्री हमें उपलब्ध कर दी है। सम्भवतः उस भाषा में मध्य एशिया के ऊपर लिखी पुस्तकें भी हैं, पर प्रस्तुत ग्रंथ के समीक्षक की नजर में कोई ऐसी पुस्तक नहीं आयी, जिसमें ईरान, ईराक, अरब और भारत पर भी प्रभाव डालने वाले जाति-संक्रमणों और सभ्यताओं का विवेचन हो। रूसी ग्रंथों की सामग्री का विस्तार बेशक बड़ा है पर उनकी सीमाएँ भी सोवियत-संघ की राजनीतिक सीमाओं तक ही सीमित रह जाती हैं—उराल से पामीरों और कराकोरम तक और चीनी सरहद से अजरबैजान और प्रायः गुर्जी तक। पर मध्य एशिया का विस्तार बस इतना ही तो नहीं है, और उसकी सभ्यताओं, जातीय संक्रमणों और प्रवहमान प्राणवान् जीवन के उपक्रमों-अध्यवसायों के प्रभाव का विस्तार तो और भी बड़ा रहा है जो एक जमाने में एक ओर हिंदेशिया और भारत से लघु एशिया और तुर्की तक, और दूसरी ओर, मिस्र से और स्पेन से मंगोलिया-जापान तक फैला रहा है। महापण्डित सांकृत्यायन

ने ग्रंथ के दो भागों में, प्रायः बारह सौ पृष्ठों के विस्तार में, इन्हीं जातियों के उत्थान-पतन की कहानी अपने दूरगामी प्रमाणों के साथ लिखी है। ग्रंथ यह परिणामतः स्वाभाविक ही इतिहास-लेखन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी और व्यापक महत्व का है। और विशेष गौरव की बात यह है कि इस महाकृति का ग्रंथन हिन्दी भाषा में हुआ है। हिन्दी भाषा के बढ़ते हुए आयाम का यह ज्वलंत परिचायक है। सन्तोष की बात है कि देश की साहित्य-अकादेमी ने इस प्रयास पर लेखक को पाँच हज़ार रुपयों द्वारा पुरस्कृत कर ग्रंथ की उपादेयता स्वीकार की है।

इसमें सन्देह नहीं कि मध्य एशिया का यह इतिहास ऐतिहासिक सामग्री की संहिता है, पर निस्सन्देह संहिता ऐसी, जैसी महाभारत और पुराणों की है, जैसी वेदों की है, जिनमें सारा समसामयिक जीवन और साहित्य संकलित कर दिये गये हैं। परन्तु संहिता यह नितांत वैज्ञानिक है, जिसमें मूल ऐतिहासिक शोध के परिणाम निबन्धित हैं और सामग्री, जो अनन्त प्रयास से वसुधा को कुदारी द्वारा विदीर्ण कर प्रस्तुत हुई है, वह तोल निरख कर अपने ऐतिहासिक सार्थकता के साथ प्रसंगतः ग्रंथ में एकत्र की गयी है। यह असीम सामग्री जो इस ग्रंथ के पृष्ठों पर बरस पड़ी है, अब तक पठ्य रूप में एकत्र कहीं उपलब्ध न थी, और इस दिशा में जो कुछ सर आरेल स्टाइन ने किया भी था, वह भी इधर हाल में पाठकों के स्मृतिपटल से मिट चला था। मध्य एशिया के सम्बन्ध की सामग्री प्रसूत करने वाले ऐतिहासक केन्द्र अधिकतर सोवियत भू-प्रसार की सीमाओं के भीतर हैं और उस तथाकथित लौह-प्राकार से हमारे पण्डितों ने जैसे सक्रिय उदासीनता की शपथ ले ली है। वस्तुतः यह भय की संकीर्णता है, निःसन्देह उससे भी बढ़कर अज्ञान की संकीर्णता, और रूसी मूल के अज्ञान की बात परदे में रख कर उपेक्षा के लिए सोवियत की असामाजिक प्रवृत्ति की संकेत की आड़ ली जाती है। लोग यहाँ तक भूल गये हैं कि विज्ञान में पूर्वाग्रह नहीं होते और पूर्वाग्रहों का परिणाम यह हुआ है कि सोवियत खनिकों द्वारा उपलब्ध की हुई अत्यन्त मूल्यवान सामग्री उनके अध्ययन से परे रह गयी है। परन्तु उन्होंने अपने प्रमाद और प्रखरता की कमी के कारण जो खो दिया है, वह इस ग्रंथ के कलेवर में समाहित कर महापण्डित राहुल ने इतिहास के पाठकों को अत्यन्त लाभान्वित किया है। ग्रंथ के दानों भाग इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

ग्रंथ के इन दोनों भागों में प्रायः एक दर्जन प्रधान अध्याय हैं, बीसियों प्रकरण और सैकड़ों लघु प्रकरण हैं और ग्रंथ की उपादेयता अनेक परिशिष्टों, मानचित्रों तथा प्लेटों से बढ़ा दी गयी है। प्रस्तुत पुस्तक के अन्त में सहायक ग्रंथों की सूची बड़ी मूल्यवान है और प्रतिपादित विषय से सम्बन्धित मूल

साहित्य का प्रभूत परिचय देती है। निःसन्देह प्लेटों में प्रकाशित मुद्राएँ, ब्लाक-छपाई की दृष्टि से रुचिकर नहीं हैं, पर वह दोष हमारे मुद्रण की परिमित सीमाओं का है, वैसे समूची पुस्तक की साधारण छपाई किसी अर्थ में असुन्दर नहीं कही जा सकती। पर विद्वान् लेखक ने जो ग्रंथ के अन्त में रूसी शब्दकोश का एक परिशिष्ट जोड़ दिया है, उसकी प्रासंगिकता समझ में नहीं आती। वैसे रूसी और भारतीय भाषाओं का पारस्परिक सम्बन्ध निस्सन्देह ज्ञानवर्द्धक अध्ययन हो सकता है।

ग्रंथ में मध्य एशिया के इतिहास और पुरातत्व का प्रनयन हुआ है और तत्सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन कालमान की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन और प्रागैतिहासिक युगों के आरम्भ से हुआ है, यहाँ तक कि ग्रंथकार ने पृथ्वी पर प्रथम मानव के अवतरण की ओर भी प्राणिविज्ञान की दृष्टि से संकेत किया है, फिर भी ग्रंथ का यह अंग सर्वथा सम्मत नहीं माना जाएगा और कुछ आश्चर्य नहीं जो इतिहास और पुरातत्व के पण्डित इस अंग के इतिहासपरक वैज्ञानिकता में संदेह करें। यह नहीं है कि इतिहास, पुरातत्व, नृशास्त्र, जातिशास्त्र और चराचर-सम्बन्धी विज्ञान आमूल पोर-पोर परस्पर जुड़े हुए हैं, अद्यावधि इतिहास तक, फिर भी उनका अध्ययन स्वतन्त्र विविध विज्ञानों के अन्तर्गत होता है। इससे अनेक विद्वान सम्भवतः यह उचित समझते कि पुरा पाषाणकाल और प्रागैतिहासिक युग से प्रारम्भ कर मानव सभ्यता की प्रगति इस ग्रंथ में अवीत हुई होती और मानव का धरा पर प्रादुर्भाव जीवशास्त्र अथवा नृशास्त्र के अन्वेषकों के लिए छोड़ दिया गया होता। फिर भी मानवजाति का प्रारम्भ और उसका विविध बर्बर और सभ्य परिस्थितियों से होकर अद्यावधि विकास का एक दृष्टि में समालोचन; सर्वथा अर्थहीन भी नहीं और वह एक विचार से उपादेय हो सकता है। इस दृष्टि से ग्रंथकार का यह प्रयास निश्चय स्तुत्य है और विद्वानों का संसार ग्रंथकार के अनवरत श्रम, अनन्त जिज्ञासा और नतत खोज से उपलब्ध ग्रंथ की प्रामाणिक सामग्री के प्रति ऋणी होगा। जहाँ तक सामग्री के संकलन की बात है निःसन्देह उस दिशा में कोई त्रुटि नहीं हुई है। ग्रंथ के लिखने की शैली जरूर वर्णनात्मक अधिक है, नितांत सहज, शायद तर्कात्मक कम। सम्भव है कुछ लोगों को लगे कि भाषा यदि तनिक और गठी होती, तो सामग्री उसमें कस गयी होती, कुछ इतनी ढीली न होती, और प्रौढ़ भाषा में विचार तथा परिणामतः निष्कर्षात्मक निर्णय भी यदि विशेष आग्रह के साथ प्रस्तुत किये गये होते तो वर्णन की ढिलाई इतनी स्पष्ट न होती और सामग्री सर्वत्र अन्त को उनकी मुट्ठी में अलग कर सकी होती। फिर भी जो है, वह असाधारण है और इतिहास के चोटी के पण्डितों को हैरत में डाल देने वाला है।

ग्रंथ के कलेवर के अनुरूप ही उसमें अधीत ऐतिहासिक कालक्रम का प्रसार भी है, शताब्दियों और सहस्राब्दियों के अनन्त युग उसमें समाये हुए हैं। उनके विस्तार में अनन्त जातियाँ, मनुष्यों के असंख्य संक्रमणशील दल, बसने-मिटने वाली वस्तियों, उठती-गिरती सभ्यताओं की अटूट शृंखलाएँ, अभिन्न मानवता के निर्वंध सम्मिश्रण, इस ग्रंथ के चित्रपट पर धारावाहिक रूप से दृष्टिपथ में उदय और विलीन होते चले जाते हैं। कार्पेथियाई और कोहकाफ़ी ऊराली, पामीरी और थिएनशानी गिरिमालाओं से घिरी नदियों की घाटियों में कविलाई वस्तियाँ एक के वाद एक उठती हैं, सक्रिय होकर समस्याएँ-संस्कृतियाँ अभिसृष्ट करती हैं, उनके बहुरंगी वितान बुनती हैं, और आने वालों को अपनी विरासत सौंपती स्वयं संघर्ष करती मिट जाती हैं। रोमी और आर्य, मीदी और ईरानी, शक और ऋचिक, हूण और तुर्क, मंगोल और मुसलिम, चीनी और अफ़ग़ान और हिंदू विभिन्न होकर भी एक-दूसरे का जोड़ सदा पा जाते हैं, एक-दूसरे से टकरा जाते हैं, टूट जाते और बिखर जाते हैं, पर उनकी यह एकस्थ दाय काल के युग भी नहीं मिटा पाते। अनन्त जातियों का यह ग्रंथ-गत परिवार कितना निस्सीम है, उनकी शृंखला कितनी अटूट।

मुझे सदा ऐसा लगता रहा है कि जव तक हम ऊर और नितेवे, कला और असुर, वावुल और इलाम के भग्नावशिष्ट टीलों पर खड़े होकर अपने चारों और दूर तक उस खुले मैदान में दजला और फ़रात की मध्यवर्ती ऊँचाई से नजर न फेंकेंगे, वावुल में प्रवेश करते कस्सियों की, पश्चिमी एशिया को रौंदते खंभियों की और हिंदूकुश की ऊँचाइयों से सप्तसिंधु के मैदानों में उतरते आर्यों की पगचाप जव तक न सुनेंगे तव तक भारतवर्ष का इतिहास हम सही-सही न समझ सकेंगे। महापण्डित राहुल का यह अमूल्य ग्रंथ, न केवल मृत इतिहास को संजीवित करता है, भारतीय इतिहास की समझ सहज करता है, वल्कि इसके पारायण से अनेक ऐतिहासिक ग्रंथियाँ सुलझ जाती हैं, अनेक गाँठें खुल जाती हैं। अपनी अनन्त वहुमुखी सामग्री के इस महान् संग्रहयिता और व्याख्याता ने, उसकी परिधि को जिस विश्वास, धैर्य और श्रम में बाँधा है, वह इधर के युगों में सर्वथा अनजाना है। श्री सांकृत्यायन के इस युग-ग्रंथ का अभिनन्दन करते हुए हम पाठक-वर्ग का ऋण उनके प्रति प्रकट करते हैं। उनकी यह मूर्त्तमती प्रतिभा अमर हो!

१७

इतिहास के स्थान पर परम्परा

'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' रांगेय राघव की प्राय: डेढ़ साल पहले की रचना है। इधर साल-भर उसकी प्रति मेरे पास रही भी है और एक बार उसे समूचा पढ़ लेने के अतिरिक्त भी मैंने उसके अनेक स्थल बार-बार देखे हैं। पहले-पहल जब पुस्तक मेरे हाथ में दी गयी तो मैं बड़ा चमत्कृत हुआ। छपाई, गेट-अप आदि बहुत अच्छे थे। रांगेय राघव का नाम जो लेखक की जगह छपा देखा तो आश्वस्त हुआ और कुतूहल आगे बढ़ा। रांगेय राघव हिन्दी की अगली पंक्ति के लेखकों में हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है, और यद्यपि उनके और मेरे दृष्टिकोणों में अन्तर की गुंजायश रहती है, मैं उनकी रचनाएँ, जो हाथ आ जाती हैं, चाव से देख लिया करता हूँ, चूँकि विज्ञान में पूर्वाग्रह नहीं होता।

'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' हाथ में आते ही उसके पन्ने खड़े-खड़े ही उलट गया। जैसा ऊपर लिख चुका हूँ, चमत्कृत भी हुआ, क्योंकि हिन्दी में तो इस प्रकार की पुस्तकों का अभाव है ही, उसके विषय के जानने और पढ़ने वालों का भी अभाव है। वस्तुत: न केवल हिन्दी के लिखने-पढ़ने वालों में ही, वरन् भारतीय इतिहास के प्रतिष्ठित जानकारों को भी, विशेषत: मिस्री, सुमेरी, बाबुली, असीरी (आसुरी ?) आदि संस्कृतियों के सम्बन्ध में जानकारी या अभिरुचि नहीं के बराबर रही है। पिछले बारह वर्षों से उसी दिशा में शोध करता रहा हूँ, उसी शोध की सफलता के लिए हैदराबाद में इन्स्टिट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज की स्थापना भी की; स्वाभाविक ही था कि पुस्तक देखकर चमत्कृत होऊँ। मुँह से सहसा निकल भी गया—'महान् पुस्तक !'

राह में ही उसे पढ़ना शुरू कर दिया। पर जैसे-जैसे पढ़ने लगा, पुस्तक के सम्बन्ध में मेरा उत्साह घटता गया और हैदराबाद पहुँचकर जो उसे समाप्त किया तो सहसा मुँह से निकल गया—'डिसेप्वाइण्टिंग !' (निराशकरी !)

इतनी सामग्री, सामग्री एकत्र करने में इतना परिश्रम, पर वैज्ञानिक 'मेथड' और दृष्टिकोण न होने के कारण सारा व्यर्थ !

'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' में परम्परा अधिक, इतिहास कम है। इससे मेरा अर्थ उनके आकार से इतना नहीं जितना प्रकार से है; ऐतिह्य और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से है। इतिहास कालिक है, आनुक्रमिक। परम्परा, जहाँ उससे सर्वथा संलग्न नहीं वहाँ दीर्घकालिक है और सदा आनुक्रमिक नहीं। पहले में इकाइयों का कारण-कार्य-संयुक्त अटूट प्रसार होता है, दूसरे को हम दही के खण्ड की भाँति जमे हुए ('लम्प' सरीखा) देखते हैं जिसमें इकाइयाँ नहीं होतीं, पिण्ड-प्रसार-मात्र होता है। इतिहास क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, परम्परा का प्राण उसकी रूढ़ि-निविष्टता है। दोनों को एक साथ अपने अध्ययन का विषय बनाने वाला लेखक यदि सावधान रहा, उनकी सीमाओं को स्पष्ट-पृथक् नहीं रख सका, तो इतिहास को परम्परा निगल जायगी।

यही आलोच्य ग्रन्थ की प्रधान कमज़ोरी है। परम्परा इतिहास को निगल गयी है। इतिहास, जैसा कह चुका हूँ, काल-प्रवण है; उसका मूल देश-काल में होता है, उसकी एक इकाई एक ही देश में एक ही काल में घटती है (यद्यपि इससे समान परिस्थितियों में इन घटनाओं का घट जाना कुछ अजब नहीं, पर वैसे है वह समानता आभास-मात्र)। इससे उसमें काल को खोजना पड़ता है, घटनाओं की इकाइयों को काल की इकाइयों में कसना पड़ता है। प्रस्तुत पुस्तक में काल का अनुक्रम ज्ञात से अज्ञात की ओर नहीं है, अज्ञात से अज्ञात की ओर है। इसमें जो काल के परिमाण रूप में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग, मन्वन्तरों आदि की व्याख्या है, वह परम्परा के संकेत हैं, इतिहास की बुद्धिग्राह्य मंज़िलें नहीं। ज्यामिति की भाँति 'प्रतिज्ञा' (प्रापोज़िशन) सिद्ध करने के लिए कल्पना किसी भी वस्तु की जा सकती है, पर वह कल्पना अन्त में कहीं-न-कहीं स्थापित अवश्य हो जानी चाहिए, वरना 'सिद्धान्त' दूषित हो जायगा। असम्भाव्य-से-असम्भाव्य वस्तु की कल्पना न्याय्य होगी यदि स्थापना के तर्क के किसी 'स्टेज' पर वह सम्भाव्य से जोड़ी जा सके। सत्ययुग आदि के मान ज्ञात ऐतिहासिक युगों के सावधि यदि नहीं हो पाते तो ये परम्परा के संकेत अपने ही मान में रहकर निरर्थक हो जाते हैं, शून्य के द्योतक शून्य-मात्र। इसी से कहा है कि ग्रन्थ में निर्दिष्ट परम्परा उसके इतिहास को लील गयी है।

ग्रन्थ का उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। परम्पराओं का यह अध्ययन न तो उनकी गाँठ खोलता और उनके उलझे सूत सुलझाता है और न किसी इष्ट या निष्कर्ष पर पहुँचता है। वैसे इसे अध्ययन भी नहीं कहा जा सकता। यदि यह ताने की तरह सूतों को समानान्तर खींचता भी जाता तो उनके छोर एक ओर निकल पड़ते। पर वह तो अध्ययन की बात होती। यह एकत्रीकरण है, परम्पराओं

घाटियों, फ़िनीशी, सुमेरी, अक्कादी, एलामी, भूमध्यसागर तक की सारी सभ्यताओं को द्रविड़ जाति द्वारा प्रसारित मान लिया और 'सारे विश्व को आर्य करने' की भाँति ही 'सारे विश्व को द्रविड़ करने' के भगीरथ प्रयत्न किये। उनमें रामचन्द्र दीक्षितार अग्रणी हैं। दीक्षितार के 'आरिजिन ऐण्ड स्प्रेड ऑफ़ द तमिल्स' के जोड़ की अवैज्ञानिक पुस्तक दूसरी नहीं लिखी गयी। रांगेय राघव की पुस्तक का द्राविड़ भाग सर्वथा इसी दीक्षितार के ग्रंथ पर अवलम्बित है।

इसी प्रकार स्वामी शंकरानन्द की पुस्तक 'ऋग्वैदिक कल्चर ऑफ़ द प्रीहिस्टारिक इण्डस' का मात्र उद्देश्य सारे वैज्ञानिक तर्कों के विपरीत सैन्धव-सभ्यता को आर्य-सभ्यता सिद्ध करना है। आलोच्य ग्रंथ उसके प्रमाण भी ब्रह्म वाक्य की भाँति स्वीकार करता है। राजेश्वर गुप्त की 'द ऋग्वेद—ए हिस्ट्री शोइंग द फ़िनीशियन्स हैड देयर अलिएस्ट होम इन इण्डिया' भी इसी दृष्टि से अनुप्राणित है और लिखी भी गयी थी, दजला-फ़रात घाटी की सभ्यताओं की खुदाई से काफ़ी पहले कुछ वैदिक ऋचाओं के तोड़े-मरोड़े अर्थ पर, कुछ अटकल और इच्छित निष्कर्ष पर और कुछ खुदी सामग्री की अधकचरी व्याख्या पर अवलम्बित होकर। 'हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड' की जिल्दें १९०८ में प्रकाशित हुईं और आज वे इस क़दर पुरानी और 'आउट-ऑफ़-डेट' मानी जाती हैं कि उनके इतने सालों से आउट-ऑफ़-प्रिण्ट होने पर भी उनका नया संस्करण करने का साहस उनके प्रकाशकों को नहीं हो रहा है। पिछले वर्ष मिस्र, फ़िलिस्तीन, क्रीट, सुमेर, बाबुल, असुर, खत्ती, एलाम, सिन्ध, चीन आदि के प्राचीन इतिहास पर मेरी पुस्तक 'द एन्शेन्ट वर्ल्ड' प्रकाशित हुई। उसे लिखते समय मैंने देखा कि सन् '२७ से लगातार मध्यपूर्व में होने वाली खुदाइयों पर कम-से-कम सौ ग्रंथ ऐसे प्रकाशित हो गए हैं जिन्होंने पुरानी पोथियों को सर्वथा व्यर्थ कर दिया है। जिन पेन्सिल्वेनिया और शिकागो विश्वविद्यालयों के 'प्राच्य विभाग' (ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट) ने सम्मिलित रूप से इन खुदाइयों का संचालन किया था उनके ही आमन्त्रण पर उनको खोदकर निकाली पट्टिकाओं की मुझे इस विचार पर परीक्षा करनी पड़ी कि अलाय-बलाय (अलिगी-विलिगी) के मूल एलूला-बेलूला की ही भाँति वैदिक शब्दों के दूसरे मूल भी तो उनमें नहीं (जिस खोज के आधार पर न्यूयार्क के एशिया इन्स्टिट्यूट की 'कालोकिया' में डाक्टर गाइगर की अध्यक्षता में मेरे व्याख्यान हुए) और उस सामग्री का जब स्मरण करता हूँ तब प्रस्तुत ग्रंथ को देखकर सिर पीट लेने की इच्छा होती है। उधर के खोजियों की दृष्टि यदि इस प्रकार के भारतीय प्रकाशनों पर पड़ जाय तो हमारे अज्ञान और अवैज्ञानिक साहस पर उन्हें असम्भाव्य आश्चर्य हो। कितना अभाग्य है इस देश का कि जहाँ

खोजों की वैज्ञानिकता पर ग्रिनेप और शांपोलियों जैसे पण्डित जाँनिसार हो रहे हैं वहाँ हमारा पल्लवग्राही पांडित्य इसी में अपनी वीरता और गौरव समझता है कि वह किसी तरह प्रमाणित कर दे कि द्रविड़ या आर्य ही सारी सभ्यताओं के प्रेरक या त्राता थे।

'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' में सारे आर्येतर गौरव को द्राविड़ मान लिया गया है और आर्यों की सत्ता शेष पर स्वीकार कर ली गयी है। देव और असुर, रक्ष और यक्ष आदि के सम्बन्ध में जो इसमें विचार हुए हैं उनका उल्लेख करना ज्ञान और तर्क का अपमान करना है। उसका कारण यह हो गया है कि गोया पुराणों में कपोलकल्पित कुछ है ही नहीं, ऋग्वेद या अन्य वेदों में जो कुछ है सर्वथा मांसल ही है। रावणों की एक परम्परा है, इन्द्रों की दूसरी। यह इन्द्र को मनुष्य समझने वाली कहानी को तो उसी प्रकार अब तक काफ़ी तूल दिया जा चुका है जिस प्रकार आर्यसमाजियों की पीढ़े पर बैठकर भोजन करने और शिखा रखने की व्याख्या की वैज्ञानिकता को। यानी ऋग्वेद स्वयं जिन देवताओं के अन्तरिक्ष, पृथ्वी आदि सम्बन्धी तीन वर्ग करता है वे सूर्य, वरुण, मरुत् आदि प्रकृति के अवयव नहीं मानव-पिण्डधारी हैं। सारे पूर्वीय जगत् में कृषि के शत्रु और जल पर कुण्डली मारकर सूखा उत्पन्न करने वाले दैत्य को सर्पिल माना गया है (वेद में इन्द्र ऐसे पुच्छ-प्रधान वृत्र पर वज्र मारता है, बाबुली वेद में मर्दूक ऐसे ही पुच्छधारी तियामत पर चोट करता है, चीन में अकाल से रक्षा करने वाले ड्रैगन को सौभाग्यसूचक अवश्य माना जाता है पर उसका रूप अजगर का ही है), पर हमारे ग्रन्थकार और उसके पूर्ववर्ती आधार-पंडितों को उस वृत्र में मानव रूप ही मिलता है।

ध्वनि का लोभ इतना है कि जहाँ जिस वैदिक संस्कृत या तमिल शब्द की ध्वनि का साम्य अन्यत्र मिलता है वहाँ सर्वत्र द्रविड़ या आर्य विधाता राज करने लगते हैं—कास्पियन सागर से नील नदी तक, तूरान से भूमध्यसागर और खत्तियों के तौरस पर्वत तक। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, असुर, दानव, दैत्य, देव, आर्य पहले 'टोटम' के विनानाभास से उठते हैं फिर सभी एक ही मूल दम्पति से प्रजनित-से दिखाई पड़ने लगते हैं और उनके सम्बन्ध के प्रमाण पढ़ते समय ज्ञान की इस विडम्बना पर रोना आ जाता है। यह भी भुला दिया जाता है कि साधारण तौर से सारी जातियों के पुराणों और सृष्टि (जेनेसिस) की पुस्तकों में अमैथुनी या एक ही दम्पति से उत्पन्न मानवता की कल्पना की गयी है। उससे स्वाभाविक ही है कि जातियाँ आपस में भाई-बन्द-सी लगें, पर उनको एक ही कर देना सर्वथा अवैज्ञानिक है। अनेक स्थलों में अनेक समयों में जातियाँ उठी हैं, बिखरी हैं, उनको सर्वत्र, द्रविड़ या आर्य मानना या उनकी सत्ता में रहने वाली सिद्ध करना आवश्यक नहीं।

अवैज्ञानिकता का एक ज्वलन्त उदाहरण इस पुस्तक के पृष्ठ ७५ पर पढ़िए—"सुवाहु, श्रीवह, सुरस तथा सुवल साइथियन्स (ज़रा उच्चारण पर गौर कीजिए !) की सु-जाति के थे। हिरण्यकश्यप तथा हिरण्याक्ष का नगर ही हिरण्यपुर था।...यह हाइरकेनिया नगर कैस्पियन समुद्र के पास था। मीडिया (भद्र—वह कैसे ?) के उत्तर का देश कैस्पी या कास्पियस था। अरियाना के उत्तर-पूर्व में दानवों का हिरण्यपुर था। सरमा कुक्कुरी कैस्पियन के उत्तर में रहने वाली सरमेशियन थी। शब्दों में भी साम्य है (वह गौण नहीं, वही तो प्रधान है !) कथाएँ : गज, कच्छप, सुपर्ण, आर्य्य, कश्यप, गरुड़। कैस्पियन—क्षार सागर—शीरवान सागर। अर्मीनिया—रमणियक द्वीप। अल्वानिया—अलम्व (एक साहव 'जर्मन' शब्द को शर्मन सिद्ध करते थे और जब उन्हें वताया गया कि जर्मन लोग अपने देश को जर्मन कभी नहीं कहते, ड्वायतश्लैण्ड कहते हैं, तब उन्हें तारे दीख गये !)। इस सव वस्तु-दृश्य का स्थान अत्रोपेशियन, मीडिया, कैस्पियाना, अर्मीनिया, अल्वानिया हैं, अर्थात् ट्रान्स-काकेशियन रियासतें। गरुड़ असल में शाल्मली द्वीप (चैल्डिया) वासी था। उसका पिता कश्यप लोहित्य अथवा एरिथ्रियन समुद्र के उत्तर में तप करता था। कद्रू और कुर्द जाति में समानता है। क्या कश्यप की स्त्री इसी जाति की थी ? भविष्य पुराण में जिस मित्रावरुण का उल्लेख है, सम्भवतः वह मितन्नी ही है।"

इसी प्रकार आपने एक स्थल पर द्राविड़ (मातृ देवी) के प्रसंग में तमिल अम्मा और मिस्री अम्मन को एक ही देवता माना है—मातृ देवी। अपने आग्रह की धुन में यह भी खयाल न रहा कि मिस्री अम्मन देवी नहीं देव है, पुरुष और रा के साथ आमेनरा के साथ वह देवाधिदेव, देवताओं का राजा है। फिर शुद्ध शब्द आमेन है, जिससे आमीन् वनता है।

यह जैसे भगवान जैमिनि कादम्वरी में ऋषियों के सामने वैशम्पायन का जीवन-वृक्ष भेद उसका रहस्य खोलते जा रहे हैं। 'था', 'थी', 'थे', 'ही' कह देने से कुछ प्रमाणित नहीं होता। सामग्री अपने-आप प्रमाण वनती चली आती है। यह तो सारा-का-सारा कटेगरी (फ़ैलसी) है और इसी प्रकार के वक्तव्यों से समूचे ग्रन्थ का कलेवर वना है। त्रुटियों से ही उसकी काया सिरजी गयी है और उनकी सविस्तार व्याख्या की जाय तो इस पुस्तक पर वीस पुस्तकें लिखने की आवश्यकता पड़े। अध्याय-के-अध्याय पुराणों की तालिकाओं से, उनकी अधकचरी सामग्री से, अन्य ग्रन्थों के माध्यम से, व्यर्थ भर दिये गये हैं। लेखक के भाग्य से पार्जिटर, प्रधान और पंचानन मित्त का उससे पहले हो जाना उसके इस कार्य में सहायक हो गया है। अनेक ग्रन्थ, लगता है जैसे प्रायः समूचे, इसमें समाये हुए हैं। वैदिक-इंडेक्स, असुर इण्डिया, ऋग्वैदिक कल्चर और ऋग्वैदिक

इण्डिया, ओरिजिन एण्ड स्प्रेड ऑफ द तमिल्स, एपिक मियालॉजी, यलाज आदि अन्य अनेक सर्वथा अवैज्ञानिक पुस्तकों के अवतरणों के साथ इनके सैंकड़ों-सैंकड़ों पृष्ठों में विराजमान हैं। इनमें केवल वैदिक-इंडेक्स और यलाज काम के हो सकते थे यदि उनका उपयोग पूर्वाग्रहपूर्वक न किया गया होता।

यहाँ तक कि उद्धरण लेते समय जो उन्हें पचाया तक नहीं गया है तो भाषा भी दूषित हो गयी है; उसके प्रत्यय आदि में भी अंग्रेजियत घुस आयी है। उदाहरणार्थ—पैलियोलिथिक, स्टेज, नियोलिथिक, हबशी तत्त्व (एलिमेण्ट का अनुवाद, 'अंग' के स्थान में), अफ्रीकन, आस्ट्रेलियन, आस्ट्रो-एशियाटिक, आस्ट्रो-पोलिनीशियन, तिब्बतो-बर्मन, ग्रुप, ट्राइब, सेमेटिक (सामी), हेमेटिक (हामी), सिमाइट्स (बहुवचन तक अंग्रेजी द्वारा ही बनते हैं), हिमाइट्स, पैलस्टाइन, फ़िनीशियन, हिब्रू (इब्रानी), मीरियन, अमीरियन, चैल्डिया (ग़लत उच्चारण में—शुद्ध, ग्रीकों का, खल्दिया=खल्द), चैल्डियन, एरिड (ड का उच्चारण वे नहीं करते थे, द करते थे), तुरानी-प्रोटो-मीडीज, कम्बोडिया, सोलोमन, जरथुस्त्र, हित्ताइत (स्वयं वे अपने को खत्ती कहते थे, दूसरे हत्ती, पर हमारा अंग्रेजी अन्धकार उन्हें हित्ताइत कहेगा!), बैबिलोनिया, सुमेरियन, अक्काड़, मेसोपोटामिया, लैटिन, पोलिनेशियोन्मुख, इथियोपियन, अबीसीनियन, (गोया अन्तिम दोनों दो हैं!), लेबियन। स्थानाभाव से यहाँ केवल थोड़े से शब्द दिये गये हैं। इनकी हिन्दी हो सकती थी और हिन्दी इनकी है, जिनका प्रयोग भी हिन्दी में होने लगा है।

यह कहना कि—"पैसिफ़िक (प्रशान्त?) महासागर में भारतीयों की समुद्र यात्रा तथा अमेरिका तक जाना कोलम्बस से बहुत पूर्व आर्य्य-द्रविड़-पूर्व जातियों में प्रचलित था। बाद में ये जातियाँ मिल गईं। जब प्रशान्त महासागर (कहीं 'पैसिफ़िक' कहीं 'प्रशान्त' का प्रयोग!) के द्वीपों में यूरोपवासी पहले-पहल गये तब वहाँ के निवासियों ने उन्हें बताया था कि वे सदियों पहले मलाया द्वीप-समूह तथा एशिया की ओर से आए थे (पृष्ठ ४५)"—नितान्त निरर्थक है। पहले तो यह बिलकुल असम्भव है कि उन जातियों को किसी मलाया द्वीप-समूह का ज्ञान भी रहा हो, फिर उनके (यदि उन्होंने ऐसा कहा भी हो) ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं। यह वैसे ही होगा जैसे आजकल कोई भारतीय उत्तर की ओर हाथ उठाकर कहे कि हमारे पूर्वज उधर से आए थे। यह किसी प्रकार अपने-आपमें प्रमाण नहीं हो सकता।

खोपड़ी की बनावट अथवा उसके नाप के आधार पर कुछ भी निर्धारित नहीं किया जा सकता। डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त ने अपने 'हिन्दू सोशल पालिटी' में इसे स्पष्ट कर दिया है। नृशास्त्री इसे अब अत्यन्त गौण और कमजोर प्रमाण मानने लगे हैं। दीक्षितार-सरीखे लेखक ही अपने पूर्वाग्रह सिद्ध करने के लिए

इसे प्रमाण रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं !

अहुरमज़्द को सारे ईरानी पण्डित असुरमहान् मानते हैं। हमारे लेखक ने उसे 'असुरमय' माना है (पृष्ठ ७६)। इसी प्रकार मिस्र के राजा मेनेस, अत्तिथॉस और केनकेनीज़ भारत के क्रमशः मनु, इक्ष्वाकु और कुकच हो गये (पृष्ठ १३८) हैं। यदि हमारे लेखक या उसके इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली के अवलम्ब-लेखक को मूल मिस्री का ज्ञान होता तो यह ध्वनिसाम्य द्वारा गलत 'इक्वेशन' प्रस्तुत करने का भी साहस उन्हें न होता। खैर, उन्हें जानना चाहिए कि ये नाम पिछले काल की ग्रीक तालिका 'मानेथो' से लिये गये हैं। उसके मूलाधार मिस्री तालिका में ये नाम इस प्रकार हैं—मेना, अतेती (मानेथो का अथोथिस—रांगेय राघव का गलत अत्तिथॉस—ऐतिहासिक आहा—है किसी प्रकार अतेती, आहा या अथोथिस से इक्ष्वाकु बनने की सम्भावना ?) और खेन्त (तेता अथवा अतेता या अतेती—रांगेय राघव का कुकच)। कहना न होगा कि इस प्रकार की लालबुझक्कड़ी से इतिहास नहीं बनता। उसके निर्माण के समय मन की इच्छा को अलग रख नियमित सत्य को अपनाना पड़ता है। साधना उसके लिए परमावश्यक है। सीमाओं को समझकर ही विषय चुनना उचित है, वरना दलदल में फँसना होता है।

'परिशिष्ट ३' पर जुलाई १६४६ की जनवरी में छपे प्रभाकर माचवे के 'भारतीय संस्कृति पर सुमेरियन संस्कृति का प्रभाव' नामक एक लेख का विस्तृत हवाला दिया गया है। पहले-पहल हिन्दी में सन् '१६ से एकाध साल पहले ही प्रतीक' में इस सम्बन्ध का मेरा सविस्तर लेख 'संस्कृतियों का अन्तरावलंबन' निकला। (वैसे बाद में भी कल्पना और स्वयं जनवाणी में मिस्री-बाबुली साहित्य-सम्बन्धी मेरे लेख—जो हिन्दी भाषा में पहले थे—प्रकाशित हुए। 'प्रतीक' में रांगेय राघव लिखते रहे थे। कोई कारण नहीं कि मेरा लेख उन्होंने पढ़ा न हो। पर उसे साफ़ दरकिनार कर उन्होंने माचवे के इस 'अनुवाद' का हवाला देना अधिक प्रामाणिक समझा! उनको शायद यह पता भी नहीं कि माचवे का वह लेख एक मराठी लेखक का अनुवाद-मात्र है। सन् '४६ की बात है जब मैं शिकागो विश्वविद्यालय की पट्टिकाओं को भारतीय इतिहास और परम्परा की दृष्टि से पढ़ने (मध्यपूर्व की खुदाइयों के डायरेक्टर क्रीलिंग के निमंत्रण पर, जिनके साथ मध्य-पूर्व की खुदाइयों में मैं शामिल भी था) अमेरिका जा रहा था तब मेरे प्रतीक वाले लेख को पढ़कर मराठी पत्रिका में छपा वह लेख माचवे ने मेरे पास भेजा जिसे मैंने उन्हें यह कहकर लौटा दिया था कि मैं मराठी नहीं जानता। प्रगट है कि वही लेख जनवाणी में उनका मूलाधार बना। यह कार्य —जिसके ऊपर निर्भर करना उसका उल्लेखन करना—रांगेय राघव के स्वभावानुकूल ही है। मेरे प्राचीन कहानी-संग्रह 'सवेरा' की कहानी 'विध्वंस के

पूर्व' ने उठाकर मेरे दो चरित्रों 'नर्तकी' और 'योगिराज' का अपने 'मुर्दों का टीला' में नंगा उपयोग उसका प्रमाण है। उपन्यास की भूमिका में मेरे कहानी-संग्रह का उल्लेख कुरुचिपूर्ण है।

जहाँ पुस्तक में इतनी तालिकाएं और परिशिष्ट आदि दिये हैं वहाँ अन्त में एक नाम परिशिष्ट या इन्डेक्स जोड़ देना अनुचित न हुआ होता। इन्डेक्स से ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ जाती है, विशेषकर इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थ की।

अस्तु ! इन कुछेक पृष्ठों में मैंने 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' का स्पर्शमात्र किया है। सारा ग्रन्थ असम्भव निष्कर्षों का घटाटोप है जिसकी सविस्तर आलोचना केवल समय और स्याही नष्ट करेगी, उससे विज्ञान को विशेष लाभ न होगा; क्योंकि वैज्ञानिक पंडित तो पुस्तक को उलटते ही उसका तथ्य जान उसे त्याग देगा और दीक्षितार की पुस्तक की भांति उसकी नज़रों में यह भी उपेक्षित हो जाएगी। पर श्रद्धालु पाठकों के लिए, जिनके समीप ग्रन्थ के आकार, शब्द के बाहुल्य और लेखक के साहस का महत्त्व अधिक होता है, इतना भी लिखना अनिवार्य हो गया। इसी कारण यह किंचित् लम्बी और आलोच्य ग्रन्थ के त्रुटिप्राण-त्रुट्यावयव वृहदाकार कलेवर को स्पर्शमात्र करती आलोचना।

१८

पाटलिपुत्र की कथा

प्रस्तुत पुस्तक 'पाटलिपुत्र की कथा' या मागध साम्राज्य का उत्थान और पतन—श्री सत्यकेतु विद्यालंकार की आधुनिक कृति है, जिसके प्रकाशन का श्रेय प्रसिद्ध हिन्दुस्तानी एकेडमी नाम की शोध-संस्था को है। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' के लेखक के रूप में जाने हुए विद्वान् हैं। इतिहास के क्षेत्र में उनकी और भी कुछ कृतियाँ इधर-उधर देखने में आई हैं। वैसे भी वे पेरिस के डी० लिट् हैं और साधारणतः यह आशा की जा सकती है कि उनके द्वारा प्रणीत इतिहास का ऐतिह्य उपेक्षणीय न होगा और उनकी शैली वैज्ञानिक होगी। परन्तु अभाग्यवश ऐसा कुछ नहीं है और प्रस्तुत ग्रन्थ जितना ही लेखक की ऐतिहासिक समीक्षा पर व्यंग्य है उतना ही ऐकेडमी के प्रकाशन पर भी एक बड़ा धव्वा है। मुझे इस पुस्तक को पढ़कर अत्यन्त निराशा हुई, ग्रन्थकार के अवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उतनी ही जितनी एकेडमी के इस असुन्दर प्रकाशन से। जीवन में मैंने शायद इतनी असुन्दर और भौंडी पुस्तक नहीं देखी। कागज़ इतना खराव है कि लगता है कि एकेडमी ने विशेष यत्न से इसको प्राप्त किया होगा। छपाई इतनी बुरी है कि उसके लिए भी सम्भवतः उसे प्रेस के सम्बन्ध में विशेष चिन्तन करना पड़ा हो, और इनसे ऊपर जो ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है वह नितान्त अग्राह्य है।

सात सौ से ऊपर पृष्ठों में यह 'पाटलिपुत्र की कथा' सम्पन्न हुई है। इतिहासकार स्वभावतः इस पुस्तक में इतिहास खोजेगा परन्तु वस्तुतः यह 'कथा' ही है, पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में लिखा एक विशद पुराण। 'पुराण' शब्द का व्यवहार मैं जान-बूझकर कर रहा हूँ। पुराणों में जिन प्रसंगों का वर्णन है उनकी व्याप्ति अनन्त है। और इसी कारण उन्हें कुछ विद्वानों ने उचित ही विश्व-कोष (एनसाइक्लोपीडिया) की संज्ञा दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी इसी अर्थ में पुराण है और इसमें पाटलिपुत्र की कथा के प्रसंग में प्रायः जो कुछ जाना हुआ है वह सारा दे दिया गया है—महाभारत-काल के वार्हद्रथ राज-कुल से

लेकर असहयोग-आन्दोलन तक सब-कुछ। और इस प्रसंग के सम्बन्ध में ग्रन्थकार आलोचना की दिशा में सर्वथा उदासीन है। उसे ऐतिहासिक-अनैतिहासिक, प्रासंगिक-अप्रासंगिक, यथातथ्य-अतिशयोक्ति, सत्य-मिथ्या आदि के द्वन्द्व कभी उद्वेलित नहीं करते। जिस प्रकार चूहे के बिल में सब तरह का अन्न मिल जाता है उसी प्रकार इस पुस्तक में भी सब प्रकार की कथाएँ संकलित हैं। ग्रन्थ के कलेवर को फुलाने में ग्रन्थकार विशेष अनुरक्त दीखता है। विशुद्ध ऐतिहासिक परम्परा में यह ग्रन्थ लिखा गया होता तो निश्चय ही किसी भी स्थिति में इसका आकार सौ पृष्ठों से अधिक न होता और तब पाटलिपुत्र की कहानी भी हमारे नेत्रों के सामने मूर्तिमान हो उठती। लेखक ने पाटलिपुत्र के चारों ओर दूर तक एक ऐसा जंगल खड़ा कर दिया है कि उस महाकान्तार में स्वयं पाटलिपुत्र सर्वथा खो गया है। हम इस ग्रन्थ में सब-कुछ ऐसा पढ़ते हैं जो अन्य प्रसंगों में ज्ञातव्य होता, परन्तु पटना की कहानी के रूप में तो वह केवल रस-भंग उत्पन्न करता है।

मैं नहीं जानता एकेडमी के वर्तमान कर्णधारों का मन्तव्य इस ग्रन्थ के प्रकाशन में क्या रहा है, परन्तु इस सीरीज के मूल प्रवर्तक दिवंगत श्री राय राजेश्वर बली ने जब मुझसे इस विषय की चर्चा की थी तब उनकी भावना स्पष्ट जनता को 'पटना की कहानी' देने की थी। उनका सही विचार था कि गंगा, यमुना, सिन्धु, गोदावरी आदि नदियों की घाटी से और पाटलिपुत्र आदि नगरों के सम्पर्क से भारत में जिन सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास हुआ है वह सरल जीवित और ज्वलन्त कहानी के रूप में जनता के हाथ में रख दी जाय, जिससे वह अपने अतीत के मूर्तिमान स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके। इसीसे उन्होंने इसका नाम भी 'पटना की कहानी' रखना चाहा था। प्रस्तुत ग्रन्थ में पटना की कहानी तो खो गई है, हाँ मगध की कहानी और बृहत्तर भारत का एक रूप जरूर खड़ा कर दिया गया है जिसमें कौटिलीय अर्थशास्त्र, इण्डिका, कथा-सरित्सागर, मुद्राराक्षस आदि का विस्तार भरा पड़ा है और इनके संग्रह में ग्रन्थकार कहीं भी ऐतिहासिक आलोचना, मूल्यांकन अथवा नाप-तोल की आवश्यकता नहीं समझता। जो-कुछ उसने मौर्य-साम्राज्य के इतिहास आदि के सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा है वह सारा इसमें उतर आया है। कथा केवल पाटलिपुत्र की नहीं, मगध की नहीं, भारत की नहीं, बृहत्तर भारत के आदर्श की है।

पाटलिपुत्र भारतीय साम्राज्यों का अनेक बार केन्द्र बना था और उसका इतिहास लिखते समय मगध के साम्राज्य-विस्तार अथवा उसकी शासन-प्रणाली, उसकी रीति-नीति पर कुछ अंश तक प्रकाश डालना अनिवार्य और प्रासंगिक हो ही जायगा। परन्तु निश्चय ही इसी से गौण को प्रधान मान लेना ऐतिहासिक

दृष्टिकोण की भयानक विडम्बना है। प्रस्तुत ग्रन्थ भ्रान्ति-मूलक है, अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक है।

ग्रन्थकार की शैली इस सम्बन्ध में यह है कि वह मौर्यों का सम्बन्ध पाटलिपुत्र से दिखाकर मौर्यों आदि का इतिहास वैयक्तिक राजाओं के घटना-वृत्त के रूप में, उनकी शासन-प्रणाली और प्रासंगिक-अप्रासंगिक सभी अनुवृत्तों को, कथा में भर देता है। प्रमाणतः यदि किसी कारण अशोक के राज्य-विस्तार का वर्णन पाटलिपुत्र की कथा के प्रसंग में आवश्यक समझा जाय तो नहीं समझ पड़ता कि उसके शिला-लेखों आदि का विवरण और सविस्तर अध्ययन, उसके सम्बन्ध की पौराणिक बौद्ध ख्यातों और दन्त-कथाओं का वर्णन, बौद्ध-संगीति द्वारा भेजे धर्म-प्रचारकों का विदेशों में सविस्तर उल्लेख, साथ ही शुङ्गकालीन साँची, भारहुत आदि की मूर्ति-कला अथवा अजन्ता की चित्र-कला किस प्रकार पाटलिपुत्र की कथा का अन्तरंग बन सकती हैं। अजन्ता की कला गुप्तों की समकालीन हो सकती है, और अधिकतर है भी, परन्तु कितनी भी बुद्धि-विस्तार से क्या यह कहा जा सकता है कि वाकाटकों और चालुक्यों के उस संरक्षण में गुप्त-कला की भी प्रेरणा थी? क्या उत्तर भारत में अजन्ता की भाँति भित्ति-चित्रों के अवशेष हैं और क्या बाघ की गुफाओं के भित्ति-चित्र अजन्ता से अनुप्राणित न होकर अजन्ता के चित्राचार्यों को प्रेरणा देते हैं? पुस्तक इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक अप्रासंगिक तत्त्वों से भरी है। उदाहरणार्थ कुछ प्रसंग और लें।

पाटलिपुत्र का निर्माण उदायीभद्र ने कराया और वस्तुतः उसकी कथा का आरम्भ उसी प्रसंग से होना चाहिए था। तब आरम्भ के प्रायः सौ पृष्ठ अनावश्यक हो जाते। उदायी से पहले के इतिहास पर केवल कुछ अनुच्छेदों द्वारा प्रकाश डाला जा सकता था और महाभारत-काल से अजातशत्रु तक के साम्राज्यों और राजकुलों के वर्णन की आवश्यकता न होती। इसी प्रकार सोलह महा जनपदों का सविस्तर व्याख्यान, जैन और बौद्ध धर्मों की शिक्षाएँ तथा उनके प्रवर्तकों के निःशेष जीवन का उल्लेख, वृहत्तर भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार का इतिहास, मौर्यकालीन जगत् की कलाकृतियों का वर्णन, 'अर्थशास्त्र' का ग्रन्थगत वृहत् संस्करण, जिसका विस्तार तीन-तीन अध्यायों तक है, नितान्त अनावश्यक था। ऐसे ही आन्ध्र-सातवाहनों, भार शिव नागों और वाकाटकों का विस्तृत वंश-परिचय, गणराज्यों का विशद उल्लेख, वृहत्तर भारत का विकास, गुप्तकाल की बहिरंग स्थिति आदि अप्रासंगिक विषयों की विवेचना भी निरर्थक हुई है। वस्तुतः पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ पर ऐतिहासिक तर्क-सम्मत दृष्टिकोण की कमी और अप्रासंगिक विषयों की खिचड़ी लक्षित होती है। इतिहास में जिन प्रसंगों का उल्लेख किसी प्रकार भी क्षम्य न होगा उनका बाहुल्य

पाठक की आँखों में खटकने लगता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और यह है कि लेखक ने सम्भवतः पाटलिपुत्र की कथा हिन्दू-काल के अन्त तक ही सीमित रखनी चाही थी। और इसी कारण उसने पृष्ठ १३१ पर ग्रंथ का 'उपसंहार' भी लिख डाला। इसी से सम्भवतः व्याख्या रूप में उसने ग्रंथ का वैकल्पिक नाम 'मगध साम्राज्य का उत्थान और पतन' भी रखा है। इस नामकरण का प्रभाव ग्रंथकार की लेखनी पर कुछ कम नहीं हुआ। वस्तुतः इसी से प्रस्तुत हिन्दू दृष्टिकोण से लिखा गया मगध के साम्राज्यों की एक अवैज्ञानिक प्रशस्ति बन गया है। यही कारण है कि हिन्दू काल के बाद का साढ़े सात-सौ वर्षों का अद्यावधि पाटलिपुत्र का इतिहास सर्वथा उपेक्षणीय और अक्षम्य हो गया है। १३२ पृष्ठों के विरोध में ७८ पृष्ठों में पटना की यह अटूट कहानी फिर भी ग्रंथकार के अज्ञान अथवा जल्दबाजी से अपेक्षाकृत सुन्दर बन पड़ी है।

कुछ ऐतिहासिक भ्रान्तियों पर भी यहाँ एक नजर डालना शायद बेजा न हो। पृष्ठ ६ पर ग्रंथकार ने बृहदारण्यक उपनिषद् के विदेहराज जनक और राम के श्वसुर सीरध्वज जनक को एक मान लिया है जिससे एक कालक्रम-दूषण उपस्थित हो गया है। विदेहों की अध्यात्म परम्परा उपनिषत्काल में उठी, महाभारत के प्रायः दो सौ वर्ष बाद। पृष्ठ २६ पर जरासन्ध के बाद के बाईस राजाओं के शासन-काल का कुल योग १४० वर्ष बताते हुए ग्रन्थकार यह सर्वथा भूल गया है कि संसार के इतिहास के प्रतिकूल ४६ वर्षों के शासन-काल का वैयक्तिक औसत सर्वथा अग्राह्य होगा। शासन-काल तो अलग रहा, एक कुल के पुरुषों के जीवन-काल का औसत भी २० वर्ष से अधिक नहीं रखा जाता, राज्य-काल की अवधि और भी कम मानी जाती है, प्रायः १५ वर्ष। पृष्ठ ४२ पर राज-गृह को वज्जियों के आक्रमणों से बचाने का जो लेख है वह गलत है, क्योंकि उसके प्राचीरों का निर्माण वज्जियों के विरोध में नहीं बल्कि अवन्ति के चन्द्र प्रद्योत महासेन से रक्षा के लिए हुआ था। वज्जियों से लोहा लेने के लिए पाटलि-दुर्ग का निर्माण गंगा और शोण के कोण में हुआ था। पृष्ठ ४७ पर प्रसेनजित् को विद्वान् लेखक अजातशत्रु का 'नाना' लिखता है, जो गलत है। अजातशत्रु की विमाता कोशलदेवी प्रसेनजित् की कन्या नहीं बहन थी, और निश्चय ही प्रसेनजित् की जिस कन्या वजिरा से अजातशत्रु ने विवाह किया वह उसकी विमाता कोशलदेवी की बहन न थी; भतीजी थी। पृष्ठ ६२ पर लेखक ने महापद्मानन्द को गोदावरी के प्रदेश मे स्थित अश्मक महाजनपद का स्वामी माना है जो स्वीकार नहीं किया जा सकता। पृष्ठ ६७ पर विद्वान् ग्रन्थकार ने प्राचीन आर्यों को एक ईश्वर का उपासक माना है, यह सर्वथा असत्य है और इसकी असत्यता उस पर सहज ही प्रकट हो जायगी जो ऋग्वेद को

उलट-मान लेगा। उसी सिलसिले में ग्रन्थकार अपनी धारणा व्यक्त करता है कि पहले यज्ञ हिंसा-रहित होते थे। बाद में पशु-हिंसा से युक्त हुए। यह अन्थ्रोपालोजी (नृ-शास्त्र) और एथनालोजी के सारे सिद्धान्तों के विरुद्ध है। सर्वत्र मानव जाति में मानव और पशु-हिंसा-युक्त यज्ञों का प्रारम्भ में प्राधान्य हुआ, जो धीरे-धीरे हिंसा-वृत्ति से विलग कर लिये गए। ग्रन्थकार का दृष्टि-कोण प्रमाणतः दयानन्दी है। पृष्ठ १०६ पर सिकन्दर को ग्रीक राज्यों का विजेता कहा गया है, जो गलत है। उनका विजेता सिकन्दर का पिता फिलिप था। अगले पृष्ठ पर लेखक लिखता है कि कठ, क्षुद्रक, मालव आदि को जीतने के बाद सिकन्दर व्यास नदी के किनारे आ पहुँचा। यह भी गलत है, क्योंकि क्षुद्रक और मालव गणों से सिकन्दर का मुकाबला व्यास नदी के तट से लौटने के बाद हुआ था। कम्बोज को विद्वान् लेखकों ने पामीरों के उत्तर में बदख्शाँ माना है और उसे, जैसा पृ० ११६ पर और अन्यत्र लिखा है मौर्यों की शासन-सीमा में रखा है। वह इस बात को भूल जाता है कि बदख्शाँ और पामीरों की वह उपत्यका प्राचीन बाख्त्री है, ग्रीकों की प्रसिद्ध बैक्ट्रिया, जिस आधार से दिमित आदि ग्रीक राजाओं ने भारत पर पाटलिपुत्र तक आक्रमण किया था। यह भू-भाग कभी मौर्यों के अधिकार में आना तो दूर रहा, अशोक के शासन-काल में सीरिया का एक प्रान्त था जो पार्थिया के साथ उससे विद्रोह करके स्वतन्त्र हो गया। कम्बोज कम-से-कम मौर्य-काल में बदख्शाँ का नाम न था, यद्यपि उसकी स्थिति काश्मीर के प्रायः ठीक उत्तर में थी। इसी प्रकार पृष्ठ १२१ में मदुरा का बिन्दुसार के शासन में होना गलत है। पृष्ठ १६६ पर चन्द्रगुप्त मौर्य-सम्बन्धी (भद्रबाहु के साथ) श्रावणबेलगोला को अभिनिष्क्रमण ग्रन्थकार सम्प्रतिका बताता है। पृष्ठ २०४ पर ग्रन्थकार शालिशुक के शासन-काल में पाटलिपुत्र पर यवनों का आक्रमण मानकर भी उनका नेतृत्व डेमेट्रियस से भिन्न करता है जिसका नतीजा यह होता है कि वह सर्वथा भ्रम के गर्त में गिर जाता है। एक ओर तो जैसा उसके अन्यत्र के उल्लेख से सिद्ध है (पृष्ठ ३२६) वह डेमेट्रियस को पुष्यमित्र का आक्रान्ता नहीं मानता, साथ ही खारवेल को उसका विजेता मानता है। पर इस बात को वह भूल जाता है कि खारवेल के शिलालेख में दिमित का उल्लेख होने से डेमेट्रियस खारवेल का समकालीन हो जाता है और शालिशुक का विजेता होने से जहाँ वह शालिशुक और खारवेल का समकालीन है वहाँ पुष्यमित्र का नहीं हो सकता। वास्तव में खारवेल भी पुष्यमित्र का समकालीन या विजेता नहीं। कथा-सरित्सागर के आधार पर सातकर्णि को काश्मीर का राजा मान लेना (पृष्ठ ३४६) सभी ऐतिहासिक उसूलों के विरुद्ध है। और मगध के सातवाहनों का वर्णन करते हुए ग्रंथकार ने जो उनके मगध पर शासन की व्यवस्था दी है उस प्रसंग में वह भूल जाता है कि उनके कृष्णा-

गोदावरी-तटवर्ती-साम्राज्य और मगध के बीच शीघ्र शकों के दो प्रबल राजकुलों का पत्थर टूक गया। पृष्ठ ३२७ पर पतञ्जलि को विदिशा का निवासी बताना उन सारी प्राचीन अनुश्रुतियों और परम्पराओं के विरुद्ध है जो महाभाष्यकार को गोनर्द (उत्तर प्रदेश का गोंडा जिला) का निवासी घोषित करती हैं। वास्तव में इतिहास-सम्बन्धी इतनी भूलें इस ग्रंथ में हैं कि उनकी तालिका-मात्र एक नया ग्रन्थ प्रस्तुत कर देगी।

भाषा तो किसी प्रकार परिष्कृत नहीं कही जा सकती। आज दिन भी ग्रंथकार उन्नीसवीं सदी की ही भाषा का व्यवहार करता है। भाषा का यह चमत्कार पृष्ठ-पृष्ठ पर देखा जा सकता है। फिर विदेशी नामों के प्रयोग में भी उसे कमाल हासिल है। सारी दुनिया और प्राचीन ग्रीक तक 'मकदूनिया' बोलते-लिखते थे, पर हमारा लेखक उसे अंग्रेजी ढंग से मैसेडोनिया ही लिखेगा उनका 'एण्टियोकस द ग्रेट' प्रयोग तो बे-जोड़ है। भाषा फिर भी विषय और मुद्रण-परिष्कार आदि के अनुकूल ही है।

मैं फिर भी सन्तुष्ट होता यदि हिन्दुस्तानी एकेडमी का नाम इस पुस्तक के साथ संयुक्त न होता। ऐसी पुस्तकों से इतिहास और हिन्दी का कलेवर न सजे तो अच्छा हो।

● ●